साहित्य संदेश

मार्च १९४५

वर्ष ६ अङ्क १२

हिन्दी का एक-मात्र

आलोचना प्रधान मासिक

वार्षिक मूल्य ३)

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

संचालक

महेन्द्र

विषय-सूची

भाग ६] आगरा, मार्च १९४५ [अङ्क १२

'काव्य मीमांसा' और समीक्षा

श्री शिवनाथ एम०, ए०, साहित्यरत्न

(समीक्षा का विषय आधुनिक काल की उपज नहीं है। भारत में भी प्राचीन काल में साहित्य समीक्षा के सिद्धान्तों का विकास हुआ था वैसे तो अलङ्कार शास्त्र के सभी ग्रन्थ साहित्य समीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। उसी के आधार पर यह लेख लिखा गया है। इसमें समीक्षा के उद्देश्यों, समीक्षकों के भेदों और प्रतिभा अर्थात् जो किसी अंश में आजकल की कल्पना से तादात्म्य रखती है की व्याख्या की गई है। राजशेखर के आधार पर ही डाक्टर गंगानाथ का कवि रहस्य हिन्दी में लिखा गया है। यह पुस्तक हिन्दी में है। इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए उस पुस्तक का अध्ययन लाभदायक होगा। —संपादक)

श्री राजशेखर (सन् ८८०-९२० ई०) कृत 'काव्य मीमांसा' संस्कृत का एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें काव्य विषयक अच्छी विवेचना है। ग्रंथकार ने जिस विवेचना पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है वह तुलनात्मक है, अतः उसमें श्री राजशेखर के काव्य सम्बन्धी मतों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मतों का भी सन्निवेश हुआ। इस प्रकार एक ही स्थान पर प्रायः अनेकों के मत दृष्टिगत हो जाते हैं। यद्यपि 'काव्य-मीमांसा' में काव्य की ही मीमांसा की गई है तथापि प्रसंगगत् कहीं-कहीं समीक्षा और समीक्षक की भी चर्चा आई है। परन्तु ग्रन्थकार का लक्ष्य यह नहीं है। समीक्षा और समीक्षक की चर्चा 'शास्त्रनिर्देश' शीर्षक दूसरे अध्याय और 'पदवाक्य विवेक' शीर्षक चौथे अध्याय में हुई है।

यहाँ इस तथ्य पर दृष्टि रखनी आवश्यक है कि प्राचीन तथा नवीन साहित्य शास्त्रियों का विवेचन मार्ग भिन्न-भिन्न है। हाँ, वे भिन्न मार्ग से चल कर प्रायः एक ही स्थान—एक ही लक्ष्य पर पहुँचे हुए अवश्य दिखाई पड़ते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि 'काव्य मीमांसा' में मीमांसित समीक्षा की विवेचना पद्धति नवीन विवेचना पद्धति से पृथक् है। इस विषय पर उसमें उस ढंग से विचार नहीं किया गया है जिस ढंग से हम आज करते हैं। परन्तु निष्कर्ष प्रायः वही निकाला जा सकता है जो हम समीक्षा के विषय में आज निकालते हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन तथा नवीन साहित्य-शास्त्र में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

'काव्य मीमांसा में समीक्षा की विवेचना इस प्रकार चलती है—

आशिष्य भाषणाद्भाष्यम् ।
अंतर्भाष्यं समीक्षा । अवांतरार्थ विच्छेदश्चसा ।

भाष्य का निर्माण भाषण के आक्षेप द्वारा होता। 'भाषण के आक्षेप' की बात स्पष्ट होनी चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाष्य की अपेक्षा सूत्र की- अत्यन्त संक्षेप में कही गई बात की स्पष्टता के लिए होती है। भाष्य का काम है, बन्द की गई बात को खोलना। इस बन्द की गई बात को खोलने के लिए भाषण या व्याख्यान का आक्षेप करना पड़ता है। आक्षेप का तात्पर्य है डालना फेंकना। यहाँ के प्रसंग के अनुसार इसका अर्थ है, स्थापना भाष्य में भाषण पर व्याख्यान की स्थापना सलक्ष्य होती है अर्थात् उसका वही लक्ष्य होता है जो लक्ष्य सूत्र का होता है। इस प्रकार भाष्य में सूत्र के लक्ष्य की वृत्ति होती है—व्याख्यान के माध्यम द्वारा भाष्य सूत्र की कुञ्जी है। भाष्य सूत्र की व्याप्ति को बढ़ाता है, उसके (सूत्र) लक्ष्य के अनुसार अनेक विवेचन, उदाहरण आदि को सामने लाकर पाणिनीय सूत्र पर पातंजल भाष्य को सामने रख लेने से बात स्पष्ट हो जायगी।

समीक्षा भाष्यांतः स्थित होती है। अन्तःस्थित से दो अर्थ लिए जा सकते हैं। इसका एक अर्थ तो यह है कि समीक्षा का निवेश भाष्य के बीच होता है, अर्थात् भाष्य के बीच में—भाष्य करते समय समीक्षा की स्थिति वा स्थापना होती है। यह इसका सामान्य अर्थ है। इसका दूसरा अर्थ यह लिया जा सकता है कि समीक्षा भाष्य का अन्तः पक्ष है, वह उसका हृदय है। अर्थात् भाष्य में समीक्षा का बड़ा महत्व है। इस प्रकार किसी रचना के भाष्य की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब उसकी समीक्षा की जाय, कारण कि समीक्षा भाष्य का हृदय है, उसका तत्त्व है।

अन्त में समीक्षा के स्वरूप की मीमांसा करते हुए यह कहा गया कि समीक्षा अवांतर अर्थ का विच्छेद करती है। अवांतर अर्थ का तात्पर्य उस अर्थ से है जो प्रधान अर्थ के बीच में वा साथ-साथ आने वा चलने वाला प्रासंगिक वा गौण अर्थ होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रासंगिक वा गौण अर्थ प्रधान अर्थ के सौंदर्य का वर्द्धक, पूरक और स्पष्टता धायक होता है। विच्छेद का अर्थ है—कल्पना, स्थापना। रचनाकार रचना प्रस्तुत कर के प्रधान अर्थ का निर्देश कर देता है, भाष्य करते समय उसके (भाष्य के) प्रधान अङ्ग समीक्षा में इस प्रधान अर्थ से संबद्ध प्रासंगिक अर्थों की कल्पना समीक्षाकार करता है। इस प्रकार समीक्षा में रचना कार द्वारा छोड़े गए अर्थ की निहिति होती है। आज भी समीक्षा करते समय रचनाकार द्वारा छोड़ी गई बातों की कल्पना वा स्थापन वा निर्देश करके हम यह दिखाना चाहते हैं कि यदि रचनाकार ने इस ओर भी ध्यान दिया होता तो रचना में विशेष सौन्दर्य, पूर्णता, और स्पष्टता की स्थापना हो गई होती। श्री राजशेखर द्वारा मीमांसित समीक्षा में प्रधानतः दो तत्वों की संनिहिति लक्षित होती है। एक तो विवेचना की, जिसके द्वारा अवांतर अर्थ की जानकारी होगी और दूसरे कल्पना और निर्देश (सजेशन) की, जिसके द्वारा त्रुटि व कमी के संशोधन वा पूर्ति का मार्ग मिलेगा। आधुनिक समीक्षा में भी इन तत्त्वों का समावेश है—इस ओर हमारी दृष्टि अवश्य रहनी चाहिए।

'काव्य मीमांसा' के 'पदवाक्यविवेक' नामक चौथे अध्याय में समीक्षक के विषय में मीमांसा की गई है। इसके द्वारा समीक्षा के नियम में भी अनेक बातें विदित होती हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिभा का स्वरूप और उसका प्रयोजन निर्धारित करने के पश्चात् उसे कारयित्री और भावयित्री दो प्रकार का माना गया है। प्रथम से कवि का उपकार होता है और द्वितीय से भावक, सहृदय व समीक्षक का—

याशब्द ग्राममर्थ सार्थमलंकार तंत्र मुक्ति मार्ग मन्दपि तथा विद्यमधि हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थ सार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतःपुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।......साचद्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुप कुर्वाण कारयित्री भावकस्योप, कुर्वाणा भावयित्री।

जो शब्द और अर्थ के समूह को, अलंकार नियम को कथन प्रणाली को तथा ऐसी ही अन्य बातों को हृदय में समु-

उद्भासित करती है वह प्रतिभा है। इस प्रकार प्रतिभा के स्वरूप के विषय में कहने के पश्चात् उसके प्रयोजन के विषय में यह कहा गया कि जो अप्रतिभ है, जो प्रतिभा सम्पन्न नहीं है, उसे प्रत्यक्ष वस्तुएँ भी अप्रत्यक्ष-सी लगती हैं और जो प्रतिभा सम्पन्न है उसको अप्रत्यक्ष वस्तुएँ भी प्रत्यक्ष सी जान पड़ती हैं। इसका कारण यह है कि उसके चर्मचक्षु का यदि उपयोग नहीं होता है तो भी मानस चक्षु द्वारा वह सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर लेता है। प्रतिभा पर की गई इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि यह एक शक्ति है और ऐसी शक्ति है जो स्वाभाविक वा सहज होकर ही उत्कृष्ट रूप का प्रदर्शन कर सकती है। जिस साहित्यकार में इस शक्ति की मात्रा जितनी ही अधिक होगी वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। अभ्यास तथा सतत् उपयोग आदि से इसे माँजा सँवारा अवश्य जा सकता है, परन्तु इसका स्वाभाविक होना आवश्यक है। साहित्यकार में इसका बीज होना ही चाहिए।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है, कारयित्री और भावयित्री? कारयित्री प्रतिभा का संबंध कवि से होता है। वह कवि की सहायिका होती है। इस प्रतिभा को रचयित्री प्रतिभा (क्रिएटिव फेकल्टी) भी कह सकते हैं। कारण यह है कि इसी प्रतिभा के द्वारा रचना का निर्माण होता है। रचना से तात्पर्य काव्य, कथा, नाटक और निबन्ध से है। समीक्षा इस प्रतिभा का परिणाम नहीं होती, क्योंकि समीक्षा में रचना का प्राधान्य नहीं होता, हाँ, वह रचना का आधार लेकर अवश्य चलती है। अभिप्राय यह कि समीक्षा का सम्बन्ध विशुद्ध रचना से नहीं है, अतः कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा का सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किया गया।

जो प्रतिभा भावक का उपकार व सहायता करती है उसे भावयित्री प्रतिभा कहते हैं। भाव का अर्थ है भाव वाला। प्राचीन भारतीय-साहित्य में इसी को सहृदय कहते हैं। यह भावक वा सहृदय ही आज का समीक्षक वा समालोचक है।

भावयित्री प्रतिभा के प्रयोजन और महत्व की मीमांसा इस प्रकार की गई है—

साहि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापार तरुः। अन्यथा सोऽव केशीस्यात्।

भावयित्री प्रतिभा ही अथवा उससे सम्पन्न समीक्षक ही कवि के रचनाकार्य के परिश्रम—उसकी (कवि की) कठिनाई—और उसके अभिप्राय वा भाव की समीक्षा वा पर्यालोचना करता है। भावयित्री प्रतिभा द्वारा ही कवि व्यापार रूपी वृक्ष अर्थात् काव्य फलित होता है—सार्थक होता है। अन्यथा वह निष्फल ही रह जाय। उसका मूल्य कुछ न रह जाय। इस मीमांसा द्वारा भावक का महत्व स्पष्ट हो गया होगा। वस्तुतः काव्य की सार्थकता इसी में है कि उसके मर्म को अवगत किया जाय और इस मर्म को अवगत करने तथा उसे उद्घाटित वा प्रकाशित करने की शक्ति समालोचक में होती है। अतः उसका महत्व किसी भी प्रकार कम स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

'काव्य मीमांसा' में आचार्यों का यह मत दिया गया है कि कवि और भावक में भेद क्या है (अर्थात् कोई भेद नहीं है) जबकि कवि समीक्षा करता है और समीक्षक कवि होता है—

कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकस्य कविः। इत्याचार्याः।

इसके उदाहरण में इस आशय का पद्य दिया गया है कि प्रतिभा के तारतम्य से संसार में अनेक प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक (सहृदय, विचारशील) कवि प्रायः निकृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं करता—

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥

कालिदास का कहना है कि बात ऐसी नहीं है—

"न" इति कालिदासः।

उपर्युक्त पद्य में भावक कवि शब्द के साथ आ जाने से भ्रम हुआ जान पड़ता है। परन्तु स्मरण यह रखना चाहिए कि यहाँ भावक का तात्पर्य समीक्षक नहीं है। यह

कवि के विशेषण के रूप में आया है। 'भावकस्तु कविः' सहृदय वा विचारशील कवि का अर्थ व्यक्त करता है।

स्वरूप और विषय दोनों की भिन्नता की दृष्टि से कवि और भावक का भेद स्पष्ट करते हुए कवित्व और भावकत्व की पृथकता की बात इस प्रकार कही गई है—

पृथमेव हि कवित्वाद्भावकत्वं भावकत्वाच्च कवित्वम्। स्वरूपभेदाद्विषय भेदाच्च।

कवित्व से भावकत्व भिन्न है और भावकत्व से कवित्व भिन्न है—दोनों के स्वरूप और विषय के भेद के कारण कवि का स्वरूप यह है कि वह रचना करता है। उसकी रचना स्वच्छन्द अर्थात् मौलिक होती है। भावक का स्वरूप यह है कि वह काव्य-शास्त्र के अध्ययन-मनन से सम्पन्न होकर कवि की रचना को हृदयङ्गम करता—कराता है अर्थात् उसका कर्म मौलिक नहीं है। उसकी मीमांसा-पद्धति में चाहे मौलिकता हो। इस प्रकार दोनों का स्वरूप-भेद स्पष्ट है। कवि का विषय शब्द और अर्थ है और समीक्षक का विषय शब्दार्थ की मीमांसा और रसास्वादन है। इस प्रकार संक्षेपतः दोनों के विषय की भिन्नता भी स्पष्ट हो जाती है।

समीक्षकों के प्रकार की विवेचना करते हुए श्रीराजशेखर ने आचार्य मंगल का मत उद्धृत किया है, जिसमें अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के समीक्षक माने गये हैं—

तेच द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च। इति मङ्गलः।

श्री राजशेखर का मत है कि इन समीक्षकों के अतिरिक्त दो प्रकार के समीक्षक और होते हैं और उनके नाम हैं मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी। इस प्रकार चार प्रकार के समीक्षक स्थिर होते हैं—

'चतुर्धा' इति मायावरीयः मत्सरिणस्तत्वाभिनिवेशिनश्च।

अरोचकी समीक्षकों की मीमांसा करते हुए श्री राजशेखर ने कहा है कि उनमें अरोचकता दो प्रकार की होती है, एक नैसर्गिक और दूसरी ज्ञानज। नैसर्गिक अरोचकिता अनेक उपाय करने पर भी उन्हें नहीं छोड़ती। अरोचकिता के ज्ञानज होने पर विशिष्ट रचना में उनकी रुचि होती है, अर्थात् उसको (विशिष्ट रचना को) ग्रहण करने के लिए उनमें रुचि वा प्रीति उत्पन्न होती है—

"अरोचकितादि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकीं हि संस्कार शतेनाऽपि वंगमिव कालिमा तेन जहति। ज्ञान योनौ तु तस्यां विशिष्ट ज्ञेयवति वचसिरोचिकिता वृत्तिरेव" इतिमायावरीयम्।

अरोचकिता वा अरुचि को एक प्रकार का रोग समझना चाहिए, जिसके उत्पन्न होने पर अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन की ओर भी वृत्ति नहीं जाती, अमृत भी विष-सा प्रतीत होता है। अरोचकी भावकों की अरोचकिता वा अरुचि भी ऐसी ही होती है। उन्हें श्रेष्ठ काव्य भी नहीं रुचता, उसकी ओर से उन में अरुचि रहती है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें अच्छाई भी बुराई के रूप में प्रतीत होती है। जो वस्तु न रुचेगी उसमें दोष का दर्शन स्वाभाविक है। जिन समीक्षकों को सर्वत्र दोष ही दोष दिखाई पड़ता है उन्हें हम इन्हीं भावकों की कोटि में रख सकते हैं। यह मीमांसा उन समीक्षकों के विषय में समझनी चाहिए जिनकी अरोचकिता स्वाभाविक है।

समीक्षकों में अरोचकिता ज्ञानज भी होती है। इसका अभिप्राय यह है कि अध्ययन मनन की किसी विशिष्ट प्रणाली के अनुसरण के कारण किसी विशिष्ट प्रकार वा प्रवृत्ति से मुक्त साहित्य की ओर से रुचि का हट जाना। इस प्रकार की अरोचकिता में रोचकिता वा रुचि के लिये गुञ्जायश रहती है। वह इस प्रकार कि अध्ययन-मनन से बनी रुचि के अनुसार उन्हें किसी न किसी प्रकार का साहित्य तो रुचेगा ही। अर्थात् उन्हें सभी प्रकार का साहित्य नहीं रुचता, किसी विशेष प्रकार का साहित्य रुचता है और उसी प्रकार का साहित्य रुचता है जो उनकी अध्ययन-मनन की रुचि वा उनके सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है। इस प्रकार के भावक ठेठ निर्णयात्मक आलोचना करने वाले समीक्षकों की कोटि में रखे जा सकते हैं, जो किसी सिद्धान्त का झगड़ा लेकर चलते हैं।

सतृणाभ्यवहारी भावकों की मीमांसा इस प्रकार की गई है—

किंच सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधरणी। तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्व प्रथमं सा। प्रतिभाविवेक विकलताहि न गुण गुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततोबहुत्यजति बहुचगृह्णाति।

जैसे अरोचकिता का सम्बन्ध भोजन से है वैसे ही सतृणाभ्यवहारिता का भी। सतृणाभ्यवहारिता तृण सहित खाने की क्रिया है। इसका तात्पर्य यह कि मधुर-अमधुर, भले-बुरे सभी को ग्रहण कर लेना, जो अविवेक का सूचक है। श्री राजशेखर का कथन है कि सतृणाभ्यवहारिता का सम्बन्ध सर्वसाधारण से है। सर्वसाधारण का तात्पर्य सभी नवसिखिए समीक्षकों से है जो रचना की चेष्टा करते हैं। पहलेपहल इनमें सतृणाभ्यवहारिता अवश्य पाई जाती है। सतृणाभ्यवहारिता गुण-दोष का निर्णय नहीं कर पाती, प्रतिभा के विचार की अनभिज्ञता के कारण। अतः बहुतों का त्याग और बहुतों का ग्रहण कर लेती है, गुणों का त्याग और अवगुणों का ग्रहण कर लेती है। सतृणाभ्यवहारी भावकों के लिए तो संभवतः समीक्षा के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। जिसे गुण-दोष का विवेक नहीं वह समीक्षा क्या करेगा। परन्तु साहित्य के सौभाग्य से ऐसे भी समीक्षक कभी-कभी होते ही हैं।

दूसरे के गुणों के प्रति मत्सर वृत्ति के कारण मत्सरी भावकों को दिखाई पड़ते हुए भी नहीं दिखाई पड़ता—

मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं परगुणेषुवाचं यमत्वात्।

मत्सर का तात्पर्य ही है दूसरे के गुणों के प्रति द्वेष। सतृणाभ्यवहारी समीक्षकों की भाँति मत्सरी समीक्षकों को भी समीक्षा के क्षेत्र में कोई स्थान स्थापित करना उचित नहीं प्रतीत होता। जिस व्यक्ति को दूसरे के गुणों के प्रति द्वेष होगा वह किसी के गुणों को क्यों देखेगा, वह तो गुण को भी द्वेष के रूप में देखेगा; और ऐसी स्थिति में समीक्षा को कलंकित करने के अतिरिक्त वह और कुछ न कर सकेगा। उसके द्वारा की गई समीक्षा, समीक्षा की कोटि की अधिकारिणी ही न होगी। कहना न होगा कि गुणों को भी दोष के रूप में देखने वाले समीक्षक आज भी मिलते हैं।

यहाँ एक बात समझ रखनी चाहिए। वह यह कि मत्सरी समीक्षक में भावयित्री प्रतिभा की संस्थिति संभव है। वह साहित्य का ज्ञाता हो सकता है और गुण तथा दोष दोनों से अभिज्ञ भी हो सकता है, परन्तु उसका कलंक यह है कि वह मत्सरता के कारण केवल पर-दोष-दर्शी ही होता है। श्री राजशेखर का कथन है कि अमत्सरी समीक्षक विरले ही होते हैं—

सपुनरमत्सरीज्ञाता च विरलः।

जैसा कि इस पद्य में कहा गया है—

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारंस्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्नर्निमत्सरः।

ऐसा समीक्षक, जो कवि के गुणों से सम्पन्न होकर कवि की सुविधा-असुविधा को जानकर, गुण-दोष के तत्त्व की सम्यक् विवेचना करता है, इस संसार में तो नहीं होता; और यदि संयोग से होता भी है तो निर्मत्सर नहीं होता। इसके द्वारा निर्मत्सरी समीक्षकों की विरलता तो विदित ही होती है, साथ ही यह भी विदित होता है कि उस समय के समीक्षकों की अवस्था कुछ-कुछ ऐसी ही रही होगी। हम जानते हैं कि संस्कृत की समीक्षा खंडनात्मक-मंडनात्मक है। खंडनात्मकता का ही उसमें प्राधान्य है। कारण यह था कि सभी आचार्य अपना एक अलग मत स्थापित करने के प्रयत्न में रहते थे। ऐसी स्थिति में दूसरे के मतों का खंडन करना उनके लिए आवश्यक हो जाता था। ऊपर हमने कहा है कि आज भी ऐसे समीक्षक मिलते हैं। परन्तु इनकी अति विरलता अवश्य है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में समीक्षा पद्धति में आशातीत विकास की संस्थिति हुई है।

तत्त्वाभिनिवेशी भावक सहस्रों भावकों के मध्य एक होता है, ऐसे भावक के स्वरूप की मीमांसा भी श्री राजशेखर ने की है—

तत्त्वाभिनिवेशीतु मध्ये सहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्
"शब्दानां विविनक्ति गुंफनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सांद्रंलेढि रसामृत विचिनुते तात्पर्य मुद्रांचयः
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादंतमुखं ताम्यताम्
केषामेव कदाचि देव सुधियां काव्या श्रमसोजनः।"

जो मानव शब्द-योजना की प्रणाली की विवेचना करता है अर्थात् जो भावक रचनाकार ने जिस ढंग से शब्द-योजना की है उसमें क्या दोष है और क्या गुण है, तथा जहाँ दोष है वहाँ गुण किस प्रकार की योजना प्रणाली द्वारा आ जाता आदि बातों की विवेचना करता है। जो भावक रचनाकार की सूक्ति पर प्रसन्न होता है। अभिप्राय यह कि तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक मत्सरी प्रवृत्ति का नहीं होता। वह दोष में दोष और गुण में गुण का दर्शन करता है। जो समीक्षक रसास्वादन करता है। जो समीक्षक तात्पर्य की मुद्रा को ढूढ़ता है। इसका अभिप्राय यह कि रचनाकार ने यदि किसी विशिष्ट प्रकार की शब्द-योजना या भाव-योजना का उपयोग किया है तो क्यों किया है और जिस विशिष्ट प्रकार की योजना का उपयोग उसने किया है उसका तात्पर्य क्या है, इन बातों की विवेचना जो भावक करता है। भावक के इस स्वरूप द्वारा रचनाकार के प्रति समीक्षक की सहानुभूति का पूरा परिचय मिलता है, जो आज की समीक्षा का प्रधान तत्त्व स्वीकृत किया जाता है। उपर्युक्त श्लोक में यह कहा गया है कि इस प्रकार का काव्य-रचना के परिश्रम का ज्ञाता व्यक्ति (समीक्षक) अनेक पुण्यों के फलवश कभी किसी ऐसे रचनाकार की रचना की विवेचना में लगता है जो विवेचक की दुर्लभता के कारण मन ही मन दुःखी रहता है। इस प्रकार के स्वरूपों से सम्पन्न तत्त्वाभिनिवेशी भावक को हम आधुनिककाल के विवेचनात्मक समीक्षा-पद्धति पर चलने वाले समीक्षकों की कोटि में रख सकते हैं, क्योंकि ऐसे भावक में हमें विवेचना शक्ति तथा रचनाकार के प्रति सहानुभूति मिलती है, जिसके द्वारा वह उसकी सारी परिस्थितियों का मनन करने के पश्चात् उसके लिए कुछ भला बुरा कहता है।

'काव्य-मीमांसा' में समीक्षा तथा समीक्षक के विषय में कुछ और बातें कही गई हैं। कवि और समीक्षक का सम्बन्ध इस रूप में स्थापित किया गया है—

> स्वामीमित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च
> कवेर्भवति ही चित्रं किंहितयन्न भावकः।

भाव० कवि का स्वामी होता है, क्योंकि भावक की बुद्धि काव्य-भावना से परिपक्व रहती है। कवि के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर के समीक्षक उसके दोषों से या दोषों की रक्षा करता है, इस कारण भी वह उसका स्वामी होता है। समीक्षक कवि का मित्र इसलिए है कि वह उसके गुणों का प्रदर्शन कर के उसका उपकार करता है। समीक्षक कवि का मन्त्री इसलिए होता है कि वह उसे सलाह देता है, ऐसी सलाह जिससे उसकी रचना उत्कृष्ट हो। समीक्षक कवि का शिष्य भी होता है, क्योंकि उसकी रचना के प्रति उसकी (समीक्षक की) जिज्ञासा होती है और तब वह उसके काव्य की मीमांसा करता है। कवि का आचार्य समीक्षक इसी कारण है कि वह उसके गुण दोष के विषय में उसे उपदेश करता है, आगे यह कहा गया है कि कौनसा ऐसा सुसंबंध है जो कवि और भावक में नहीं होता। आधुनिक समीक्षा शास्त्र में यह स्वीकार किया जाता है कि कवि की रचना की न्याय संगत समीक्षा के लिये समीक्षक को उसकी (कवि की) रचना की कठिनाई की जानकारी रखनी चाहिए। ऐसी स्थिति में समीक्षक जो कुछ कहेगा वह अनर्गल न होगा, कारण कि उसे काव्य रचना के काठिन्य का ज्ञान रहता है। काव्य मीमांसा में कवि तथा समीक्षक का जो उपर्युक्त संबंध दिखाया गया है उसमें भी यह बात अवश्य आ गई है। इसके अतिरिक्त भी कई बातें आई हैं, जो ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है।

'काव्य मीमांसा' में समीक्षकों के विषय में कही गई ये सब बातें बड़ी तात्विक हैं। समीक्षा क्षेत्र में इनका बड़ा महत्त्व है। प्राचीन काल में भी समीक्षा या समीक्षक विषयक ये मान्यताएँ स्वीकृत थीं और आधुनिक काल में भी किसी न किसी रूप में—किसी दूसरी प्रणाली से—इनको स्वीकार किया जाता है। 'काव्य मीमांसा' में समीक्षक के विषय में कुछ और बातें भी हैं, जैसे, समीक्षक में पैनी दृष्टि की आवश्यकता, समीक्षक के मन की रचना का कम होना, कवि की रचना का समीक्षक के मन के अनुकूल होने की आवश्यकता आदि। काव्य के विभिन्न अंगों के समीक्षकों का उल्लेख भी इस में है। जैसे, यह कहा गया है कि कुछ काव्य की वाणी के समीक्षक होते हैं कुछ काव्य के हृदय—काव्य के अंतः पक्ष—के समीक्षक

होते हैं और कुछ सात्त्विक, आंगिक अनुभावों का प्रदर्शन करते हुए समीक्षक होते हैं—

वाग्भावं को भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदय भावक।
सात्त्विकैरांगिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः॥

'काव्य-मीमांसा' में मीमांसित समीक्षा तथा समीक्षक के स्वागत तथा प्रचार आदि की विवेचना इस प्रकार समाप्त होती है। हमारी दृष्टि इस मीमांसा में आधुनिक समीक्षा तथा समीक्षक पर रही है और यथा स्थान प्राचीन तथा नवीन समीक्षा तथा समीक्षकों को दृष्टि में रख कर तुलनात्मक तथा विषम बातें भी कही गई हैं। इनके द्वारा यह स्पष्ट है कि अनेक स्थितियों में प्राचीन तथा नवीन समीक्षा में साम्य की स्थापना है। दोनों कालों की समीक्षा में प्रस्थान-भेद अवश्य है, परन्तु अनेक दृष्टियों से दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँचती हैं।

गुरु-गोरख का आविर्भाव काल

श्री विनयकुमार बी० ए० (आनर्स)

इतिहास वेत्ताओं ने बहु-विस्तृत बौद्ध धर्म के भारत—उसकी अपनी ही जन्म-भूमि—से उन्मूलन हो जाने के लिए जिन-जिन प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है उनमें बौद्ध-मत के मध्य-प्रहर में आने वाले प्रकांड विद्वान्, दार्शनिक और तात्विक शंकराचार्य के 'प्रभाव' का भी उल्लेख किया है। यद्यपि कुछ अन्य इतिहास लेखक इस मत का पृष्ठ-पोषण नहीं करते; और सम्भव है इतिहास इस मत को भ्रान्त भी सिद्ध कर दे, फिर भी पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'इसका अन्तर्निहित अर्थ एक दम सत्य है।'[1] सचमुच शंकर की प्रतिभाशील दार्शनिक प्रौढ़ता और उनके अकाट्य तर्क के ही कारण बौद्ध-धर्म देश के बुद्धिजीवियों के ऊपरले स्तर के लिए एक महज बेकार मत प्रमाणित हुआ। शंकर ने उपनिषदों का आश्रय लेकर जनता को यह बता दिया कि वस्तुतः बौद्ध धर्म कुछ अभिनव मौलिक दर्शन नहीं रखता। हिन्दू जाति—जिसे उपनिषदों की अमूल्य निधि प्राप्त है किसी के मुँह क्यों जोहे? यदि वह 'शून्य-वाद' ही चाहे तो भी उसे अपने भंडार से बाहर जाने की जरूरत नहीं होगी। 'त्रिपिटकों' में आखिर ऐसी कुछ भी नायाब चीज तो हो जिसके लिए उपनिषद वालों को उसके आगे हाथ पसारना पड़े! इस तरह हिन्दू जनता को अपने घर से बाहर निकल कर किसी अन्य 'दर्शन' की शरण लेने की प्रवृत्ति कुछ खास लाभ प्रद नहीं दीख पड़ी। फलतः बौद्ध धर्म के विकास की धारा रुकती सी दीख पड़ी। शंकर की इस प्रवृत्ति को डा० सर राधाकृष्णन् ने ठीक ही Fraternal Embrass[1] (छद्मब-धुत्व का आलिंगन) समझा है।

इधर बौद्ध-धर्म ने भी अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ उठा न रखा। तभी तो वह 'हीनयान' को छोड़ कर 'महायान' ले उपस्थित हुआ। अब बुद्धों के लोकोत्तरोत्व में विश्वास किया जाने लगा और 'अमिताभ बुद्ध के नाम जप से मुक्ति' मिलने लगी। इस स्तर में आकर बौद्ध-धर्म ने अपना ऐसा रूप परिवर्तित कर लिया—अपनी ऐसी कायापलट कर ली कि वह सामान्यतः हिंदू धर्म के जैसा ही दीख पड़ा। और कभी कभी ऐसा लगता है मानो परम्परागत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म एक साथ गलबाहियाँ देते हुए उस जमाने में चल रहे थे। 'नेपाल महात्म्य' में बताया गया है कि जो 'बुद्ध' की पूजा करता है वह वस्तुतः 'शिव' की ही पूजा करता है स्मरण रहे 'शिव' शैवमत के उपास्य देव माने गए हैं। वेदों में 'रुद्र' कर के एक अतिभयावह देवता की कल्पना की गई है। पर वे ही जब प्रसन्न-भाव में कल्पित हुए तो उनका नाम 'शंकर' 'शिव' और 'शम्भु' आदि पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है

१—देखिए—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ५

१—देखिए History of Indian Philosophy

कि बुद्ध भी 'नेपाल महात्म्य' में वैदिक देवों के ही रूप में ग्रहण हुए हैं। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का 'स्वयंभूपुराण' 'पशुपतिनाथ' और 'बुद्ध' को एक ही दृष्टि से देखता है। इसी समानता के कारण बहुत से बौद्ध-सिद्ध अब शैव-मत को अपनाने लगे। उधर बौद्ध-धर्म को अपना अस्तित्व ही डँवाडोल दीखने लगा। अब चूंकि वह देश के पण्डितों पर अपनी छाप तो नहीं जमा पाता था, फलतः अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे सामान्य जनता के निचले-स्तर तक आने के लिए विवश होना पड़ा। इस कारण 'मंत्रयान' ने 'महायान' का स्थान लिया और बौद्ध-धर्म को 'मारण, मोहन, उच्चाटन' के सिद्धान्तों को जिसे बुद्ध ने 'मिथ्याजीव' (Bad Living) कहा था—अपनाना पड़ा। यहाँ एक विचित्र और अभिनव रूप से इतिहास अपनी आवृत्ति करता है। हमें मालूम है, वैदिक-धर्म भी जब जनता तक पहुँचा तो वह अपने को 'अथर्व-वेद' में आकर लोक-रंजन की सतह तक ले आया था। जनता में जो रूप उसका आया था वह ऋग्वेदीय रूप नहीं था। वरन उसमें भी अन्य विश्वास, मंत्र-तन्त्र योग-जाप आदि ही पाये जाते हैं। ठीक उसी तरह जब बौद्ध-धर्म को भी उच्च-स्तर से उतर कर जनता तक आने की जरूरत हुई तब उसका आदर्श-अथर्व वेद, जिसे विन्टर्निट्ज ने 'तत्कालीन सामान्य जनता में प्रचलित विश्वास पुञ्ज का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का एक अनमोल स्रोत[१] माना है—ही हुआ। खैर—। किन्तु इन प्रयत्नों के बावजूद भी बौद्ध-धर्म का 'शून्यवाद' शांकर-मायावाद के सामने टिक न सका। अथवा कहना तो यह चाहिए कि हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को हजम कर लिया। इसी से जीर्ण-शीर्ण बौद्ध-धर्म के अनुयायी 'नाथ पंथ' में ही खप गए। बौद्ध-धर्म पर हिन्दू नव जागरण की प्रतिक्रिया से जहाँ एक ओर सम्राट अशोक की अभिलाषाओं से लसित और गौतम के उपदेशों से अनुप्राणित बौद्ध-धर्म का उन्मूलन हुआ वहीं इस समुद्र-मंथन से पुष्ट रूप में 'शैव मत' का भी नवीन विकास हुआ। इस शैवमत को हम इस युग की सृष्टि नहीं कह सकते। पर इस से किसी को क्या इन्कार होगा कि 'शैव मत' का यही स्वर्णिम युग है। पुराने बौद्ध-विहार अब शैव मठों के रूप में परिवर्तित हो गए। बौद्ध जलन्धरपाद 'सिद्ध' से जलन्धरनाथ 'शैव' हो गए। तात्विक दृष्टि से सिद्धमत और शैवनाथ पन्थ में कुछ खास विभिन्नता भी नहीं थी। क्योंकि दोनों ही वर्ण-व्यवस्था, मूर्ति-पूजा, वाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। हठयोग की प्रक्रियाओं से जाते हुए दोनों ही 'नाद' 'विन्दु' 'रवि शशि मण्डल' 'सुरति' 'निरति' आदि का परिचय देते। और 'पञ्चमकार' को जब से वज्रयानियों ने 'मोक्षदायि युगे-युगे' के रूप में स्वीकार कर लिया तब से उनमें और 'भैरवी चक्र' वालों में कुछ खास फर्क रहा भी नहीं। इस तरह बौद्धधर्म की निर्वाण-शिला पर नाथपन्थ की वैजन्ती टँगी। नीचे की पंक्तियों में हम नाथपन्थ के प्रकाण्ड मौलिमणि गुरु गोरख के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करेंगे।

नाथपन्थ के आदि प्रवर्तक 'आदिनाथ' अथवा स्वयं शिव माने जाते हैं। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' नामक ग्रन्थ में भी आदिनाथ का ही नाम सबसे पहले लिया गया है।[१] आदिनाथ को हम 'शिव' नहीं मान सकते। क्योंकि 'शिव' शब्द जैसा कि हमने ऊपर कहा, वेदों में भी आया है। फलतः उसका इतिहास नाथपन्थ से ही आरम्भ हुआ ऐसा नहीं माना जा सकता। इस अवस्था में 'शिव' से हमें कुछ और समझना होगा। 'विमुक्तमञ्जरी' नामक जालन्धरनाथ के ग्रन्थ के भोटिया अनुवाद से मालूम होता है कि जालन्धरनाथ ही आदिनाथ थे।[२] इनकी महत्ता उद्घोषित करने के लिए इनके शिष्यों ने इन्हें साक्षात 'शिव' ही मान लिया। यही एक कारण हो सकता है आदिनाथ वा जालन्धर को स्वयं 'शिव' माने जाने का।

१—देखिए:—History of Indian Literature Vol. I Page 129.

१—दे०—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह पृ० ४०।

२—दे०—Cordier का Cata-logue-du fonds Tibetain, Foisiem partio. पृ० ११२ vol. Lxxiii 49 और गंगा पुरातत्वांक—(हिन्दी के प्राचीनतम कवि)

भारतीय वातावरण में ऐसा कुछ अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। क्योंकि आज भी तो हम 'विहार का गान्धी' जैसा प्रयोग करते हैं। आचार्य शुक्ल भी जालन्धरनाथ को ही आदिनाथ मानते थे।[1] किन्तु पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका' (पृ० ६१) में लिखा है कि जालन्धर गोरख के शिष्य थे। और उनके ही शिष्य राजा भर्तृहरि वा भरथरी हुए। इस कथन से जालन्धर यदि किसी तरह आदिनाथ मान भी लिए जायँ तो कम से कम इस नाथ-पन्थ के आदि उन्नायक तो वे किसी दशा में भी नहीं माने जा सकते हैं। पर द्विवेदीजी का यह मत हमें प्रामाणिक नहीं दीखता। पता नहीं उन्होंने यह बात किस आधार पर कही। खेद है उन्होंने अपने इस कथन के प्रमाण में कुछ नहीं कहा। ऐसी हालत में द्विवेदीजी के मत पर आस्था कर हम 'गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह' और 'विमुक्त मञ्जरी' जैसे ग्रन्थों की गवाही पर सहसा अविश्वास नहीं कर सकते।

आदिनाथ जालन्धर के शिष्य 'मत्स्येन्द्रनाथ' हुए। कुछ विद्वान जिनमें डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री एम० ए० (त्रय) पी० एच० डी० भी शामिल हैं—मत्स्येन्द्र को सिद्धों का मीनपा मानते हैं। पर 'तन्त्रालोक' की टीका में 'मीनपा' और 'मच्छेन्द्र' करके दो व्यक्तियों का उल्लेख है। यथा—

भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्यवतः प्रिये
तत्समाशान्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने
काम रूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।[2]

इसी तरह 'रत्नाकर जोपम कथा' से विदित होता है कि सिद्ध मीनपा नाथपन्थी मत्स्येन्द्र के पिता थे, जो लौहित्य नदी के तट के मछुए थे। इस प्रमाणको देखते हुए मीनपा और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही व्यक्ति तो कभी नहीं माना जा सकता।

मत्स्येन्द्र के शिष्य परम्परा में ही गोरखनाथ आए। गोरखनाथ का काल-निर्णय करते समय विद्वानों के बीच परस्पर मतभेद हो जाता है। सामान्यतः इस सम्बन्ध में चार मत मिलते हैं—

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत, जिससे डा० रामकुमार वर्मा और डा० धर्मेन्द्र शास्त्री भी सहमत हैं—गोरख का समय १३ वीं शती का मानता है।

२—रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास का मत जो गोरख को १४ वीं शती का मानता है।

३—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का मत जो गोरख को ११ वीं शती का मानता है।

४—श्री राहुलजी का मत जो गोरख को १० वीं शती के अन्तिम चरण का मानता है।

गोरख को १३ वीं सदी का सम-सामयिक मानने के लिए सबसे बड़ा और सबल प्रमाण के रूप में ज्ञानदेव की बतलाई वह नाथ परम्परा की सूची है जिसमें उन्होंने अपने को नाथ परम्परा में मानते हुए अपने पूर्व के नामों की एक सूची दी है। वह सूची इस प्रकार है—"आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञाननाथ।" ज्ञानदेव महाराष्ट्री सन्त थे जो अलाउद्दीन (समय १४ वीं सदी) के सम-सामयिक थे। ज्ञानदेव और गोरख के बीच के दो नाथों के लिए एक सवा सौ वर्षों का भी समय बीच में रखा जाए तो गोरख १३ वीं सदी के ठहरते हैं। यह है प्रथम बिन्दु में उल्लिखित विद्वानों का मत।

रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास गोरख को १४ वीं सदी का मानते हैं। पर पता नहीं प्रथम बिन्दु के मत से विरोध रखने और उनके अपने मत की पुष्टि के लिए उनके पास कोई प्रमाण भी है वा नहीं।

श्री राहुलजी ने अपनी अभिनव खोज से उपरि कथित दोनों मतों को खंडित कर दिया है। उनका कहना है कि सिद्ध मीनपा पालवंशी राजा देवपाल (समय ८०६-८४६) के समसामयिक थे। उनके पुत्र हुए मत्स्येन्द्रनाथ। अतः इनका भी समय लगभग ९ वीं सदी ही होगा। नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ जालन्धर मत्स्येन्द्र के गुरु थे ऐसी

१—दे०—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १७।

२—दे०—तन्त्रालोक पृ० २४-२५ Indian Historical Quarterly में उल्लिखित।

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' की भी गवाही है। वे ही सिद्धों के जलन्धरपा हैं। ऐसा डा० शास्त्री प्रभृति विद्वानों का मत है। इस दशा में जलन्धर का समय ८ वीं ९ वीं सदी ठहरता है। गोरख मत्स्येन्द्र की शिष्य परम्परा में तो हुए पर यह कैसे कहा जा सकता है कि वे उन्हें दीक्षा देनेवाले गुरु थे। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में भी आदि नाथ से गोरखनाथ तक आने वाले नाथों की एक सूची दी गई है। जो इस प्रकार है:—

एवं श्री गुरुरादिनाथः, मत्स्येन्द्रनाथः, तत्पुत्रः उदयनाथः, दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः भवनार्जिः तस्य श्री गोरक्षः नाथः।[1]

मत्स्येन्द्र और गोरख के बीच के नाथों के लिए यदि १००-१२५ वर्षों का भी अन्तर माना जाय तो गोरख का समय १० वीं शती का अन्तिम चरण ठहरता है। यह हुआ श्री राहुलजी का मत। तीसरे स्तम्भ के श्री पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० बडथ्वाल का मत यदि ११ वीं सदी के प्रथम अरुणोदय के लिए हो—तो राहुल जी के मत से उनका कोई खास विरोध नहीं बच रहता।

अब प्रश्न है कि क्या राहुलजी का मत ठीक है! यदि हाँ,तो क्या ज्ञानदेव ने झूठी सूची दी? नीचे की पंक्तियों में हम अपना विचार इन दो बिन्दुओं पर आश्रित रख सत्य की समीक्षा करेंगे।

हम राहुलजी के विचारों से पूर्ण सहमत हैं। किन्तु हम ज्ञानदेव को भी झूठा नहीं बनाते। हमारा खयाल है कि ज्ञानदेव की नाम परम्परा वाली सूची समग्रता की दृष्टि से तैयार ही नहीं की गयी है। उसमें केवल नाथ पन्थ के उन्हीं नाथों, आचार्यों की नामावली दी गयी है जिनने समय-समय पर अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्र उद्भावनाओं से पन्थ के इतिहास में नये परिच्छेद जोड़े हैं। क्योंकि जब हम यह जानते हैं कि सिद्धों के जलन्धरपा ही नाथ पन्थ के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ हैं तब उनके (समय ९ वीं सदी का प्रथम अरुणोदय) और ज्ञानदेव (१४ वीं सदी के समकालीन) के बीच कम से कम लगभग पाँच सौ वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। (इसकी पुष्टि गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह 'विमुक्त मंजरी' आदि से हो ही गयी है) इतने लम्बे समय के लिए बीच में केवल चार नाथों की कल्पना (ज्ञानदेव की सूची के अनुसार) कुछ कष्टसाध्य प्रतीत होती है। हम इसी से उसे समग्रता की दृष्टि से अपूर्ण समझते हैं। इसकी पुष्टि 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' की उस सूची से होती है जिसमें मत्स्येन्द्र और गोरख के ही बीच छः नाथों का उल्लेख हुआ है। अब जरा यह सोचना है कि ज्ञानदेव ने इस तरह की अपूर्ण सूची बनायी ही क्यों। इस का उत्तर हम यही देंगे कि ज्ञानदेव का मन्शा नाथ पन्थ के सभी नाथों की नामावली देने का नहीं रहा था। उनने केवल उन्हीं आचार्यों का उल्लेख किया जिनका कुछ व्यक्तिगत महत्त्व है। इसकी पुष्टि उस 'लोक भणिति' से भी होती है जिसमें कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने एकबार अपने योग की परीक्षा लेने की ठानी। उनका ख्याल था कि साधना का चरम उत्कर्ष तो तब है जब नारी को जंघे पर बिठाया और मन न डोला। इस सिलसिले में वे सिंहल की सुन्दरियों के पास पहुँचे और परीक्षा लेने बैठे। पर वे फिसल पड़े। तब गोरख को उन्हें जगाना पड़ा। इस कथा को यदि गहरे बैठ कर देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि मत्स्येन्द्र की नामाचारिता, उनकी कापालिकों और कालमुखों के साथ सहकारिता और योग का परीक्षा के लिए स्त्रियों की अनिवार्य्यता आदि को गोरख ने पसन्द न किया और तब उनने मत्स्येन्द्र की मतधारा के विरुद्ध अपने अलख निरंजन मत जिसमें उनने पतंजलि के हठयोग की क्रियाओं के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का प्रतिपादन किया—को उपस्थित किया। साथ ही उनने मत्स्येन्द्र की वामाचारिता आदि का परिहार कर नाथपन्थ को आस्तिकता की भीत पर खड़ा किया। यहीं से बौद्धों का 'शून्यवाद' अब नकारात्मक भावना के रूप में नहीं अपितु ठोस आस्तिकता के रंग में रँग ग्रहण हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोरख और मत्स्येन्द्र की मान्यताओं में स्पष्टतः अन्तर है। इसी तरह सम्भव है गाहिनीनाथ और निवृत्तिनाथ की भी अपनी-अपनी व्यक्तिगत साम्प्रदायिक उद्भावनायें हों जिनका इतिहास हमें अब तक अज्ञात हो। यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो ज्ञानदेव की सूची पर नया प्रकाश पड़ता है और

१—दे: 'गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह' पृ० ४०।

वह गोरखके काल निर्णय में बाधक भी नहीं होती दीखती। खैर, जहाँ तक गोरख के आविर्भाव काल का सवाल है हम ज्ञानदेव की सूची का उल्टा-सीधा अर्थ लगाकर उन्हें १३ वीं सदी तक खींच लाने के हिमायती नहीं हैं। उपरि-लिखित 'रत्नाकर जोयम कथा' 'विमुक्त मंजरी' और गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में, जो वकौल राहुलजी सदियों के हेर-फेर से भूटान में रहने के कारण बचे रहे—सहसा अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। इस तरह हमारा दृढ़ विश्वास है कि गोरख दसवीं शती के अन्तिम चरण और ग्यारहवीं के प्रारम्भ के सम सामयिक थे। इस निर्णय के बाद हमें हिन्दी साहित्यक के जन्मकाल के सम्बन्ध में भी एक नया प्रकाश प्राप्त होता है। मिश्र बन्धुओं ने लिखा है कि गोरख के समय तक आकर हिन्दी गद्य की भी परम्परा चल निकली थी[1]। किसी भी साहित्य में पहले पद्य आता है। फिर पद्य की परम्परा चल निकलने के बाद भाषा के स्थायित्व पा लेने के बाद गद्य निकलता है। गोरख के समय हिन्दी गद्य की परम्परा चल निकली थी। इससे स्पष्ट है कि पद्य का इतिहास कुछ और पुराना है। ऐसी दशा में हिन्दी का आविर्भाव काल १०५० मानते नहीं बनता। अतः हिन्दी का जन्म-काल जानने के लिए हमें निश्चय ही बौद्ध सिद्ध सरहपा तक जाना पड़ेगा। हिन्दी का जन्म देने का श्रेय उन वज्रयानी सिद्धों को निश्चय ही मिलना चाहिए जो ६ वीं सदी में नालन्दा विश्वविद्यालय के आसपास अपना मत प्रचारित कर रहे थे और साथ ही हिन्दी का जन्म दे रहे थे। उनके साहित्य को हम अपभ्रंश के गतालखाने में नहीं फेंक सकते, और इस दिशा में गोरख हमारे बड़े प्रबल आधार हैं।

१—दे० मिश्रबन्धु-विनोद—भाग १ पृ० २४१।

"आँसू" में दार्शनिक तत्त्व

श्री रामनिरञ्जन पाण्डेय एम० ए० (संस्कृत और हिन्दी) साहित्य शास्त्री

(प्रसाद जी का आँसू नाम का खण्डकाव्य जीवन दायिनी वर्षावारि विन्दु की भाँति संताप से उत्पन्न हो अन्त में शान्तिमयी शीतलता और सम्पन्नता का प्रतीक बन जाता है। इस तथ्य को विद्वान् लेखक ने इस प्रकार दिखलाया है कि विरही प्रसाद जी वैयक्तिक वेदना दार्शनिक प्रसाद से अन्तर्दृष्टि प्राप्त करती हुई विश्व करुणा में परिणत होकर शान्ति के रसःसीकरों द्वारा कवि के व्यथित हृदय को उपशमित करती है। इस लेख में प्रसाद जी को भावुक की दुर्बलता और चिन्तक की सबलता के दो छोरों में दोलान्दोलित होते हुए दिखलाया गया है। अन्त में कवि का दुर्बल हृदय दार्शनिक चिन्तन का संबल प्राप्त कर अपने को विश्ववेदना में विलीन कर ममत्व के नाश द्वारा सुख दुख का मिलन करा देता है और फिर व्यक्ति निर्द्वन्द होकर विश्व मङ्गल की कामना करने लग जाता है। लेखक ने प्रसाद जी के दार्शनिक चिन्तन में निराशा के शमन के दो मार्गों की ओर निर्देश किया है। एक विस्मृति 'विस्मृति समाधि पर होगी वर्षा कल्याण जलद की' और दूसरा, रूप का निर्व्यक्ती-करण और नारी के सहज सौन्दर्य और शिशु की सरलता और निर्मलता से मिश्रित एक आदर्श सौन्दर्य की मानसिक पूजा—पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक सुलभ और श्रेयस्कर है। आंसू के समझने में यह लेख विशेष रूप से सहायक होगा। —सम्पादक)

'आँसू' भारतीय साहित्य में ही नहीं, संभवत: विश्व साहित्य में भी एक ही ऐसा अनूठा विरह काव्य है जिसका आरंभ लौकिक-विरह से तथा अवसान अलौकिक-विरह में होता है। आँसू के प्रारंभ में लौकिक-विरही के रूप में प्रसाद जी शीतल परन्तु उद्विग्न करने वाली ज्वाला का अनुभव करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इसके अन्त में

उन्हें हम एक ऐसे वियोगी के रूप में देखते हैं जिसने अपने लौकिक प्रेम पात्र को अलौकिक बना लिया है। उसमें उसने परम तत्त्व की स्थापना कर ली है और उसकी वेदना की शीतल उद्विग्नता सात्विक मधुरता में परिणत हो गई है।

साधना के अपने मार्ग की सबलताओं और दुर्बलताओं से प्रसाद का दार्शनिक व्यक्तित्व पूर्ण परिचित है। दार्शनिक प्रसाद, कवि और वियोगी प्रसाद को बराबर आश्रय देते चलते हैं। वियोगी प्रसाद को दार्शनिक प्रसाद की सहायता से दृढ़ता बराबर प्राप्त होती रहती है। कवि प्रसाद ने दार्शनिक प्रसाद को आत्मसात् करने का सफल प्रयत्न किया है। दार्शनिक प्रसाद ने वियोगी प्रसाद को अन्तर्दृष्टि दी है। इसलिए प्रसाद का दुर्बल वियोगी व्यक्तित्व भी साधना के मार्ग पर अग्रसर होता हुआ अपनी दुर्बलता के कठोर प्राचार के बीच-बीच में ज्ञान का वातायन बनाकर तत्त्व की ओर झाँकता गया है। लौकिक प्रेम पात्र के विरह से सम्बन्ध रखने वाली वेदना से व्यथित होते हुए भी वियोगी प्रसाद कह सकते हैं:—

"इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिंचन बेसुध चैतन्य हमारा॥"

दार्शनिक प्रसाद के बल से ही वियोगी प्रसाद अपने बेसुध, अबोध और अकिंचन चैतन्य को व्यक्तिगत सुख दुख से प्रभावित होते हुए देख सकते हैं। यही अन्तर्दृष्टि है जो प्रसाद के वियोगी व्यक्तित्व को साधना के मार्ग पर बराबर जागरूक बनाने का प्रयत्न करती है। और वे सुख दुख की अनुभूतियों से तटस्थ होने में सफल होते हैं।

प्रसाद के हृदय में ज्ञान और अज्ञान का द्वन्द्व मचा रहता है। प्रसाद का विरही व्यक्तित्व अज्ञान के कारण, अपनी व्यक्तिगत वेदना के कारण तड़पता रहता है। उनका दार्शनिक अंश उनके वियोगी अंश से बराबर संघर्ष करता रहता है। उस अबोध, अकिंचन और बेसुध चैतन्य को बुद्ध, सबल और अपनी पूरी शक्तियों के प्रति जागरूक बना देना चाहता है। अपने इसी द्वन्द्व का स्वाभाविक एवं सफल चित्रण प्रसादजी ने आँसू में किया है। मानव की दुर्बल आत्मा साधना के पथ पर बराबर अग्रसर ही नहीं होती जाती, अपने दुर्बल स्वभाव के कारण संसार के प्रलोभनों की ओर भी देख ली जाती है। प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक साधक को संघर्ष की इस स्थिति को पार करना पड़ता है। प्रसाद ने भी सत्य की इस स्वाभाविकता पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया है। अपनी दुर्बलताओं का बहुत ही आकर्षक चित्र प्रसादजी ने 'आँसू' में चित्रित किया है। साधना के पथ का संबल जिसकी सहायता से प्रसाद जी अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सके हैं महान है। उनका संबल है प्रेम। सूखे सिकता-सागर में उनके मनकी नौका को खेने वाला प्रेम ही है। यही आँसू की धार बहा कर उनके हृदय को इतना अधिक संवेदनाशील बना देता है कि अपनी वेदना को छोड़ इसी प्रेम के सहारे वे विश्ववेदना तक पहुँच जाते हैं, जहाँ पूरे विश्व की वेदना उन्हें दिखाई पड़ने लगती है और पूरे विश्व के प्रति अपने हृदय में प्रेम जागृत कर विश्व की दयनीय अवस्था के प्रति सहानुभूति और वेदना का अनुभव कर वे महान् हो जाते हैं। यहीं उन्हें विश्ववेदना के प्रकाश में आत्मसाक्षात्कार होता है। हृदय में विश्ववेदना का उत्पन्न हो जाना ही महानता है। वहाँ पहुँच कर साधक विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को (आत्मवत्) अपनी आत्मा का ही प्रतिरूप मानने लगता है। एकात्मा की ही अनुभूति विषमता को दूर कर देती है। समता की स्थिति ही मुक्ति है। द्वन्द्वों का अन्त ही निर्वाण है।

'आँसू' काव्य की महानता का यही रहस्य है कि उसमें अपनी वेदना को विश्ववेदना का रूप देने के लिए प्रसाद जी ने अनुभूतिमय कवि का मार्ग स्वीकार किया है। 'आँसू' की महानता इसमें भी है कि हृदय की कोमल भावना को लिए हुए उसमें प्रेम के उज्ज्वल दीप की शीतल ज्वाला को सुरक्षित रख कर प्रसाद जी ने 'आँसू' में अपने सांसारिक प्रेम-पात्र के स्थान पर ब्रह्म की स्थापना कर ली है। अपने लौकिक विरह को अलौकिक विरह के रूप में परिणत करने के लिए प्रसाद जी ने जो सुन्दर, अनुभूतिमय कवि का मार्ग अपनाया है वह भी आँसू को महान बनाता है।

प्रसाद जी की साधना का मार्ग जिसकी प्रकृति की ओर मैंने संकेत किया है, बिलकुल ही स्पष्ट है। बेसुध चैतन्य प्रारंभिक अवस्था में सांसारिक विधान से संबन्ध

रखने वाली अपनी वेदना से प्रभावित रहता है। प्रसाद जी अपने दार्शनिक अंश की सहायता से अपनी अन्तर्दृष्टि पाकर उस बेसुध चैतन्य को देख तो अवश्य लेते हैं, पर यह ज्ञान क्षणिक रहता है। लौकिक विरह की वेदना के प्रभाव से वे पुनः प्रभावित हो जाते हैं। वेदना के प्रभाव के कारण उनके हृदय से करुणा फूट पड़ती है। इन शब्दों में—

सुख आहत शांत उमंगें बेगार साँस ढोने में।
यह हृदय समाधि बना है रोती करुणा कोने में।।

वे अनुभव करते हैं बीते हुए सुखों का और शाँत उमङ्गों का। अपना जीवन ही उन्हें भार हो गया है। हृदय प्रेम पात्र से सम्बन्धित भावनाओं की समाधि बन जाता है। उसके एक कोने में बैठी हुई करुणा रोती रहती है।

इस वेदना का प्रवाह बढ़ते बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाता है कि प्रसाद का कवि उसका चित्र—

घिर जाती प्रलय घटायें कुटिया पर आकर मेरी
तमचूर्ण बरस जाता था छा जाती अधिक अँधेरी।।

कह कर ही प्रस्तुत करता है। हृदय की कुटिया में वेदना का प्रलय घटा हर तरह की आपत्तियों के साथ, दाहक भावनाओं और स्मृतियों के साथ आकर घिर जाती हैं। भयानक अंधकार के समान अज्ञान से उनकी आत्मा दब जाती है। पर उसका दार्शनिक नहीं सोता। उसे क्षणिक जागरूकता मिल जाती है। अज्ञानान्धकार की घटा में ज्ञान की विजली क्षण भर के लिए चमक जाती है। प्रसाद का दार्शनिक बोल उठता है:—

बिजली-माला पहन फिर मुसक्याता सा आँगन में।
हाँ, कौन बरस जाता था रस बूँद हमारे मन में?
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी कल्याण कलित इस मग के।

वियोग की वेदना की आँधी में जब अज्ञान के भार से प्रसाद की आत्मा दबने लगती है उसी समय दार्शनिक बोलने लगता है। सांसारिक प्रेम-पात्र के सौन्दर्य के पीछे ही उसे ब्रह्म का सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है; क्योंकि उसी परम सुन्दर से तो संसार का सौन्दर्य उत्पन्न हुआ, वही सौन्दर्य तो प्रत्येक सांसारिक वस्तु के पीछे छिपा हुआ है। यह भावना उत्पन्न होते ही अलौकिक प्रेम की वर्षा प्रसाद के वियोगी हृदय में एक क्षण के लिए हो जाती है। वेदना की घटा में जब सांसारिक प्रेम-पात्र के सौन्दर्य में उसे अलौकिक (ब्रह्म सम्बन्धी) सौन्दर्य की अनुभूति क्षणिक ही होती है तो उसके मन में अलौकिक प्रेम की वर्षा होने लगती है और वह कहने लगता है—जग तो मेरा ही मिथ्या था, भावनाएँ तो मेरी ही अज्ञानमय थीं, तुम तो चिरसत्य और चिर-सुन्दर, उसी सांसारिक प्रेम-पात्र में छिपे थे, जिसके वियोग की अनुभूति कर मैं तड़प रहा हूँ। जग का मेरा पथ कल्याणमय ही था जिस पथ के लिए तुम (ब्रह्म) जीवन-संगी थे—

गौरव था, नीचे आये प्रियतम मिलने को मेरे।
मैं इठला उठा अकिंचन, देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।।

यह मेरे लिए गौरव की बात थी कि मेरे प्रियतम (ब्रह्म) सांसारिक प्रेम-पात्र के रूप में मुझसे मिलने के लिए आये; परन्तु मेरी दुर्बल आत्मा सांसारिक सौन्दर्य को ही देखकर इठला उठी, उसने उस सौन्दर्य के आवरण में छिपे हुए परमतत्व को नहीं पहिचाना। दुर्बल आत्मा सांसारिक सौन्दर्य के ऐश्वर्य को पाकर इस तरह भूल गयी जिस प्रकार अकिंचन प्रातःकाल अतुल सम्पत्ति का स्वप्न देखकर अपने को भूल जाय।

इसके बाद अपने सांसारिक प्रेम-पात्र के सौन्दर्य का प्रसाद के वियोगी कवि ने बड़ा ही अलौकिक वर्णन किया है, पर प्रसाद का दार्शनिक क्षण भर के लिए उस कवि को फिर अन्तर्दृष्टि दे देता है। वह कहने लगता है—

माना कि रूप-सीमा है सुन्दर! तव चिर यौवन में
पर समा गये थे मेरे मन के निस्सीम गगन में।

सांसारिक प्रेमी को अपने प्रेम-पात्र का यौवन अमर ही आभासित होता है; पर अपने दार्शनिक की प्रतिभा पाकर प्रसाद का प्रेमी हृदय उस रूप सीमा को निस्सीम बना देता है। मनोराज्य तो निस्सीम है। उसमें जब यह रूप-सीमा ऐसे फैली हुई है कि उस मन का निस्सीमता से एकाकार हो गयी है तो रूप को सीमाबान कैसे कहा जाय। वह तो मन के साथ निस्सीम हो गया है। पर यह भी लौकिक प्रेम-पात्र में अलौकिकता का क्षणिक आभास है; क्योंकि तुरन्त ही प्रसाद का वियोगी हृदय आत्मा को

दुर्बलता के कारण लौकिक प्रेम-पात्र के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए फिर वेदना में तन्मय हो जाता है। यह स्थिति भी देर तक नहीं ठहरती। सांसारिक प्रेम के महत्व की ओर जब प्रसाद के दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि पड़ती है तब वह इन शब्दों में व्यक्त हो जाती है—

मणिदीप लिये निज करमें पथ दिखलाने को आये
वह पावक पुञ्ज हुआ अब किरनों की लट बिखराये।

सांसारिक प्रेम ही प्रसाद के साधक का प्रथम सम्बल है। इसी को लेकर वह आगे बढ़ता है और अन्त में अलौकिक प्रेम (ब्रह्म) प्राप्त कर लेता है। पर सांसारिक प्रेम को प्रेम का दीपक संयोग की स्थिति में मणिदीप के समान शीतल प्रतीत होता है और वियोग के समय वही पावक-पुञ्ज का रूप धारण कर लेता है। प्रसाद का पथ प्रेम के दीपक से प्रकाशित है। उस पथ पर मिलन और वियोग के सुख और वेदना का अनुभव करते हुए उनका कवि आगे बढ़ जाता है जहाँ उसे अपनी ही वेदना या अपने ही सुख का नहीं वरन विश्व भर के सुख-दुख का साक्षात्कार होता है। यहाँ प्रसाद का दार्शनिक उनके कवि के सांसारिक वियोगी हृदय को अधिक शक्ति-सम्पन्न करने में सफल होता है और प्रसाद का कवि अपनी दार्शनिकता के प्रकाश का आलोक स्पष्टतः इन शब्दों में देख लेता है—

दुख-सुख में उठता गिरता संसार तिरोहित होगा
मुड़कर न कभी देखेगा किसका हित अनहित होगा।
मानव-जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का।

प्रसाद का कवि समझ लेता है कि यह सुख-दुख मेरे ही साथ नहीं, यह तो विश्व का नियम है, संसार का स्वाभाविक सत्य है। सुख-दुख का चक्र अपनी धारा में बहा जाता है। वह किसी के हित-अनहित की चिन्ता नहीं करता। मानव व्यर्थ ही विरह-मिलन के शोक और सुख से दुखी-सुखी हुआ करता है। प्रसाद का दार्शनिक जब उनके वियोगी को इतनी अन्तर्दृष्टि दे देता है तो वह कुछ अधिक सबल हो जाता है। उसमें वह अभिलाषा जागृत हो जाती है कि मानव-जीवन वेदी पर विरह और मिलन का परिणय हो जाय। इन दो विरोधी स्थितियों में सङ्घर्ष न मचा रहे। अब सांसारिक जीवन में न व्यक्ति मिलन से सुखी हो और न विरह उसे शोकाकुल करे। मानव इन्हें केवल आँख और मन का खेल समझ कर अपनी आत्मा को इन दोनों से तटस्थ कर ले। ऐसी ही स्थिति में साधक को परमानन्द शुद्ध सुख की अनुभूति होती है, जिसमें वासनामय सुख-दुख के छींटों के दर्शन नहीं होते। परन्तु यह स्थिति भी यद्यपि सबल है फिर भी वेदना के प्रभाव से नितान्त मुक्त नहीं। असीम सुख की अनुभूति से हट कर उसकी ओर दृष्टि लगाये हुए भी सांसारिक वियोग की वेदना का प्रभाव प्रसादजी अपने में अनुभव करते हैं—

इतना सुख ले पल भर में जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे से अब रोते प्राण विकल से।

उस सुख की ओर दृष्टि तो है, पर उनके दुर्बल प्राण अब भी विकल होकर रो रहे हैं। आत्मानन्द अथवा शुद्ध परमानन्द की अनुभूति करने वाली आत्मा का परमानन्द छीन लिया गया है सांसारिक प्रेमपात्र के मोहमय प्रेम के कारण। आज उसके प्राण दुर्बल हो अपनी सच्ची स्थिति को भूलकर व्याकुलता से तड़फड़ा रहे हैं। माया में पड़ कर परमानन्द नष्ट हो गया है। सबल आत्मा ने दुर्बल प्राणों का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है माया के बन्धन में पड़ कर।

प्रसाद का साधक अब ऐसी स्थिति में है कि उसे संसार भर का सुख-दुख दिखलायी पड़ रहा है। अब अपनी व्यक्तिगत वेदना उसे अपने कठोर पाश में अधिक देर तक नहीं रख सकती। वह धरणी की वेदना के प्रति अपने हृदय में ज्वाला प्रदीप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। अब अपनी वेदना को भूल धरणी की वेदना देखने के लिए वह जागरूक हो गया है। उसकी जागरूकता को व्यक्त करने वाले ये शब्द हैं—

अवकाश असीम सुखों से आकाश तरंग बनाता
हँसता सा छाया-पथ में नक्षत्र समाज दिखाता।
नीचे विपुला धरणी है दुख भार वहन-सी करती
अपने खारे आँसू से करुणा सागर को भरती
धरणी दुख माँग रही है आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको मैं देख रहा उस मुखको॥

प्रसाद के जागरूक व्यक्तित्व को अपने चमकते हुए तारों के साथ आकाश एक अभिमानी उच्छृङ्खल लुटेरे के समान दिखाई पड़ता है; क्योंकि संसार के प्रेम-पात्रों को वही लूट ले जाता है जिससे प्रेमियों को पृथ्वी लुटी सी प्रतीत होने लगती है। इसके विपरीत धरणी प्रसाद को दुखभार वहन करती हुई दिखलायी पड़ती है। उसके खारे आँसू से भरे हुए करुणा-सागर को प्रसाद प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उनके प्रेम-पात्र को छीन कर आकाश ने उनके सुख को छीन लिया है। धरणी की वेदना को देख कर उन्हें अपनी वेदना भूल गयी है। उन्हें यही प्रतीत हो रहा है मानो धरणी उनके दुख को विनीत होकर स्वयं सहने के लिए माँग रही हो। यहाँ पर प्रसाद का साधक अपने सुख-दुख से तटस्थ हो जाता है। आकाश ने उसके सुख को छीन लिया है। इसके लिए अब उसे दुख नहीं है। विश्व के प्रति वेदना जागृत कर अपनी निजी वेदना के स्थान में विश्व वेदना को अधिष्ठित कर वह अपनी वेदना भी भूल गया है। परन्तु यहाँ भी उसकी दृष्टि पड़ रही है प्रेम-पात्र के सौन्दर्य पर ही। ध्यान से वह सौन्दर्य दूर नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ कि इस दृष्टि में पहली से अन्तर है। अब उस सौन्दर्य के ध्यान में सुख-दुख नहीं है। प्रसाद का प्रेम अब सात्विक हो गया है। यही है तैयारी प्रेम-पात्र को ब्रह्म के रूप में परिणत करने की।

संसार के सुख-दुख को प्रसाद का साधक अब इस रूप में देखने लगा है:—

सुख मान लिया करता था जिसको दुःख था जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी है जैसे बिजली हो घन में।

संसार का सुख अपने में दुख को छिपाये है। मिलने में वियोग छिपा रहता है। संसार का सुखी जीवन दुखी ही रहता है; क्योंकि सुख का अन्त अवश्यम्भावी है। उसका अवसान दुख में ही होता है; पर भ्रम के कारण, अज्ञान के कारण संसार का प्राणी आनेवाले अवश्यम्भावी दुख को नहीं देखता वह अपने को सुखी ही समझता है। जीवन के साथ प्रसादजी के अनुसार मृत्यु ठीक उसी तरह छिपी रहती है जैसे बादल में बिजली। जीवन की घटाय एक क्षण में ही चमक उठती है। इसीलिए प्रसाद का कवि कहता है।

हो उदासीन दोनों से सुख-दुख से मेल करावें
ममता की हानि उठा कर दो रूठे हुए मनावें।

संसार के सुख-दुख से तटस्थ होकर सांसारिक मोह को छोड़ कर वह सुख और दुख से मैत्री करा देना चाहता है। समता की परिस्थिति में वे दोनों एक हो जावेंगे। साधक को न तो सांसारिक सुख से सुख होगा और न दुख से दुख ही।

सांसारिक सुख-दुख के परदे के पीछे प्रसाद को नियति का अभिनय दिखलायी पड़ता है:—

नचती है नियति नटी सी कन्दुक क्रीड़ा सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में अपना अतृप्त मन भरती।

नियति नटी बड़ी कठोर है। उसे तृप्ति तभी मिलती है जब कि स्वच्छन्दता से संसार को व्यथा से कन्दुक क्रीड़ा करती रहती है। व्यक्ति को सुख से ऊपर उछालना और दुख देकर नीचे पटक देना ही नियति की क्रीड़ा है। संसार का बन्धन नियति के अधीन ही प्रसादजी मानते हैं। मानव की विवशता पर दया की दृष्टि रखते हुए प्रसादजी व्यथित विश्व के प्रति अपने हृदय में विश्व वेदना जागृत कर लेते हैं। उनकी वेदनापूर्ण अन्तर्दृष्टि विश्व की स्थिति देखने के लिए चौदहों भुवनों में घूम आती है:—

वेदना विकल फिर आई, मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई विश्राम कहाँ जीवन में।

धरणी का पूरा अंचल उन्हें वेदना से ही सिक्त दिखाई पड़ता है। प्रसादजी के लिए, क्षणिक, नश्वर सुख जिसका अवसान घोर विषाद में होता है, दुखमय ही है। वही दुख का कारण है। यदि किसी को सुख का अनुभव है तो उस सांसारिक सुख के अभाव में दुःख [illegible] है। चिरदग्ध दुखी वसुधा को सुख-दुख के विषम द्वन्द्व से मुक्ति दिलाने के लिए प्रसाद का साधक एक ऐसी महा निशा का आह्वान करता है जो पूरी जगती को अपनी गोद में सुला कर द्वन्द्व की विषम ज्वाला से मुक्त कर दे।

बिस्मृति-समाधि पर होगी वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ सा चिन्ता छुट जाय विपद की।
चेतना-लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

इस निद्रा के प्रभाव से पूर्ण विस्मृति में जहाँ संसार की विषमता का अन्त होगा, चेतना की लहर न उठेगी, तो जीवन का क्षुब्ध समुद्र शान्त हो जावेगा। सृष्टि और प्रलय सब बन्द हो जावेंगे। सुख और दुख की अनुभूतियों का अन्त हो जायगा। अभी विच्छेद और मिलन दोनों बन्द रहेंगे। चाहे वे फिर प्रारम्भ हों तो हों, पर अभी तो मानव को मुक्ति मिले। महानिशा और महानिद्रा से सम्बद्ध इस विस्मृति की सहायता से द्वन्द्वों के अन्त की यह कल्पना प्रसाद के साधक की अनूठी सूझ है। संसार के द्वन्द्वों से पिसती हुई जगती को शान्ति देने के लिए प्रसाद इस अनूठी स्थिति की कल्पना करते हैं। विश्ववेदना की यही अनुभूति प्रसादजी के हृदय से ध्वनि उत्पन्न करती है:—

चुन चुन ले रे कन कन से जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को जन रंजन करी कथाएँ।

इस वेदना की बड़ी सुन्दर अनुभूति प्रसाद के कवि को हो रही है—

इस व्यथित विश्व पतझड़ की तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे! सदा सुहागिन मानवता सिर की रोली

व्यथित विश्व के पतझड़ में प्रेम का उल्लास जागृत करनेवाली विश्ववेदना ही तो है जो मानव के हृदय को विशाल बना कर उसमें विश्व-प्रेम जागृत कर देती है। मानवता का पूर्ण विकास यही सुहागिन विश्ववेदना की ही तो है जो विश्व-प्रेम का अमर बरदान अपने अञ्चल में विश्व के लिए प्रस्तुत रखती है। यही विश्ववेदना मानवता के मस्तिष्क की सोहागबिन्दी है। इस विश्ववेदना के कर्म का सुन्दर मार्ग प्रसादजी ने अपनी प्रतिभा से आलोकित कर सुन्दरतम बना दिया है। अपने हृदय की विश्ववेदना के प्रति प्रसादजी के शब्द बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं:—

जीवन सागर में पावन बड़वानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुष जलाकर तुम जलो अनल बाला सी

प्रसाद का कवि विश्ववेदना को पवित्र बड़वानल के समान देखता है, क्योंकि जीवन सागर के ईर्ष्या-द्वेष को जला कर यह संसार को स्वर्ग के समान बना सकती है।

तेरे प्रकाश में चेतन संसार-वेदना वाला
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।

करुणा के इसी प्रकाश में संसार वेदनावाले (आत्मा) की अनुभूति होती है। एकात्मा की अनुभूति प्रसादजी को विश्व के प्रत्येक प्राणी के साथ एकाकार कर देती है। विश्ववेदना के करुण प्रकाश में बड़ी शक्ति है।

"उसमें धुंधली छायाएँ परिचय अपना देती हैं,
रोदन का मूल्य चुकाकर सब कुछ अपना लेती हैं।"

संसार के सब प्राणी जो आत्मज्ञान न रहने से अपरिचित से प्रतीत होते थे, आज विश्ववेदना के करुण प्रकाश में प्रसाद के साधक के पूर्ण परिचित से हो गये हैं; क्योंकि अब तो विश्व भर में वे अपनी ही आत्मा का दर्शन कर रहे हैं। इतनी वेदना की अनुभूति का मानो उन्हें यही विनिमय मिला कि आज पूरा विश्व ही उनका हो गया। आज कोई एक व्यक्ति विशेष उनका सम्बन्धी नहीं, पूरा विश्व ही उनका हो गया है। इसी अनुभूति ने विश्व वेदना से सम्बद्ध होकर उनके जीवन के वैयक्तिक सुख दुख को अपना लिया है। वैयक्तिक जीवन का सुख न तो उन्हें सुखी बनाता है न दुख दुखी ही। आज तो अपने को पूरे विश्व में खोकर प्रसाद के साधक ने अपने हृदय में विश्व भर की पीड़ा से सहानुभूति के लिए विश्ववेदना जागृत कर ली है।

विश्ववेदना का, विश्वप्रेम का स्वरूप ही तो ब्रह्म है जहाँ संसार का द्वन्द्व नहीं रहता। विश्ववेदना के इसी अंचल में प्रसाद जी को उस परम तत्त्व के दर्शन होते हैं, जिसकी मूर्ति वह इन शब्दों में निर्मित करता है—

कुछ रेखाएँ हों ऐसी जिनमें आकृति हो उलझी।
तब एक झलक वह कितनी मधुमय रचना हो सुलझी
जिसमें इतराई फिरती नारी निसर्ग सुन्दरता।
छलकी पड़ती हो जिसमें शिशु की उर्मिल निर्मलता॥

× × × ×

मेरी मानस पूजा का पावन प्रतीक अविचल हो।
झरता-अनन्त यौवन मधु अम्लान स्वर्ण शतदल हो

आत्मज्ञान के बाद भी प्रसाद का कवि रूपका बन्धन बिलकुल नहीं तोड़ना चाहता। उसकी मानस पूजा का पावन प्रतीक, उसकी अन्तर्दृष्टि में दिखलाई पड़ने वाली

प्रतिमा कुछ रेखाओं की अपेक्षा रखती है। प्रसाद का कलाकार उन्हीं रेखाओं के संकेत से अपने मानस में उस अनुपम सौन्दर्य का ध्यान करना चाहता है। उस प्रतिमा में नारी-निसर्ग-सुन्दरता इतराती रहे और उस सौन्दर्य में वासना का लेशमात्र भी न हो; उसके स्थान पर उसमें शिशु की उर्मिल निर्मलता छलकती रहे यही प्रसाद के साधक की अन्तिम पावन वासना है। यहीं आकर प्रसाद ने अपनी लौकिक प्रियतमा को पावन बनाकर ब्रह्म का पवित्र रूप दे दिया है। संसार से तटस्थ प्रसाद के साधक ने सांसारिक सौन्दर्य को पवित्र बना कर उसे उपासना के योग्य बना दिया है। अपनी पूजा की यह साधना, विश्व-वेदना के सहारे प्रसाद का साधक संसार से कलुष दूर कर पूरी करना चाहता है। कुमुदों के हृदय में शशि के वियोग बौने जलनिधि के हृदय में शशि को छूने के लिए हाहाकार, मौन शैल-मालाओं के हृदय की अज्ञात के वियोग, की छायामय वेदना, पुष्प के हृदय के प्रवंचक भ्रमर के प्रति वेदनामय आकर्षण तथा सांसारिक प्रेम में बसने वाले वियोग को प्रसाद के साधक की विश्ववेदना ने देखा है। सूखी सरिता की शैया को उसने वसुधा की करुण कहानी के रूप में पाया है। प्रसाद के कवि ने अपनी विश्ववेदना से पूछा है—

सूनी कुटिया कोने में रजनी भर जलते जाना।
लघु स्नेह भरे दीपक का देखा है फिर बुझ जाना॥

दीपक के हृदय के स्नेह और उसके बुझने में प्रसाद के कवि ने अलौकिक प्रेम के वियोगी हृदय की कितनी मधुर वेदना व्यक्त की है। अपनी विश्ववेदना के लिये अंतिम शब्द प्रसाद के हृदय से निकले हुए ये ही हैं।

सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन-सा आँसू इस विश्व सदन में॥

सांसारिक द्वन्द्व को विश्ववेदना के इस मार्ग से नष्ट करने का अनुभूति मय मार्ग प्रस्तुत कर प्रसाद जी ने विश्व को अपने 'आंसू' के रूप में एक अनुपम निधि दी है।

जैनेन्द्र की उपन्यास कला

श्री देवराज एम० ए०, डी० फिल्०

रसानुभूति अर्थात् साहित्यिक अनुभूति को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा, आलोचना—एक कठिन व्यापार है। उसमें लेखक की ही नहीं आलोचक की भी अग्नि-परीक्षा हो जाती है। विशेषतः जब आलोच्य लेखक अपनी जाति के अन्य सदस्यों की अपेक्षा असाधारण या निराला हो। किन्तु आलोचक बाध्य होता है। जीवनगत सार्थकता (Significance) की सम्प्रतीति (Vision) लेखक को और साहित्यगत सार्थकता की प्रतीति आलोचक को विवश कर देती है। दोनों का प्रयास दृष्ट या अनुभूत सत्य को प्रकाशित करने के लिए होता है; और दोनों का उद्देश्य जीवन-विषयक सत्य, जीवन के मूल्यों की चेतना की उपलब्धि है।

अब समय आ गया है कि हम अपने, अर्थात् हिन्दी के, लेखकों को विश्व-साहित्य के मानदण्ड से नापें। यह मानदण्ड कोई सिद्धान्त नहीं अपितु मानवता का अतीत और वर्तमान में प्रसरित सम्पूर्ण जीवन एवम् अनुभव ही है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की कुछ विशेषताएँ साधारण दृष्टिपात से देखी जा सकती हैं। प्रत्येक पाठक महसूस करता है कि उनमें बड़ी-बड़ी घटनाओं का अभाव रहता है। यह प्रजातन्त्र के अनुकूल तो है ही, शायद जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुछ और अर्थ भी रखता है। पात्र भी थोड़े ही होते हैं। लेखक का विश्वास है कि—'इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं' (सुनीता की प्रस्तावना)। किन्तु पात्रों और घटनाओं की कमी या अभाव से जैनेन्द्र के उपन्यास अरोचक नहीं हो पाते। वस्तुतः यदि पाठक काफी शिक्षित और सुरुचि सम्पन्न हों,

तो उसे यह उपन्यास काफी, कहीं-कहीं अत्यधिक, रोचक लगते हैं। इसका क्या रहस्य है?

वस्तुतः ऊपर के प्रश्न के स्पष्टीकरण में जैनेन्द्र की शक्ति का, उनकी कला का, रहस्य निहित है। हिन्दी के उपन्यासकारों में यह केवल उन्हीं की विशेषता है कि वे कथा के विकास के लिए घटनाओं पर बिलकुल निर्भर नहीं करते, अपितु उनके बदले जीवन की नितान्त साधारण गतियों और संकेतों का आश्रय लेते हैं। जैसे पात्र-विशेष को समझने के लिए उन घटनाओं की बिलकुल आवश्यकता नहीं है जिन्हें वह स्वयं अथवा दुनिया के लोग महत्वपूर्ण समझते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति-विशेष नितान्त अतर्कित गतियों और संकेतों में अपने को प्रकाशित करता है—उसका कोई भी इंगित, मनोविज्ञान अथवा नीति की दृष्टि से, व्यर्थ नहीं है।

तात्पर्य यह कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की विषय-वस्तु (Content) घटनाएँ नहीं, Gestures हैं। (यहाँ अवश्य ही हम घटना शब्द का बहुत वैज्ञानिक प्रयोग नहीं कर रहे हैं।) कम से कम लेखक की दो प्रमुख कृतियों, 'सुनीता' और 'कल्याणी' के सम्बन्ध में यह सत्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस अमूर्त प्राय सम्बल को लेकर लेखक किसी अंश तक भी रोचक कथा की सृष्टि कैसे कर डालता है? किस प्रकार वह जीवन की क्षुद्र भंगिमाओं को सार्थकता के भार से भाराविन्त कर देता है? बात यह है कि, लेखक के ही शब्दों में, 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है।' किस प्रकार क्षुद्र में महत्, पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्वित या प्रतिफलित हो रहा है, किस प्रकार जीवन का प्रत्येक कण सम्पूर्ण जीवन की गरिमा से मंडित है और उसे समझने की कुञ्जी है, यह लक्षित करना जैनेन्द्र की कला की अपनी विशेषता है। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ ने अपने प्रसिद्ध 'हास्य' (Laughter) निबन्ध के उपोद्घात में हास को लक्ष्य करके लिखा है—However tvival it may be, we shall treat it with tbe respeot due to life. जीवन के क्षुद्रतम संकेतों के प्रति जैनेन्द्र का यही भाव है। यह नहीं कि वर्तमान काल के अन्य औपन्यासिक ऐसा ही भाव नहीं रखते—रूस के सर्वदर्शी कलाकार टॉल्सटाय मानवता के किस गतिलेश की उपेक्षा करते हैं? किन्तु जैनेन्द्र अनवरत घटनाओं को बचाते हुए इन्हीं पर निर्भर करते हैं। उनके पात्रों की सारी उत्तेजना एक दूसरे के क्षुद्र इंगितों को केन्द्र बनाकर घूर्णमान होती है और पाठक पद-पद पर अकिंचन क्षुद्र की शक्ति एवम् महत्ता से चकित और अभिभूत होता है।

जैनेन्द्र की कला के वे उपकरण क्या हैं जिनके द्वारा वे क्षुद्र की महत्ता का उद्घाटन करते हैं? उत्तर है, मनोविज्ञान और दर्शन। पात्रों की गतिभङ्गियों को गहन मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तथ्यों से सम्बद्ध करके यह लेखक उन्हें निराली सार्थकता (Significance) से रञ्जित कर देता है। सतर्क पाठक को उक्त कथन के निदर्शन पाने में कठिनाई नहीं होगी। कहा जा सकता है कि 'सुनीता' की सारी समस्या मनोवैज्ञानिक है और 'कल्याणी' की मुख्यतः नैतिक। 'मुख्यतः' इसलिए कि 'सुनीता' नैतिक गुत्थियों से शून्य नहीं है और कल्याणी का व्यक्तित्व मनोविज्ञान की दृष्टि से अनूठा है। यद्यपि उसकी अपनी समस्या प्रायः नैतिक है। 'सुनीता' दम्पति की ऊब से शुरू होती है और यह ऊब तथा श्रीकान्त की हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में अभिरुचि एवं उसके प्रति आकर्षण कथानक को आगे बढ़ाते हैं। अन्त तक सुनीता और हरिप्रसन्न एक-दूसरे के लिए तथा पाठकों के लिये मनोवैज्ञानिक पहेली बने रहते हैं। श्रीकान्त की उदारता भी मनोवैज्ञानिक प्रश्न सा लगती है। सत्या का व्यक्तित्वमात्र मनोवैज्ञानिक सार्थकता रखता प्रतीत होता है, वह उपन्यास की नैतिक प्रगति में कोई योग नहीं देती। कुछ विशेष घटनाएँ भी देखें। लेखक बाँस में लगी बुहारा से मकड़ियों के जाले हटाती हुई सुनीता के सौन्दर्य का नहीं, मन का विशेष वर्णन करता है।—"यह मकड़ी इतनी जाने कहाँ से पैदा होकर आ जाती हैं,......जाने इतना सारा जाला अपने पेट में कहाँ से निकाल लेती हैं।" ......जैसे वह मकड़ी अपनी घिनौनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही है।......आगे चलकर हम पढ़ते हैं 'हरिप्रसन्न मानों मकान में नहीं है, "घर" में है।' निम्न वाक्य में सत्या के

gasture की कैसी रोचक व्याख्या है ?—"और पास लगी-लगी सत्या मानों जतला रही है—कि "जैसी मुझ से हो सकी वैसी नमस्ते मैंने कर ली है। तुम नहीं जानते तो मैं भी नहीं जानती, मैं जोर से बोल कर नमस्ते कहने वाली नहीं हूँ।" सुनीता की अनुपस्थिति में खाना बनाने का उपक्रम करते हुए श्रीकान्त और हरिप्रसन्न बिलकुल हल्की-हल्की बातें करते हैं पर न जाने क्यों वे हमें नितान्त रोचक और अर्थपूर्ण जान पड़ती हैं। वाचकनवी गार्गी की भाँति कल्याणी प्रश्न पर प्रश्न किए जाती है। इस पर उपन्यास का वक्ता कहता है—'स्पष्ट वह बहस चाहती थीं। सुनना चाहती थी, कहना चाहती थी। कुछ करने की गर्मी चाहती थी।' कल्याणी की निरपेक्ष आत्मलीनता से अपनी बात कहते पाकर वक्ता महोदय कहते हैं--'कह कर उन्होंने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं हूँ ही नहीं। जैसे मेरे अभाव में दीवार के सामने भी यह सवाल इसी प्रकार रक्खा जा सकता है।' यहाँ पाठक के मनोविनोद का हेतु स्पष्ट ही एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का अतिरंजित उल्लेख है।

क्षुद्र को महत्त्वपूर्ण दिखाने का लेखक का दूसरा अस्त्र दर्शन है। दर्शन से मतलब है जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों का अनुचिन्तन। वास्तव में दार्शनिकता जैनेन्द्र का स्वभाव ही है, वह कहीं बाहर से लाई हुई चीज नहीं। तभी तो वह ऐसे घरेलू शब्दों में इतने तीव्र रूप में प्रकट हो जाती है। अपने दार्शनिक उद्गारों को लाने के लिए लेखक को किसी बड़े अवसर की अपेक्षा नहीं होती, न कोई भूमिका ही बाँधनी पड़ती है। वे सहज, स्वतः निकल पड़ते हैं और पाठक को अपनी स्वभाविकता एवं सरल आकस्मिकता से अभिभूत कर लेते हैं। साधारण पाठक को सन्देह भी नहीं होता कि वह कोई दुरूह बात सुन रहा है, वह सहसा चमत्कृत होकर रह जाता है। 'त्यागपत्र' में प्रमोद कहता है—'जीवन में एक बात तो नहीं है, दसियों बातें हैं।' जैनेन्द्र को भी जीवन चारों ओर से जटिल मालूम पड़ता है। उनके उपन्यासों में कम से कम एक पात्र अवश्य दार्शनिक होता है—अथवा कई में थोड़ा-थोड़ा दार्शनिकता का अंश मिला रहता है; उस अंश में वे पात्र अपने स्रष्टा के जिज्ञासु अथवा प्रज्ञाशील मस्तिष्क को पाये रहते हैं। प्रमोद कहता है—'घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं। हम जीते हैं और जीते जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस हौंस से आरम्भ करते हैं। पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब कैसी उकताहट जी में भर जाती है।' कितने सीधे पर मार्मिक उद्गार हैं! कहीं-कहीं जैनेन्द्र के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं—'सत्य अहं रूपी नहीं है और जानना सब अहं रूप है। इससे सत्य जाना नहीं जाता' और 'हमारी धारणाएँ हमारी कुठरियाँ हैं। उनमें हमारा ठिकाना है। वे हमें गर्म रखती हैं और अँधेरे में रखती हैं।...... हमारे सारे सगुण विशेषण मानो चौखटे हैं, जिनमें हम अपने को और औरों को जड़कर देखने के आदी हैं।' स्वयं स्पिनोजा और काण्ट ने भी इससे अधिक गम्भीर बातें कब कही हैं? अपनी सरल व्यञ्जना से पाठक को धोखा देने वाले ऐसे उद्गार जैनेन्द्र में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। और पद-पद पर पाठक आश्चर्य करता है कि इतनी सीधी भाषा में ऐसी कठिन बातें कैसे कही जा सकती हैं।

इन उपकरणों द्वारा जैनेन्द्र अपने कथानक को रोचक बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम उनके पात्रों में अभिरुचि लेते हैं या तो इसलिए कि उनके व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिक जटिलता है, अथवा इसलिए कि वे निरन्तर जीवन की नैतिक सार्थकता को सजग भाव से देखते या खोजते रहते हैं।

२

गतवर्ष मेरे (अधिक ठीक कहूँ तो जैन कालेज, आरा के) एक विद्यार्थी * ने "सुनीता कार की कला" पर एक निबन्ध लिख कर मुझे दिखाया। उसके कुछ वाक्य मुझे मार्मिक लगे।—"सुनीता में घटनाएँ बिलकुल नहीं हैं...... घटनाओं के सहारे लेखक पाठक के मस्तिष्क में अनन्तकाल के लिए एक गहरा चिह्न बना देता है। इन्हीं घटनाओं को लेकर पाठक अपने विचारों को जमाता है, और अपने पास इसी स्थल से कुछ रख लेता है।...... सचमुच कभी-कभी पाठक सोचने लगता है कि

* श्रीयुत सत्यदेव बी० ए० (द्वितीय वर्ष)

"सुनीता" से कुछ मिला या नहीं। सच पूछिए तो वह खाली-खाली मालूम (महसूस ?) करता है। इस उद्धरण के दूसरे और तीसरे वाक्यों में अपेक्षाकृत कठिन भावों को भाषा में बाँधा गया है, इसलिए वे मुझे अच्छे लगे। साथ ही जैनेन्द्र की कला पर एक निष्पक्ष-सी सम्मति भी पढ़ने को मिली। इसके बाद मैंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' पुस्तक में जैनेन्द्र की आलोचना पढ़ी। उनकी 'दूसरी शिकायत (पहली को जाने दीजिए—लेखक) यह है कि जैनेन्द्रजी अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके सुख-दुख को सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं।······सच पूछिए तो उन पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती।' आगे वे कहते हैं—'जो व्यक्ति भावना की गहराई में इतनी दूर तक पैठ सकता है वह उसे परिमार्जित स्वरूप नहीं दे सकता यह बात समझ में नहीं आती।'

ऊपर की आलोचनाओं में अवश्य ही जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की किसी कमी की ओर संकेत हैं। हम उस कमी को अपने ढङ्ग से समझने की चेष्टा करेंगे।

इतने मनोविज्ञान और दर्शन का सम्बल होते हुए भी जैनेन्द्र विश्व के प्रथम श्रेणी के कलाकारों—टाल्सटॉय, डॉस्टोईव्स्की, रोमांरोलां, टॉमसहार्डी आदि—की श्रेणी में पहुँचते हुए क्यों नहीं दिखाई देते ? क्यों आज भारतीय औपन्यासिकों में भी उनका स्थान सर्वोच्च नहीं दीखता ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वे अपने मनोविज्ञान और दार्शनिकता का उचित उपयोग नहीं कर पाते ?

बात कुछ ऐसी ही है। वस्तुस्थिति यह है कि जैनेन्द्र अपनी शक्तियों का एक निर्दिष्ट दिशा में प्रयोग नहीं करते। उनका मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिन्तन दोनों, अलग-अलग अथवा साथ, एक हृदयगम्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रवृत्त नहीं होते। अपनी सारी मनोवैज्ञानिकता के बावजूद वे हमारे सामने पात्रों के अभ्यन्तर को खोल कर नहीं रख पाते और न वे अपने चिन्तन से किसी समस्या के हल पर पहुँचते हुए ही दीखते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके पात्रों के चित्र पूरे नहीं उतरते, इसके कई कारण हैं। पात्रों की विशिष्ट परिस्थितियों—उनके सफल विश्लेषण—में लेखक का जितना आग्रह दीखता है उतना उनके सम्पूर्ण जीवन को प्रकाशित करने में नहीं। झाड़ू देती हुई सुनीता क्या सोचती है, यह बताने का समय लेखक को मिल जाता है, किन्तु अपने जीवन की दिशा, अपने प्रमुख सङ्कल्पों और सम्बन्धों के बारे में उसकी विचारात्मक प्रतिक्रिया क्या है, यह बताने की वह विशेष चिन्ता नहीं करता। हरिप्रसन्न की उपस्थिति में सुनीता के मन में क्या-क्या विकल्प उठते हैं; कैसा द्वन्द्व रहता है, यह न हम सुनीता के न किसी और पात्र अथवा स्वयं लेखक के उद्गारों से जान पाते हैं। ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र पात्रों के व्यक्तित्व का नहीं उनकी विशिष्ट (Particular) गतियों का मर्मोद्घाटन करने बैठते हैं। उनमें विश्लेषण-पटुता पर्याप्त मात्रा में है, पर समन्वय-शक्ति का अभाव-सा है। वे पात्र विशेष को अपनी सम्पूर्णता में दिखाने की कम चेष्टा करते हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगाल एवं फ्रायड और एडलर के अनुसार भी मानव-जीवन लक्ष्योन्मुख होता है। किसी लेखक को समझने का अर्थ उसके उठाए हुए प्रश्न और समाधान को ठीक-ठीक समझना है। इसी प्रकार पात्र-विशेष को समझना उसके जीवन के प्रमुख लक्ष्य की जानकारी के बिना नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के पात्र जीवन में किसी लक्ष्य को लेकर चलते हुए दिखाई नहीं देते—उनके समझे जाने में यह एक बड़ी बाधा है। घटनाएं स्वतः महत्वपूर्ण नहीं होती। उनकी महत्ता और स्मरणीयता का कारण यही होता है कि वे पात्र-विशेष के लक्ष्य को आगे या पीछे ढकेलती हैं। ऐसी दशा में कोई भी घटना महत्वपूर्ण बन जाती है। (नाटक की परम्परागत धारणा के मूल में कुछ ऐसा ही तत्व है।) जैनेन्द्र के उपन्यासों में कुछ और प्रकार की घटनाएँ हो सकती हैं, पर इस प्रकार की घटनाएँ नहीं हैं। वहाँ घटनाएँ किसी लक्ष्य की अपेक्षा से सार्थक नहीं हो उठतीं। आधुनिक युग के अन्य औपन्यासिकों में भी 'बड़ी घटनाएँ' नहीं होतीं, फिर भी वे घटना-शून्य प्रतीत नहीं होते। गाल्सवर्दी के एक हजार पृष्ठ के (Forsyte Saga) में बड़ी घटनाएँ कहाँ हैं ? फिर भी वह न (Abstract) लगता है, न रहस्यमय। हम नायिक और नायिका दोनों के

जीवन को क्रमशः अधिकाधिक समझते चलते हैं। सुनीता की सबसे स्मरणीय घटना—नायिका का नग्न होना—भी किसी चिर-अन्वेषित लक्ष्य से सम्बद्ध नहीं दीखती—किसी नैतिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का पर्यवसान नहीं मालूम पड़ती।

स्पष्ट लक्ष्य के अभाव में जैनेन्द्र के पात्र क्रियाशील नहीं हो पाते। उनकी मनोवैज्ञानिक जटिलता और नैतिक चिन्ताशीलता दिशाहीन प्रतीत होती है। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी हो सकता है, किन्तु रवीन्द्र के 'गोरा' जैसा तेज उसमें कहाँ है? रवीन्द्र की 'कुमुदिनी' में भी जहाँ नायिका का मानस-चित्रण प्रधान है, उसके पति और भाई में कर्मण्यता की कमी नहीं है। (गाल्सवर्दी की इरीन का पति भी क्रियाशील है, और नायिका की बचे रहने की इच्छा उसके व्यक्तित्व को गतिमय बना देती है।) पात्रों की क्रियाशीलता पाठकों के मन पर उनके लक्ष्यों और सम्मतियों का महत्त्व अंकित कर देती है।

इसी प्रकार उपन्यासों का चिन्तन भी प्रभविष्णु नहीं हो पाता। जैनेन्द्र और उनके पात्र किसी स्पष्ट प्रश्न को लेकर नहीं चलते। जीवन की प्रत्येक गति की नैतिक या दार्शनिक व्याख्या करने का प्रयत्न दीख पड़ता है, इसीलिए सम्पूर्ण जीवन पर तेज प्रकाश नहीं पड़ पाता। ऐसा लगता है कि लेखक अथवा उनके दार्शनिक पात्रों को पद-पद पर जटिल प्रश्न दिखाई देते हैं, पर वे उन अनेक प्रश्नों को एक सुस्पष्ट बड़ी समस्या के रूप में नहीं देख पाते। जीवन की समस्याएँ बहुत सी हैं और थोड़ी भी। चिन्तन की सुविधा के लिए बहुत से प्रश्नों को एक दो महती समस्याओं के रूप में सामने रख लिया जाता है। दूसरे, उपन्यास में दार्शनिक समस्या पात्रों के जीवन में से उठती हुई दीखनी चाहिए। किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में हम ऐसा नहीं पाते। उनका कोई भी पात्र किसी समय किसी भी समस्या पर सोचने लग सकता है। 'कल्याणी' में यह दोष अति रञ्जित रूप में पाया जाता है। पात्रों के जीवन के समान उनके चिन्तन-उद्गारों की दिशा का पता लगाना कठिन हो जाता है। उपन्यास के चिन्तन का केन्द्र पात्रों की व्यवहारिक समस्याएँ होती हैं; जैनेन्द्र इस प्रतिबन्ध को मानते नहीं दीखते। कहीं-कहीं उनके पात्रों का चिन्तन बहुत लम्बा लगने लगता है। रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' में भी लम्बी स्पीचें और स्वागत उद्गार हैं; किन्तु पात्रों की आशा-कांक्षा और प्रयत्नों से सीधे सम्बद्ध होने के कारण वे अरोचक नहीं हो पाते।[१]

असली जीवन में चिन्तन काफ़ी हद तक Rationalization (वासनामूलक पक्षपातों को यौक्तिक सिद्ध करने) रूप होता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्र अक्सर असली दार्शनिकों की भाँति, निरपेक्ष (Impersonal) ढंग से सोचते हैं। ऐसा लगता है मानो लेखक ने उनके पूरे व्यक्तित्व में से अवसर-विशेष के लिए केवल दार्शनिक अंश को चुन लिया है। 'कल्याणी' में चिन्तन प्रधान है, इसलिये उसमें यह दोष भी अधिक मात्रा में है। जो महाशय 'कल्याणी' की कथा कह रहे हैं वे एक जगह अपने को वृद्ध बता डालते हैं। इसलिये, उनमें तटस्थ दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त किसी मानवी दुर्बलता की आशा नहीं करनी चाहिये। कल्याणी उनके लिये मात्र मानो अध्ययन की वस्तु है, उससे उनका कोई दूसरा जीवन्त सम्बन्ध नहीं है। उन्हें कल्याणी की याद क्यों आती है, इसका एक मात्र उत्तर यही है क्योंकि कल्याणी का व्यक्तित्व एक नैतिक और मनोवैज्ञानिक उलझन है, समस्या है। कल्याणी के प्रति उनके हृदय में कोई विकार तो हो ही नहीं सकता—मानो इसीलिए वे चिरवृद्ध बना दिए गए हैं! ऐसे निस्संग पुरुष असली जीवन में कम होते हैं। श्रीकान्त की एकान्त उदारता भी कठिनता से समझ में आती है—लेखक ने जैसे जान बूझ कर उसके अन्तर्द्वन्द्व को, जिसकी सम्भावना का सिनेमा में बीज दिखाई देता है, दबा डाला है।

१—गोरा अपने को हिन्दू कहता है, रवीन्द्र सिद्ध करना चाहते हैं कि वह मनुष्य है—मानवता का दावा प्रधान है। उसे जन्म से आयरिश होने का ज्ञान कराके वे दल-बद्ध मनुष्य के सत्यांश और मिथ्यांश पर अत्यन्त तेज रोशनी डाल सके हैं। 'गोरा' की प्रधान समस्या एक और स्पष्ट है।

ऊपर हमने यथाशक्ति जैनेन्द्र की कला से सम्बद्ध सत्य को खोजने की चेष्टा की है। अपनी सारी कमियों के बाव-जूद (और किस कलाकार में कमियाँ नहीं होती?) जैनेन्द्र एक बहुत ही मौलिक लेखक हैं। दृष्टिकोण की नवीनता से वे छोटी से छोटी घटना को असाधारण बना देते हैं। बुआ के जीवन पर सोचता हुआ "त्यागपत्र" का प्रमोद उनके दुःखों के लिए समाज को नहीं, अपने को दोषी ठहराता है। उसका मुख्य अधिक्षेप समाज के नहीं अपने विरुद्ध है—मैं इतना दुर्बल क्यों निकला, क्यों बुआ की माँग मुझ से पूरी नहीं हुई?' उसका यह उद्‌गार कितना मार्मिक है कि—'मैं सहायता का मन लेकर आया था। देखता हूँ, सहायता कोई लेता नहीं।' जैनेन्द्र की कृतियों में 'सुनीता' सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें विशेष ढङ्ग के मनोविज्ञान और दर्शन का सन्तुलित सम्मिश्रण है। जैनेन्द्र का साथ छोड़ने के बाद, उनके उपन्यासों को समाप्त कर चुकने पर ही, हम उनकी मौलिकता के जादू से बच-कर उनकी कमियों को देख पाते हैं।

ध्रुवस्वामिनी

श्री रामरघुवीरप्रसादसिंह

साहित्य-सन्देश भाग ६ अङ्क १-२ में प्रकाशित श्री सत्येन्द्रजी ने 'प्रसादजी के नाटक और पात्र कल्पना' में प्रसादजी के कुल नाटकों पर प्रकाश डालते हुए भी, उनके एक महत्वपूर्ण नाटक ध्रुवस्वामिनी की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। ध्रुवस्वामिनी का प्रसादजी के नाटकों में एक महत्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है। इसलिए बिना ध्रुवस्वामिनी के अध्ययन के उनके (प्रसादजी) नाटकों का सांस्कृतिक चेतना, पात्र कल्पना और चरित्र-चित्रण का पूर्णतः विकास नहीं देखा जा सकता है। इसीलिए मैं सत्येन्द्रजी के ही दृष्टिकोण से ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए बाध्य हुआ हूँ।

ध्रुवस्वामिनी प्रसादजी का अन्तिम नाटक है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सं० १९९० वि० में हुआ—ठीक चन्द्रगुप्त के दो वर्षों बाद। इसीलिए इसमें हम उनकी विकसित कला का रूप देख सकते हैं। इस नाटक का कथानक स्कन्दगुप्त की तरह गुप्तकाल से लिया गया है, जो भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल है। बौद्धधर्म अपनी तांत्रिक स्थूलता के कारण दूषित हो गया था और गुप्तों के उदय के साथ ही उसका प्रभाव—जिसका सुन्दर स्वरूप हम अजातशत्रु में देखते हैं। क्षीण हो चला था और वैष्णव धर्म की पुनः जागृति हुई थी। गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के संरक्षक थे और अपने नाम के साथ गौरव के साथ 'परम भागवत वैष्णव' जोड़ते थे।

ध्रुवस्वामिनी में मुख्यतः दो समस्याएँ हैं (१) ध्रुव-स्वामिनी के मोक्ष की (divorce) समस्या, जिसमें धर्म की समस्या भी गुँथी हुई है और (२) राजतन्त्र की समस्या जिसमें शक और गुप्तों का जातीय संघर्ष भी विद्यमान है। लेकिन प्रसादजी के इस नाटक में सामयिक समस्या ही धर्म का अवरोध पाकर प्रमुख हो उठती है। जिसका समाधान नाटक के अन्त में महादेवी ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष में हो जाता है। सामाजिक समस्या को लेखक ने स्वयं ध्रुवस्वामिनी के मुख से दो बार कहलाया है (१) 'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है.........यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते।' (२) आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र, क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है। यह पहला वाक्य रामगुप्त के प्रति और दूसरा पुरोहित के प्रति है। इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी का प्रश्न सामाजिक और धार्मिक हो उठता है; जिस समस्या का समाधान पुरोहित के

निम्न वाक्य से हो जाता है—'यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राज किल्विषी क्लीब है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।'''''' मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।' पुरोहित के इस निर्णय के द्वारा वैष्णव-धर्म की व्यापकता तथा महत्ता प्रकट हो जाती है।

यद्यपि जातीय संघर्ष इस नाटक में भी विद्यमान है, लेकिन वह विशाख नाटक की तरह ही संकेत तथा मूल समस्या का सहायक बन कर रह गया है। राजतन्त्र की समस्या चन्द्रगुप्त नाटक की तरह इसमें भी सुस्पष्ट है। रामगुप्त जो गुप्त कुल का दूषण है, अपने भाई चन्द्रगुप्त (जिसे आर्य समुद्रगुप्त ने अपना वास्तविक उत्तराधिकारी घोषित किया था) के शील-संकोच से लाभ उठा कर तथा शिखर स्वामी के स्वार्थ लक समर्थन से राजा हो जाता है। वह अत्यन्त ही विलासी तथा राज्य-संचालन के सर्वथा अयोग्य है। उसे आर्य समुद्रगुप्त द्वारा अर्जित गुप्त कुल की कीर्ति और मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं है। वह सन्देह के वशीभूत होकर गुप्तकुल की लक्ष्मी महादेवी ध्रुवस्वामिनी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए शकशिविर में उपहार के रूप में शकराज के पास भेज देता है। चन्द्रगुप्त स्त्री का वेष धारण करके ध्रुवस्वामिनी के साथ शक-शिविर में जाता है और शकराज को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारता है। शकराज की मृत्यु होती है और सामन्त कुमारों द्वारा बाहर शक सेना विध्वंस होता है। विजय प्राप्त कर दोनों लौटते हैं और राजतन्त्र में ध्रुवस्वामिनी को लेकर गड़बड़ी पैदा होता है। परिषद् बुलाई जाती है और परिषद् के सभ्य अयोग्य और कायर रामगुप्त के विरुद्ध निर्णय देते हैं। 'पतित और क्लीब रामगुप्त, गुप्त साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।" इस प्रकार राजतन्त्र की समस्या हल हो जाती है।

चन्द्रगुप्त में कथासूत्र की उलझन के बाद लेखक का पथ फिर प्रशस्त हो गया था, इसीलिए ध्रुवस्वामिनी में कथासूत्र की सरलता आ गई है। इसमें दो कथासूत्र हैं। एक चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का आन्तरिक स्नेहभाव और दूसरा शकराज के प्रति कोमा का सरल प्रेम। बीच में शकराज की चढ़ाई के फलस्वरूप दोनों कथानकों में तीव्रता उत्पन्न होती है और अन्त में शकराज की मृत्यु से दोनों का समाधान हो जाता है। कथानक आरम्भ से ही द्वन्द्व को लेकर चलता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की दुरभिसन्धि और अमानुषिक व्यवहारों से तङ्ग होकर प्रारम्भ में ही कहती है "सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरणों में लोटना ही चाहिए न।" उधर रामगुप्त सोचता है "जगत की अनुपम सुन्दरी मुझ से स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।" दोनों के अन्दर जो यह विरोधी द्वन्द्व चल रहा है, वही कथानक में तीव्रता उत्पन्न कर देता है उधर शकराज ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त करने की लालसा में निरीह कोमा के कुसुम-कोमल हृदय को कुचल देता है और कोमा सोचती है, "मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँखें बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका—उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जायें और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे?" लेकिन फिर नारी-सुलभ कोमलता के वशीभूत होकर उस मोह पाश को छिन्न करने में अपने को असमर्थ पाती है और अपने पिता को सम्बोधित करके कह उठती है, "ना ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" फिर शकराज की मृत्यु से उसके अन्दर नारी की स्वाभाविक करुणा जाग्रत हो उठती है और उसका हृदय विवेक पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह ध्रुवस्वामिनी से प्रार्थिनी होती है, "रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सब के जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय, हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्वदान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।"

लेकिन ध्रुवस्वामिनी को उदार बनने का अवसर ही नहीं मिला। इसका कारण एक तो रामगुप्त का दुर्व्यवहार और दूसरा चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण में धार्मिक अवरोध। उसका 'नारी हृदय, जिसके मध्य-बिन्दु से हट कर शास्त्र का एक मन्त्र, कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्तन चक्र में घूमने से रोक रहा है।—प्रतिक्रिया उत्पन्न करने का कारण हो जाता है।

ध्रुवस्वामिनी इस नाटक की सशक्त पात्री है। वह संघर्ष से निरन्तर युद्ध करते हुए विजयलक्ष्मी के रूप में गुप्तवंश को आलोकित कर देती है। उसमें दैन्य की छाया तो कहीं पड़ी ही नहीं है—सिर्फ एक बार को छोड़ कर, जब उसने रामगुप्त के सामने अपने पत्नीत्व के रक्षार्थ प्रार्थना की थी। लेकिन यहीं पर पुरुष की उदासीनता ने नारी के अन्दर पौरुष का भाव उद्दीप्त कर दिया।

चन्द्रगुप्त के बाद इसी नाटक में पुरुष और स्त्री अपना अपना अलग व्यक्तित्व लेकर कंधे से कन्धा भिड़ाकर जीवन क्षेत्र में अग्रसर हो सके हैं।

प्रसाद के अन्य नाटकों की तरह करुणापूर्ण मानवीय सहानुभूति का स्वर इसमें भी कुछ-कुछ कोमा और मिहिर-देव के भाषण में परिलक्षित होता है; लेकिन चन्द्रगुप्त नाटक से ही यह स्वर राज्यक्रान्ति और विजयोल्लास में इतना दब गया है, कि हम उसका केवल क्षीण आभास ही पाते हैं। इसका कारण भी हमें चन्द्रगुप्त नाटक में ही मिल जाता है। चाणक्य कहता है, "शक्ति हो जाने दो फिर क्षमा का विचार करना।' चन्द्रगुप्त में ही एक स्थान पर जयशङ्कर 'प्रसाद' ने चाणक्य के द्वारा अपना दृष्टिकोण भी प्रकट कर दिया है; 'त्याग और क्षमा तप और विद्या, तेज और सम्मान के लिए है—लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए नहीं।"

प्रसाद का चन्द्रगुप्त नाटक उनकी साहित्य-साधना का एक विराम-स्थल है। जहाँ पहुँच कर उन्होंने एक नया जीवन-दर्शन प्राप्त कर लिया है और ध्रुवस्वामिनी उसी की प्रेरणा स्वरूप उनकी साहित्य-यात्रा का एक नया कदम है।

सेनापति का प्रकृति चित्रण

श्री गुलाबराय एम० ए०

मानव और प्रकृति—कविता हमारा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। शेष सृष्टि में हम ही से हाड़-माँस-चाम के शरीर से आच्छादित से चेतन और सुख-दुख, प्रेम, दया, क्रोध, आशा-निराशा की भावदशा से आन्दोलित और आकर्षण-निकर्षण और तटस्थ भाव के पात्र-स्वरूप मनुष्य आते हैं और उन्हीं के साथ सौम्य और विकराल रूपों में नित्य परिवर्तनशील वह प्रकृति जो हमारी क्रीड़ा-स्थली ही नहीं वरन् बहुत अंश में हमारी सहचरी भी दृष्टिगोचर होती है। साहित्य में भावों का प्राधान्य होने के कारण उसका मुख्य विषय तो मानव ही है किन्तु प्रकृति की भी उपेक्षा नहीं की जाती। बिना प्रकृति की रंग-स्थली के मानव-समाज का नाटक अधूरा रहता है। इसलिये काव्य में प्रकृति का वर्णन मानव-क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि के रूप में तो होता ही है, किन्तु कभी-कभी हम उस रङ्ग-स्थली से मानव को अलग कर स्वयं उसकी ही शोभा से आकर्षित हो उस का वर्णन करने लगते हैं। पहले प्रकार के वर्णन को साहित्य शास्त्र की पारिभाषिक भाषा में उद्दीपन रूप से वर्णन कहते हैं, और दूसरे प्रकार के विवरण को आलम्बन रूप से कहते हैं। यह बात माननी पड़ेगी कि प्रकृति में मनुष्य का-सा ही आकर्षण और विकर्षण है। उसमें मानवी भावों के आरोप की भी पात्रता है। अति प्राचीन काल में तो मनुष्य उसमें मनो-वेगों का आरोप ही नहीं करता था वरन् उसको दृढ़ विश्वास था कि उसके उग्र और सौम्य-रूप मनुष्य के से मनोरागों से प्रेरित हैं। दार्शनिक लोग भी उसमें वही

आध्यात्मिक सत्ता से ओतप्रोत देखने जो मनुष्य को भी अनुप्राणित और अनुशासित कर रही है। कवियों ने उसका वर्णन कभी तो शुद्ध सौन्दर्योपासक के नाते उसके प्राकृतिक-रूप में और कभी उसमें मानवी करण करके किया।

संस्कृत कवियों का ध्यान प्रकृति की ओर कुछ अधिक गया है। उसका कारण भी है तपोवनों तथा हिन्दू धार्मिक जीवन के नित्य कर्मों में हिन्दुओं का प्रकृति के साथ सहज सम्पर्क रहा है। संस्कृत कवियों के प्राकृतिक वर्णन बड़े उत्कृष्ट हैं किन्तु उनके वर्णन भी प्रकृति के उद्दीपनत्व से खाली नहीं। भवभूति के अधिकांश वर्णन जैसे एतेत एव गिरयो विरवन्मयूरास्तान्येव मत्त हरिणानि आदि पूर्वानुभूत सुखों के साक्षिरूप होकर सम्बन्ध ज्ञान से उनकी स्मृति हरी कर देते हैं, और करुणा पर सान चढ़ा देते हैं। कालिदास का अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनामनागाधिराजः वाले प्रसिद्ध श्लोक से आरम्भ होने वाला हिमालय का वर्णन बहुत मनोरम है किन्तु वहाँ हिमालय का वर्णन पार्वती-जनक के शरीर रूप में ही है, उसको मानवी-करण कहना तो ठीक न होगा क्योंकि कालिदास के मन में आरोप भावना न थी। वह वर्णन मानव या देवरूप में ही हुआ है। अठारहवें श्लोक में ही प्रकृति चित्रण का पर्दा उठ जाता है, और मानव का सा चेतन व्यापार आरम्भ होता है—पर्वतराज का विवाह हो जाता है—मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे। बाल्मीकि आदि के वर्णन भी बहुत सुन्दर है, किन्तु वे सब प्रसङ्गागत हैं। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि संस्कृत कवियों के वर्णन विशुद्ध प्रकृति प्रेम से प्रेरित न होते हुये भी प्रकृति से सूक्ष्म और सीधे सम्पर्क के द्योतक है। मानव अपने से बच नहीं सकता और यदि संस्कृत कवियों में प्रकृति का वर्णन मानव सम्पर्क से ही कहा जाय तो उनकी कुछ गौरव-हानि नहीं होती।

रीतिकाल का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण—विलास वैभव की प्राचीन काल में भी कमी न थी किन्तु हिन्दुओं की धार्मिकता विशेषकर सरस्वती के उपासकों में प्रकृति से सम्पर्क बनाये रखती थी। मुसलमानी सभ्यता ने प्रकृति से सीधा सम्पर्क कुछ कम कर दिया था और विलास वैभव की वैज्ञानिक व्यवस्था सी हो चली थी। हमारे रीतिकाल के कवियों ने उसी वातावरण में आँखें खोली थीं। उनको साहित्य-शास्त्र का पाण्डित्य तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ ही था।

हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें होती हैं (१) अपनी श्रेष्ठता किसी दूसरे क्षेत्र में दिखाना, पूर्वजों का गुणगान करना तथा उनके पुण्य-प्रताप के बल-भरोसे भविष्य के सुख-स्वप्न देखना। (२) अथवा हास-विलास की मदिरा के प्याले में अपने दुख को डुबा देना। सेनापति भक्तिकाल और रीतिकाल के सन्धिकाल के कवियों में से हैं। इसीलिए उनमें धार्मिक और श्रृङ्गार और अलङ्कार प्रियता की उभय पक्षी मनोवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—एक का परिस्फुटन रामभक्ति सम्बन्धिनी कविताओं में हुआ, दूसरी का श्लेष-वर्णन श्रृङ्गार-वर्णन और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी रचनाओं में।

सेनापति ने ऋतु वर्णन चार प्रकार से किया है। (१) उद्दीपन रूप से। (२) श्लेषादि अलङ्कारिक चमत्कार दिखलाने के लिए। (३) मानवीकरण करके। (४) आलम्बन रूप से। इनमें उद्दीपन रूप की प्रधानता है।

उद्दीपन रूप से वर्णन—अन्य उद्दीपनों की भाँति श्रृङ्गार के भी उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—एक मानवी और दूसरे प्राकृतिक या दैवी। मानवी उद्दीपनों में मुस्कराहट, भ्रूभङ्ग, गीत, वाद्य, दूती आदि हैं और प्राकृतिक में चन्दन, चांदनी, चोया, यमुनापुलिन वंशीवट आदि। केशव ने तो मानवी उद्दीपन ही लिये हैं। मतिराम ने प्राकृतिक उद्दीपनों को इस प्रकार गिनाया है—

चन्द्र कमल चन्दन अगर, ऋतु बन बाग विहार।
उद्दीपन श्रृङ्गार के, ये उज्ज्वल श्रृंगार॥

सेनापति ने इनमें ऋतुओं को विशेष महत्व दिया है। सभी कवि इसको किसी न किसी अंश में महत्ता देते है। इसको आचार्यों ने (केशव ने भी कविप्रिया में) वर्ण्य विषयों में मान कर कवि कर्म का अङ्ग समझा है। ऋतुओं का सम्बन्ध श्रृंगार के संयोग वियोगात्मक दोनों पक्षों से

है। सेनापति ने संयोग पक्ष कुछ अधिक लिखा है। वियोग पक्ष भी अछूता नहीं है।

संयोग पक्ष—यह विशेष रूप से कृष्ण सम्बन्धी पदों में दिखाई देता है। सेनापति के संयोग सम्बन्धी छन्दों का ऋतुवर्णन तत्कालीन विलास-वैभव की समाज से प्रभावित है। देखिए—

प्रात उठि आइबे कौं, तेलहि लगाइबे कौं,
मलि-मलि न्हाइबे कौं गरम हमाम है।
ओढ़िबे कौं साल, जे बिसाल हैं अनेक रंग,
बैठिबे कौं सभा जहाँ सूरज कौं घाम है॥
धूप कौं अगर, सेनापति सोंधौ सौरभ कौं,
सुख करिबे को छिति अन्तर को धाम है।
आये अगहन हिम-पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम हैं॥

अब जरा ग्रीष्म सम्बन्धी विलास वैभव का चित्र देखिए:—

सुन्दर बिराजैं राज-मंदिर सरस, ताके
बीच सुख-दैनी, सैनं[1] सीरक उसीर की
उछरैं सलिल, जल-जंत्र ह्वै, बिमल उठैं,
सीतल सुगन्ध मन्द लहर समीर की
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं,
छिरकी पटीर[2] नीर टाटी तीर तीर की।
ऐसे विहरत दिन ग्रीसम के बितवत,
सेनापति दम्पति मया तें रघुबीर की।

इसमें सेनापति ने शृङ्गार और वैभव प्रियता के साथ रघुवरोपासना का भी परिचय दे दिया है। ऋतु वर्णन के इन चित्रों में ऋतुओं की कठिनाइयों पर विजय पाने के मानवकृत साधनों की प्रधानता है। सेनापति के मानवी वैभव के साज सम्मान से स्वतन्त्र प्रकृति के वर्णन बड़े आकर्षक है, इनमें आलम्बनत्व की प्रधानता है। वर्षा का वर्णन देखिए:—

बरसत घन, गरजत सघन, दामिनि दिपै अकास।
तपति हरी सलफौ करी, सब जीवन की आस॥
सब जीवन की आस, पास नूतन तिन अलगन।
सोर करत पिक-मोर, रटत चातक बिहंग गन

१—शैया। २—चन्दन।

गगन छिपे रवि चन्द, हरष सेनापति सरसत।
उमगि चले नद-नदी, सलिल पूरन सर बरसत।

सेनापति की व्यापक दृष्टि सम्पन्न प्रभू लोगों तक ही सीमित नहीं रही किन्तु जाड़ों में विशेष कष्ट उठाने वाले गरीब लोगों पर भी पड़ी है। देखिए—

धूम नैन बहै, लोग आगि पर गिरे रहै
हिए सों लगाइ रहै नैक सुलगाइ है

और लीजिए—

आयौ जोर जड़कालौ, परत प्रबल पालौ,
लोगन कौ लालौ पर्यो, जियै कित जाय कै
ताप्यौ चाहै बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानौ है पराए, ऐसे भाए ठिठराइ कै।

जो लोग शीत काल में सुबह के वक्त कुछ काम करने को बाहर निकलते हैं वे सेनापति के सूक्ष्म निरीक्षण की दाद दिये बिना न रहेंगे।

संयोग के सुख की बातें कहीं-कहीं अश्लीलता की ओर तक पहुँच गई हैं।

वियोग-पक्ष—परम्परा के अनुसार वियोग शृंगार के अन्तर्गत ऋतुवर्णन प्राय: गोपियों से सम्बन्धित है। कहीं तमाल, रसाल आदि वृक्ष कुछ तो रूप-सादृश्य के कारण और कुछ पूर्वानुभूत सुखों के साक्षित्व के कारण विरह-वेदना को तीव्र कर देते हैं। देखिए—

केतकि, असोक, नव चम्पक बकुल कुल
कौन धौं बियोगिनी कौं ऐसो बिकराल है
सेनापति साँवरे की, सूरति की सुरति की
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है।

× × ×

लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साल, पै रसाल उरसाल है।

ऋतुओं का उद्दीपन से वर्णन अस्वाभाविक नहीं है। ऋतुओं का हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है और मन का प्रभाव उनकी सौन्दर्यानुभूति में बाधक या साधक होता है। प्रकृति का उद्दीपन या आलम्बन रूप से वर्णन तभी हास्यास्पद हो जाता है जब उसमें कोरा शाब्दिक चमत्कार रह जाता है। ऐसे चमत्कार केशव में बहुतायत से है, सेनापति

में उनकी कमी नहीं है किन्तु उनके छन्दों में शाब्दिक चमत्कार के साथ बिम्ब ग्रहण भी पर्याप्त मात्रा में है। उनके वर्णन वास्तविकता लिए हुए है।

श्लेष-चमत्कार—वैसे तो सेनापति ने स्थान स्थान पर अलङ्कारिक चमत्कार दिखलाया है। किन्तु कुछ छन्दों में यह विशेष रूप से प्रकट होता है, इसीलिए उनके कुछ छन्द श्लेष सम्बन्धिनी पहली और ऋतु-वर्णन सम्बन्धिनी तीसरी तरङ्ग में समान रूप से पाये जाते हैं। एक में तो स्वयं सेनापति ही अपनी कविता की तारीफ किये बिना नहीं रह सके हैं, देखिए:—

देखै छिति अम्बर जलै है चारि ओर छोर
तिन तरुवर सभी को रूप हरयों।

× × ×

देखो चतुराई सेनापति कविताई की जु
ग्रीषम विषम वर्षा की सम करयो है।

जलै (जलता है, और पानी) और हरयों (हर लिया है और हरा) के श्लेष चमत्कार के आधार पर ग्रीष्म और वर्षा की समानता स्थापित की गई है। इसमें कविता की चतुराई ही चतुराई है।

सेनापति में शाब्दिक चमत्कार है किन्तु वह चमत्कार जब उनके कथन की पुष्टि के रूप में आता है तब वह निरर्थक नहीं रहता है। देखिए नीचे के छन्द में शाब्दिक चमत्कार के साथ ज्योतिष की जानकारी चमत्कार को और भी चमका देती है।

और की कहा है, सविता हू सीत रितु जानि,
सीत को सतायों धन रासि में परत है।

श्लेष के चमत्कार के साथ सेनापति ने यत्र-तत्र अतिशयोक्ति का भी सहारा लिया है। किन्तु उनकी अतिशयोक्तियाँ कुछ-कुछ वास्तविकता का सहारा लिये हुए है देखिए:—

कलप सी राति सो तो सोए न सिराति कौ हू,
सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है।

सेनापति मेरे जान दिन हू में राति भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियत है।

दिन की बड़ाई का जो वर्णन उन्होंने किया है वह और भी सुन्दर है:—

सोइ जागे जानै दिन दूसरो भयो है,
कालिह की सी करी भोरैं भोर ही कहत है।

मानवीकरण—प्रकृति के मानवीकरण में प्रकृति के साथ मानव की भी प्रधानता रहती है। सेनापति में प्रकृति के मानवीकरण का कार्य कल्पना और शब्द साम्य के कारण सहल हो गया है। वसन्त का दूलह रूप देखिए:—

धरयौ है रसाल मौर सरस सिरस रुचि,
ऊँचे सब कुल मिले गनत न अन्त है।

× × ×

सेनापति धुनि द्विज साखा उचरत देखौ।
बनी दुलहिन बनी, दूलह बसन्त है॥

आलम्बन रूप के वर्णन—आलम्बन रूप के वर्णनों के कुछ उदाहरण आ चुके हैं। ऋतुओं के वर्णनों में कहीं तो उद्दीपनता स्पष्ट कर दी गई है और कहीं उसका लेश मात्र को भी उल्लेख नहीं है। वहाँ उद्दीपनत्व व्यञ्जित हो सकता है किन्तु हम उनको आलम्बन रूप के भी कह सकते हैं और वे अधिकांश में हैं भी। ऐसे ही वर्णनों में शुद्ध प्रकृति का ही रूप दिखाई देता है। सेनापति के वर्णन में हमको सूक्ष्म निरीक्षण और बिम्ब ग्रहण तथा संश्लिष्ट योजना की शक्ति का परिचय मिलता है। वे सभी प्रकार के बादलों को एक लाठी से नहीं हाँकते। सावन और कुँआर की वर्षा के बादलों का भेद नीचे के छन्दों में स्पष्ट है। श्रावण के बादलों की घटा काली और मण्डलाकार होती है: तो क्वार के बादल जल से रिक्त श्वेत और छिन्न-भिन्न होते हैं:—सेनापति ने दोनों ही चित्र दिये हैं।

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसान धुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर क ढोइ कै।
घन सौं गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानो रबि गयो खोइ कै।

चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहति हरि सोइ कै॥

इसके साथ क्वार के बादलों की छटा की तुलना कीजिए—

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानो सृङ्ग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकै छछारे छिति अधिक उछार के॥
सलिल सहल मानौ सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत है, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥

इन दोनों वर्णनों में यद्यपि तुलनात्मक विरोध दिखाई देता है। एक जगह काजल के पहाड़ हैं तो दूसरी जगह स्फटिक के। तूल के महल में रूप और गुण साम्य पूरा-पूरा है। सावन में बादल छा जाते हैं और क्वार के खण्ड-खण्ड दिखाई देते हैं। सावन के बादलों को स्पष्ट रूप से भरे तोइ के कहा गया है। 'आए हैं पहार मानौ काजर के ठोइ कै'। ठोइ के क्रिया उनके बोझिलपने के अनुकूल है। क्वार के बादलों को पूरब कौं भाजत कहा गया है। भाजना उनकी जल-शून्यता के अनुकूल किया है।

विशेषताएँ—इन वर्णनों से सेनापति के ऋतु-वर्णन की तीन विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

१—सेनापति के वर्णन अधिकांश में उद्दीपन रूप से हैं किन्तु आलम्बन रूप के वर्णनों का अभाव नहीं है।

२—इन वर्णनों में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ बिम्ब-ग्रहण और संश्लिष्ट योजना है। इनमें केशव का सा परिगणन मात्र नहीं है।

३—ये वर्णन कल्पना से रङ्गीन और अलङ्कारों से सुसज्जित हैं। अलङ्कार और विशेषकर श्लेष तो सेनापति की विशेषता है हो, लेकिन उन्होंने कल्पना की भी ऊँची उड़ान ली है। वर्षा के चार महीने देवताओं के सोते रहने की काव्यमय व्याख्या हम पहले ही देख चुके हैं—'चारि मास भर स्याम निसा के भरम करि, मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइकैं' कहने से वर्षा ऋतु के तमाधिक्य का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। नल के पानी के ऊँचे उठने के सम्बन्ध में कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

ऊरध गमन बारि, ताकी छबि कौं निहारि,
सेनापति कछु बरनन कौं करत है।
मति कोउ तरु बिनु सीच्यौ रहि गयौ होइ,
ताहि फेरि सीचौं यह जीय में धरत है॥
याते मानौ जल, जल यंत्र के कपट करि,
बाग देखिबे कौं ऊपर कौं उछरत है।

तुलना—इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने प्रकृति वर्णन में केशव का सा कवि-कर्तव्य का पालन मात्र ही नहीं किया है वरन् उनका हृदय इस कार्य में रमा है। उन्होंने शाब्दिक चमत्कार का आश्रय लिया अवश्य है किन्तु वे उसमें फँस नहीं गये हैं। शाब्दिक चमत्कार के बल पर उन्होंने उपवन नहीं रचे हैं। वे सेब और बेर शब्द मात्र लाकर प्रकृति वर्णन की इति कर्तव्यता नहीं समझ बैठते और न वे अर्जुन भीम के शब्द साम्य के आधार पर पंचवटी को पाण्डवों की प्रतिमा बना देते हैं—'पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो।' न वे 'एला ललित लवंग संग पुङ्गीफल सोहै' कह कर नाम परिगणन की प्रवृत्ति में पड़ते हैं। यदि ऐसा करते भी हैं तो अपने वस्तु-वर्णन को अलंकृत करने के लिये उनके नामों के पीछे वस्तुएँ रहती हैं। केशव ने रसिकप्रिया में तो ऋतु वर्णन किया ही नहीं। कविप्रिया में जो वर्णन किये वे श्लेष-प्रधान हैं। श्लेष में दो पक्षों को सम महत्व मिलने से दोनों का महत्व कम हो जाता है साथ ही उसमें उल्लास के स्थान में प्रयास दिखाई देता है।

सेनापति ने लूँओं का वर्णन किया है। किन्तु ग्रीष्म के ही समय वर्णन में, बिहारी की भाँति माह पूस में नहीं। कुछ वर्णनों में जैसे जेठ की दुपहरी के वर्णन में (छाँहौ चाहति छाँह्) पावस के रातद्यौस के अभेद में और पूस के दिनमान वर्णन में (घरहि जँवाई लौं घट्यौ पूस दिनमान) में बिहारी के वर्णन उनके से हो हैं। बिहारी में कहीं-कहीं चमत्कार का आधिक्य है किन्तु पूर्ववर्ती होने के कारण सेनापति को अधिक श्रेय दिया जायगा। सेनापति ने भी जायसी की भाँति प्रकृति को मानवी रूप

दिया है किन्तु उसे बात बात में मानव के साथ रुलाया-हँसाया नहीं। सेनापति के वर्णन जायसी और बिहारी की भाँति सिद्ध नहीं है वरन् वे उत्प्रेक्षा द्वारा सम्भावित मात्र है। बसन्त के मानवीकरण में जितना चमत्कार और निरीक्षण कौशल विद्यापति ने दिखलाया है उतना सेनापति में नहीं है। बसन्त के जन्मोत्सव में धतूरे के फूल को तुरहीकार और नागकेसर के फूल को शङ्ख बजाने वाला कह कर विद्यापति ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है—देखिए कालहरकार धतूरा, नागकेशर, 'कलि संख धुनि पूर'। सेनापति की कुछ उद्भावनाओं में विद्यापति की छाया भी दिखाई पड़ती है। 'आछे अलि अच्छा' और 'मधुकर माला आखर पाँति' में बहुत कुछ साम्य है सम्भव है यह आकस्मिक ही हो किन्तु इसको देखकर हमारा मन इस अनुमान की ओर अवश्य दौड़ता है कि सेनापति ने विद्यापति की छाया ग्रहण की किन्तु इतने से सेनापति का मान नहीं घटता, फिर भी यह कहा जायगा कि प्रकृति वर्णन में अद्वितीय हैं।

साहित्य-समीक्षा

आलोचना

मैथिलीशरण गुप्त लेखक श्री सरस्वती पारीक एम० ए०, (गोकुलदास गर्ल्स इन्टरमिजिएट कॉलेज मुरादाबाद,) प्रकाशक—लेखिका स्वयं। पृष्ठ संख्या १००, मू० १)

रंग-भंग (सं० १६६६) से लेकर विश्व-वेदना (सं० १६६६) तक एक शताब्दी के एक तिहाई वर्षों में गुप्तजी ने जो वाग्देवी की निरन्तर उपासना की है, उसका बड़ा सहानुभूतिपूर्ण चित्रण लेखिका ने स्पष्ट और परिमार्जित भाषा में किया है। कवि के भावों को हृदयंगम करने के लिए आलोचक में जिस सहृदयता की आवश्यकता होती है, उसका तनिक भी अभाव इस पुस्तक में कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त संक्षेप में परिचयात्मक रूप से बिना किसी शब्दाडम्बर के बहुत कुछ कह दिया गया है; गुप्तजी की कोई भी कृति छूटने नहीं पाई है। लेखिका की दृष्टि में 'गुप्तजी आधुनिक युग के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं' और उसका विश्वास है कि जब कभी भी प्राचीन और अर्वाचीन कवियों को एक पंक्ति में बिठाने का प्रश्न उठेगा जब समय गुप्तजी को तुलसी और सूर के उपरान्त ही स्थान मिलेगा। गुप्तजी जैसे बहुमुखी कलाकार का मूल्याङ्कन करना कोई सरल काम नहीं है। इस प्रकार की आलोचनाओं में एक दृष्टिकोण से देखने पर दूसरे दृष्टिकोण के आँखों से ओझल होने की आशङ्का सदा बनी रहती है। संभवतः इसी कारण 'रहो रहो पुरुषार्थ यही है पत्नी तक न साथ लाये' जैसे पंक्तियों के अनौचित्य पर भी लेखिका की दृष्टि नहीं जा पाई है किन्तु जिस प्रकार को परिचयात्मक पुस्तक में इससे अधिक किया भी क्या जा सकता था? पुस्तक से लेखिका की सुरुचि और उसको समन्वयात्मक वृत्ति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। गुप्तजी के समस्त ग्रन्थों का एक साथ परिचय प्राप्त करने के लिए पुस्तक बहुत उपयोगी है।

कामायनी मीमांसा—ले० शीलभद्र, प्रकाशक—व्रती भ्राता गणपत रोड लाहौर, मू० १), पृष्ठ ६२।

विशेषतः प्रभाकर और साहित्य-रत्न के परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर इस पुस्तक की रचना की गई है। कामायनी-विषयक प्रश्नों को २३ शीर्षकों में विभाजित कर लेखक ने संक्षेप में अपने विचारों को प्रकट किया है। ऐसा जान पड़ता है मानो विद्वान् अध्यापक के तैयार किये हुए ये क्लास-नोट्स हों, इसीलिए संभवतः इस पुस्तक में व्यर्थ का शब्दाडम्बर और पिष्टपेषण नहीं है। 'क्या ही अच्छा कहा है!' वाली थोथी भावुकतामयी तथा कथित प्रभाववादी शैली इस पुस्तक में कहीं नहीं

मिलती। लेखक की शैली सुस्पष्ट और विशद है। अनेक स्थानों पर कामायनी के कतिपय पद्यों की बड़ी मार्मिक व्याख्या की गई है यद्यपि सभी स्थानों पर मैं लेखक से सहमत नहीं हूँ। उदाहरणार्थ कामायनी में जहाँ चिन्ता को सम्बोधित करते हुए 'री ललाट की खल रेखा!' कहा गया है, उसकी व्याख्या करते हुए श्री शीलभद्रजी कहते हैं 'वह ललाट की खल रेखा अर्थात् भाग्य की दुष्टि लिपि की तरह भयावनी है' किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि सौन्दर्य को विकृत और दूषित करने वाली जो रेखाएँ मनुष्य के ललाट पर पड़ जाती हैं वे बहुतांश में चिन्ताजन्य होती हैं। अमूर्त चिन्ता का एक मूर्त रूप (क्योंकि) चिन्ता के विविध मूर्त रूप दिखलाई पड़ते हैं। किसी को देखना हो तो वह ललाट की रेखाओं में देख ले। अपनी 'इल पेंसरोसो' शीर्षक कविता में मिल्टन ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है। संभवतः प्रसाद भी इसी बात की ओर संकेत कर रहे हैं। अस्तु।

लेखक ने कामायनी और 'पद्मावत' के रूपक में साम्य ढूँढ़ा है। साम्य हो सकता है किन्तु दोनों की रूपक-शैली में अन्तर भी बहुत है। प्रसादजी ऐसी रुचि के व्यक्ति नहीं थे जो श्लेष द्वारा दो अर्थ निकालें जैसा जायसी ने स्थान-स्थान पर किया है। उन्हीं के शब्दों में 'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समासोक्ति और अन्योक्ति का आश्रय लिया जाता है। कामायनी में मनु और श्रद्धा का आख्यान प्रस्तुत है और मानसिक वृत्तियों के रूप में मन और श्रद्धा का आख्यान अप्रस्तुत है। क्या इस महाकाव्य में अप्रस्तुत साध्य और प्रस्तुत साधन है? जहाँ तक मैं समझता हूँ कामायनी में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का तारतम्य प्रसादजी को अभीष्ट न था। जायसी की तरह इस भेद पर उन्होंने जोर नहीं दिया है।

श्रीशीलभद्रजी कामायनी का गहरा अध्ययन कर यदि अपने विचारों को और अधिक पल्लवित कर सकें तो निश्चय ही अपने परिवर्द्धित रूप में 'कामायनी मीमांसा' सहानुभूतिपूर्ण आलोचना का सुन्दर रूप प्रस्तुत कर सकेगा। —कन्हैयालाल सहल

नवयुग का प्रश्न—सम्पादक—श्री सत्येन्द्र। प्रकाशक—पोद्दार कॉलेज नवलगढ़। पृष्ठ ११०, मू० १)

'नवयुग का प्रश्न' पोद्दार कॉलेज नवलगढ़ (जयपुर) की साहित्य-परिषद् में आमन्त्रित हिन्दी के कुछ लेखकों से किए गए विशेष प्रश्नों और उनके उत्तरों का पुस्तिका रूप में सङ्कलित एक प्रयत्न है। इस प्रश्नोत्तरी का सम्पादन उस कॉलेज के हिन्दी-अध्यापक और परिषद् के प्रधान श्री सत्येन्द्रजी एम० ए० ने किया है।

प्रश्न संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—युग परिवर्तन हो रहा है या नहीं?

२—किस आधार पर आप कहते हैं कि परिवर्तन हुआ है?

३—यह परिवर्तन हमारे भूत वर्तमान और भविष्य के साहित्य को किस रूप में प्रभावित करेगा?

इन प्रश्नों के उत्तर सभी प्रकार के हैं। कोई कहता है—युग नहीं बदल रहा है। दूसरे का कहना है—युग बदल रहा है। तीसरे कहते हैं—युग बदल तो रहा है, पर ढङ्ग से नहीं बदल रहा है। इसी प्रकार जहाँ साहित्य की समस्या का प्रश्न है, वहाँ एक विचारक का मत है कि इस युग की विकट समस्या है रोटी। अन्य की धारणा है वह होनी चाहिए मानवता। और इसी प्रकार कोई बताता है कला, कोई अध्यात्म, कोई गान्धीवाद, कोई राष्ट्रीयता और कोई समाजवाद को। एक शास्त्रीजी का कहना है—

"युग परिवर्तन किस बात का? दिन बड़े हैं न रात। वही चौबीस घण्टों का ढर्रा।"

साहित्य की समस्या को लेकर इसी प्रकार डा० हेमचन्द्र जोशी का कहना है—

"वही साहित्य जीवित रहेगा जो धड़ाके की आवाज करेगा। वही साहित्य अब रहेगा जो धड़केगा—सबको बराबर कर देगा।"

तात्पर्य यह कि इस प्रकार के प्रयत्नों में जिस अव्यवस्थित विचार-धारा की सम्भावना रहती है, उसके पूरे दर्शन इसमें होंगे।

परिषद् के विचारकों में बाबू गुलाबरायजी, सत्येन्द्रजी तथा जैनेन्द्रजी थे, यह प्रसन्नता की बात है। पर और भी थोड़े से साहित्यिकों को आमन्त्रित करना था। कम से कम पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नगेन्द्रजी के विचारों से परिषद् को लाभ उठाना था।

पूरी पुस्तक में बाबू गुलाबरायजी की बातें सधी हुई, विवेक-सम्मत और सामञ्जस्य-भावना को लिये हुए हैं। लिखित वक्तव्यों में प्रो० हरिहरनाथजी टण्डन के विचार सुलझे और सन्तुलित हैं। भूत-साहित्य की महत्ता पर तो उनकी धारणा एकदम सशक्त और निश्चल है।

विद्यार्थियों ने जो प्रश्न किए हैं वे भी सभी प्रकार के हैं। पर मुझे ऐसा लगता है जैसे या तो उस इण्टर कॉलेज के विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास आवश्यकता से कुछ अधिक हो गया है, या उनके मुँह से कोई दूसरा बोल रहा है। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' और 'मधुमती भूमिका' पर वे प्रश्न कर बैठे हैं। इसी से जैनेन्द्रजी ने उत्तर में कहा है—

"मैं नहीं समझा कि मधुमती भूमिका क्या चीज है।"

पुस्तक में 'आध्यात्म' शब्द का बहुत प्रयोग है। लगता है 'अध्यात्म' ने भी थोड़ी प्रगति कर ली है।

यह नहीं है कि पुस्तक पठनीय न हो, पर विचारों का धरातल विशेष ऊँचा नहीं है। —विश्वम्भर 'मानव'।

कहानी

कलंक—लेखक-श्री राजेश्वरप्रसादसिंह। प्रकाशक-इण्डियन-प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ १८२, मू० १)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की ११ कहानियों का संकलन है। इस संग्रह की कहानियों में 'भूल' 'बेला' 'उमा' 'कलंक' तथा 'सावित्री का साहस' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। अन्य कहानियाँ अत्यन्त साधारण धरातल की हैं।

'भूल' एक ऐसी नारी की कहानी है जो पति द्वारा त्याग दिये जाने पर भी उसकी प्रतीक्षा में जीवन भर बैठी रहती है; और जब पति एक अन्य स्त्री को साथ लेकर लौटता है उसकी साधना निष्फल हो जाती है और वह आत्म-घात कर लेती है। इसमें एक पति-परायणा स्त्री का आदर्श है। 'बेला' कहानी में बेला वेश्या का युवक कृष्णचन्द्र से प्रेम हो जाता है किन्तु कृष्णचन्द्र यह जान कर कि बेला वेश्या है, उसे त्याग देता है। इस पर बेला निराश होकर जीवन-उत्सर्ग कर देती है। कृष्णचन्द्र उसकी मृत्यु पर पश्चात्ताप के आँसू बहाता है। कहानी समस्या लिये हुये है किन्तु लेखक उसे सुलझा नहीं सका है। 'उमा' कहानी का नायक बिहारी एक पर-स्त्री श्यामा से प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर अपनी पत्नी उमा की उपेक्षा करता है और उमा भी अपने पति के मित्र रतन की ओर आकर्षित हो जाती है। उमा और रतन का प्रेमालाप बिहारी की आँखें खोल देता है किन्तु ज्यों ही वह अपने कर्तव्य को पहचानता है उमा विषपान कर लेती है। 'सावित्री का साहस' शीर्षक कहानी में सावित्री अपने शराबी पति रामदास के मित्र कामताप्रसाद से अपने सतीत्व की रक्षा करती है और सताये जाने पर उसे मौत के घाट उतार देती है। रामदास उसके इस कृत्य से उसका मूल्य समझ कर उसे जेल से छुड़ा लाता है।

इन कहानियों में पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता लिये हुये तो है पर अधिक मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। —राजेन्द्र सक्सेना।

उपन्यास

कान्ता—लेखक और प्रकाशक श्री जानकी प्रसाद सिंघल एडवोकेट अलीगढ़। मूल्य ।।।)

यह पुस्तक वेदान्त-उपन्यास माला का द्वितीय मनका है। लेखक का उद्देश्य उपन्यास के कथानक रूपमें वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रचार है। यद्यपि काव्य के उद्देश्यों में कान्ता का सा मधुर उपदेश देना प्राचीन आचार्यों को मान्य था तथापि इस कान्ता में उसको कहीं-कहीं अतिशयता दिखाई देती है। उपदेश अच्छे हैं और वेदान्त और विरक्ति के सिद्धान्तों का सुलभ भाष्य में उद्घाटन करते हैं किन्तु जहाँ उनका प्रसङ्ग और न प्रसङ्ग भी घमावेश किया जाता है वहीं पाठ-

म्य हो जाते हैं। लेखक के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि उसने इस बात को छिपाया नहीं है। कथानक रोचक है और इसके पात्र त्याग और भलमनसाहत का एक उच्च आदर्श उपस्थित करते हैं। सर कुमार और लेडी कुमार के जीवन के उलट फेर और उपन्यास की आकस्मिकताएँ उपन्यास में एक विशेष कौतूहल बुद्धि उत्पन्न कर देती है। इसमें थोड़ा दैवी शक्तियों का भी सहारा लिया गया है जिनका साधारण उपन्यास में तो स्थान नहीं होता किन्तु धार्मिक दृष्टि से लिखे उपन्यास में शक्य हो जाता है।

—गुलाबराय

ससुराल—लेखक—श्री देवीप्रसाद धवन 'विकल'। प्रकाशक—गंगा पुस्तक माला, पृ० १४०, मू० १।)

'कुबेर' के बाद धवनजी का यह दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ है। भुवन इस उपन्यास का नायक है जिसे अपने मित्र राधे की धर्मपत्नी सीतादेवी के प्रयत्न के कारण धनी ससुराल प्राप्त हो सका है। इस ससुराल के लिए वह अपनी ८०) रु० मासिक की 'सर्विस' भी छोड़ देता है किन्तु ससुराल की विकट आर्थिक समस्याओं के जाल में वह इतना उलझ जाता है कि अन्त तक वह उन्हें सुलझा नहीं पाता। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं भुवन, सीता, लाला रामेश्वरनाथ, सरस्वती और नारायणदास। भुवन की स्त्री मधुरिमा को इस उपन्यास में नायिका का पद नहीं मिल सका है। राधे की स्त्री सीता के प्रति भुवन का वासनाजन्य आकर्षण ही बहुतांश में उपन्यास के घटना-चक्र को गति-विधि प्रदान करता है, इस दृष्टि से सीता ने ही उपन्यास की नायिका का स्थान ग्रहण कर लिया है। उपन्यास के प्रायः सभी पात्र अपनी जातिगत विशेषताएँ लिये हुए हैं। भुवन और सीता दोनों ही मानवी दुर्बलताओं के शिकार हैं। लाला रामेश्वरनाथ और नारायणदास व्यवहार-कुशल पात्र हैं जो छद्माशिष्टता और पाखण्ड के कारण अपना उल्लू सीधा करते हैं। मधुरिमा और उसकी माँ सरस्वती के साथ पाठकों के हृदय में सहानुभूति जाग्रत होती है।

उपन्यास की भाषा साफ-सुथरी और मुहावरेदार है। कथानक मनोरञ्जक है किन्तु उपन्यास का कोई पात्र ऐसा नहीं जो स्मृति में स्थायित्व प्राप्त कर सके।

—कन्हैयालाल सहल एम० ए०।

सूरदास—(उपन्यास) ले०—राजा राधिकारमण प्रसादसिंह एम० ए०, प्रका० श्री राजराजेश्वरी साहित्य मन्दिर, सूर्यपुरा। पृष्ठ संख्या १६४ मूल्य २)

श्री राधिकारमणजी का यह उपन्यास एक ऐसे वर्ग का चित्रण है जिसे हम सौंदर्य और प्रेम भावनाओं से कदाचित शून्य समझते हैं। इसमें मुख्य पात्र दो हैं, एक सूरदास, दूसरी धनिया। दोनों ही अंधे, शरीर से सुन्दर और स्वस्थ, किन्तु दूसरे लोगों के लिए हो, अपना मूल्य स्वयं पहचानने की कसौटी इन बिचारों के पास कहाँ। भाग्य से एक स्थान पर आ मिलते हैं। बिना दृष्टि के ही दोनों एक दूसरे को पहिचान लेते हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में 'हमने देखा कि आँख के अंधे होने से किसी की दुनियां अंधेरी नहीं होती न वह खुद ही दुनियाँ से 'अँधा होता है'। सूरदास धनिया की ओर आकर्षित होता है किन्तु उसका चिर संचित धर्म राम की भक्ति और नारी-त्याग की भावना एक दम विद्रोह कर बैठती है। वह उसे बराबर दूर रखना चाहता है, छूना भी नहीं चाहता पर उसका हृदय छू गया है उसके लिए क्या करे? धनिया का चरित्र काफी स्पष्ट है, वह तो उस लता के समान है जो सूरदास रूपी विशाल वृक्ष को घेर लेना चाहती हो 'रहने भी दो तुम्हारे जैसा मन तो राम न करे, दुश्मन का भी हो।' बुलाकी का चरित्र चित्रण भी लेखक ने सुन्दर रीति से किया है।

मुँह की भाषा का अधिक नाटकीय ढंग उपन्यास के लिए कभी उपयुक्त नहीं होता। प्रस्तुत पुस्तक इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं है। कहीं-कहीं पर बहुत अपरिचित प्रयोग भी हुए हैं जैसे बिचारी कितनी खरवन में आई है।

संक्षेप में उपन्यास का भावना चित्रण बहुत स्पष्ट एवं मनोवैज्ञानिक है।

—शर्मनलाल अग्रवाल

कविता

नीरव गीत—रचयिता स्व० पं० रमाकान्त झा, प्रकाशक–रवीन्द्र मंडल अकोला, पृष्ठ ४० मूल्य ।।)

नीरव गीत स्व० पं० रमाकान्तजी के २७ स्फुट गीतों का संग्रह है। अधिकांश रचनाओं का विषय भक्ति है। प्रत्येक कविता में ईश्वर-भक्ति तथा संसार की असारता आदि का संदेश दिया गया है। 'मन तू धीरज क्यों खोता' 'जीवन जाता है पल पल में' आदि गीत इसी प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त 'हम देशभक्त कहलाते हैं' 'रे नर कहना मान' आदि कवितायें जन-जागरण की भावना लिये हुये हैं।

पं० रमाकांतजी की कविता अधिक विकास को प्राप्त होती किन्तु वे अकाल ही काल के गाल में चले गये। फिर भी उनके इन गीतों में तन्मयता है। भावों में सजीवता है तथा अनुभूति की गहराई है। —राजेन्द्र

निराधार—रचयिता तथा प्रकाशक—विश्वम्भर 'मानव' एम० ए० बनवटा, मुरादाबाद। पृष्ठ संख्या १२६ मूल्य १।)

श्री विश्वम्भर 'मानव' भावयित्री प्रतिभा सम्पन्न भी हैं और कारयित्री प्रतिभा सम्पन्न भी। वे समीक्षक भी हैं और कलाकार भी। 'निराधार' उनके सफल कलाकार होने का अच्छा प्रमाण है। इसमें श्री 'मानव' के जीवन से सम्बद्ध मुक्त छन्द में वर्णित नौ कहानियाँ हैं। वर्णन-पद्धति से यही विदित होता है इनका सम्बन्ध उन्हीं के जीवन से है अथवा नहीं इस विषय में प्रामाणिकता पूर्वक तो श्री 'मानव' ही कह सकेंगे। यदि इनका सम्बन्ध श्री 'मानव' के जीवन से होगा भी तो इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने कल्पना के उपयोग का अधिकार संभवतः न छोड़ा हो। श्री 'मानव' ने आत्मकथा की जिस काव्यात्मक पद्धति का अवलंब लिया है वह हिन्दी साहित्य के लिए नवीन होने के कारण प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। ये कहानियाँ आत्मकथात्मक हैं अतः इनमें श्री 'मानव' के व्यक्तित्व की झलक सर्वत्र मिलती है। इनके द्वारा उनकी सरिकता, स्पष्ट वादिता तथा विशुद्ध हृदयता स्पष्टतः लक्षित होती है।

'निराधार' में मुक्त छंदों में वर्णित कथाएँ हैं, अतः इसमें काव्यत्व के साथ ही कथात्व भी है। कहानी-कला की दृष्टि से भी ये कहानियाँ बड़ी सुन्दर हैं। 'भाभी,' 'मीरा' और 'सुषमा' में यह भली भांति देखा जा सकता है।

'निराधार' की 'महामाया,' 'श्यामा,' 'मिस वायलेट' तथा 'भारती,' नामक कहानियाँ प्रेम कहानी की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। 'मिसवायलेट' में परिचय की सीमा तक ही पहुँचा हुआ प्रेम है। 'महामाया' में एक निष्ठ प्रेम का प्रतिपादन है। इसमें भावुकता का बड़ा ही वेग-पूर्ण चित्र है। 'श्यामा' में तुल्य प्रेम लक्षित होता है। इसमें श्री 'मानव' भी आकर्षित हैं और श्यामा भी! 'आरती' में आरती ही विशेष रूप से आकर्षित जान पड़ती है। इसमें वेश्या के नारी-हृदय का चित्र है। वेश्या के प्रति पूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। 'भाभी' में नारी के वात्सल्य प्रेम, और बाल-हठ का अच्छा चित्र है। 'चन्दा' को हम एक रेखा-चित्र कहेंगे। इसमें ब्राह्मण होते हुए भी मुन्शीजी कहलाने वाले पुरानी मनोवृत्ति के अध्यापक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। मुंशीजी का चित्र बड़ा व्यंग्यात्मक है। इसमें बालक की नटखटी का भी अच्छा चित्र है। 'मीरा', में भिखारिन बालिका की ईमानदारी चित्रित है। वह अपनी मजदूरी ही लेती है। दयावश दिया हुआ पूरा रुपया नहीं। 'नरगिस' में हिन्दू-मुसलिम एकता की प्रेरणा है। 'सुषमा' में भाई-बहिन के प्रेम के साथ ही प्रेम के सम्बन्ध में शंकालु मनोवृत्ति का बड़ा मार्मिक चित्र है। ये कहानियाँ प्रायः यथार्थवादी हैं, परन्तु शिष्ट। प्रेम कहानियाँ यथार्थवादी होकर भी अश्लील नहीं हैं। इसकी भाषा सरल होते हुए भी व्यंजनापूर्ण और सप्रवाह है। कहीं-कहीं प्रांतीय वा एक देशीय शब्द आ गए हैं, जो कुछ खटकते हैं। परन्तु ऐसे शब्द दो-चार ही हैं।

विश्वास है कि नवीन और काव्यात्मक प्रणाली पर लिखी गई इस आत्मकथा का स्वागत सारा हिंदी-संसार करेगा।

—शिवनाथ एम० ए०

सम्पादकीय
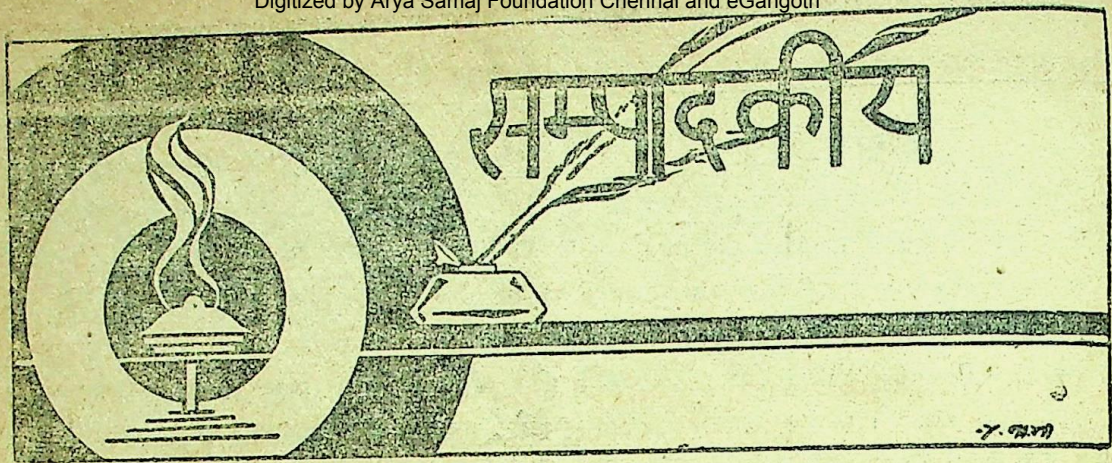
साहित्यकार संसद—

ऐसे बिरले ही साहित्यकार हैं जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशङ्करप्रसाद या मैथिलीशरण गुप्त की तरह रोटी की चिन्ता से मुक्त हों। अधिकतर लेखक ऐसे ही मिलेंगे जिन्हें अपनी उदरपूर्ति के लिए अपनी लेखनी का ही सहारा लेना पड़ता है। साहित्यकार स्वभाव से ही भावुक होता है अतः प्रायः व्यवहार कुशल नहीं होता। प्रकाशक उन्हें प्रकाश में लाकर कुछ सहारा जरूर देते हैं पर जितना अपनी जेब भरते हैं, उतना लेखक को नहीं देते। उनकी अपनी कठिनाइयाँ हो सकती हैं पर जिनके मस्तिष्क और लेखनी से वे लाभ उठाते हैं उन्हें उचित पारिश्रमिक न देकर वे सचमुच उनके साथ बड़ा अन्याय करते हैं। हमें यह लिखते दुःख होता है कि आज हिन्दी में अधिकांश प्रकाशक ऐसे ही हैं। यही कारण है कि अधिकांश लेखक पर्याप्त परिश्रम करते रहने पर भी दुःखी रहते हैं और अपनी वृद्धावस्था बुरी तरह बिताते हैं।

महादेवी वर्मा और अन्य कुछ लेखकों ने ऐसे साहित्यकारों के सहारे के लिये 'साहित्यकार संसद' नाम से एक नई संस्था स्थापित की है। यह संस्था लेखकों के ग्रन्थों को स्वयं प्रकाशित करेगी और उसका लाभ लेखकों को ही देगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी संस्थाकी बड़ी भारी जरूरत थी और श्रीमती महादेवी ने उसे स्थापित करके बड़ा पुनीत काम किया है। हमारा विश्वास है कि इस संस्था से गरीब लेखकों को बहुत लाभ होगा और उन्हें सचमुच एक सहारा हो जायगा। पर आज जैसी दशा है उसमें एक दम पुस्तकें प्रकाशित करने का प्रबन्ध शायद न हो सके। उस दशा में संसद के लिए पर्याप्त निधि इकट्ठा करने का काम जोरों से होना जरूरी है। इस बात की भी जरूरत है कि संसद की शाखाएँ स्थान-स्थान पर खोली जायँ और यह स्थानीय शाखाएँ वहाँ के लेखकों के लेखों और ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का, उन्हें उचित पुरस्कार दिलाने का, उनके ग्रन्थों के प्रूफ दिखाने या सुन्दर छपाने का, उनके और प्रकाशकों के बीच में पड़े हुए झंझटों को निपटाने का और उन्हें यथावश्यक सहायता दिलाने का काम करें। यह शाखा-सभाएँ संसद के लिये निधि एकत्र करने में भी योग दें। हम चाहते हैं कि यह संसद उन्नति करे और सभी साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करके उनके विश्वास भाजन भी बने। जो सज्जन इस संसद को सहायता देना चाहें वे श्रीमती महादेवी वर्मा, १ एलगिनरोड, प्रयाग से पत्र-व्यवहार करें।

ब्रज साहित्य मण्डल—

३-४ मार्च को उक्त मंडल का वार्षिक अधिवेशन बड़ी धूमधाम के साथ दिल्ली में सम्पन्न हुआ। श्री पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी अधिवेशन के सभापति थे आपका भाषण बहु संयत और श्रेष्ठ था। अष्ट छाप के कवियों का जो प्रदर्शन इस अवसर पर हुआ वह उसकी एक विशेषता थी। मंडल ब्रजभाषा साहित्य के प्रकाशन और परिवर्द्धन में तथा प्राचीन संस्कृति की रक्षा में सचेत है। उसकी ओर से गत वर्ष विक्रम महोत्सव बड़ी शान से मनाया गया था। इस उत्सव पर 'विक्रमोत्सव ग्रन्थ' नाम से एक ग्रन्थ मंडल ने प्रकाशित किया है जिसमें विक्रम के सम्बन्ध के पठनीय लेखों का संग्रह है। ग्रन्थ बड़े आकार में छपा है। श्रीमान मदनमोहनजी नागर एम० ए० (क्यूरेटर मथुरा, म्यूजियम) ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। मूल्य १॥) रक्खा गया है। मंडल इस प्रकाशन के लिए बधाई का पात्र है। आशा है कि मंडल की मुख पत्रिका 'ब्रजभारती' भी पुनर्जीवित होगी। उससे ब्रज साहित्य पर अच्छा प्रकाश पड़ रहा था।

सुखसंचारक
अशोकारिष्ट
श्वेत व रक्त, प्रदर
एवं गर्भाशय रोगोंकी
अचूक दवा
सुख संचारक कं० लि० मथुरा

जी. जी. फ्रूट प्रिज़र्विंग फैक्टरी आगरा

जी. जी. इण्डस्ट्रीज़

जी० जी० सेल्स डिपो:—(१) किताब महल, होर्नबी रोड बम्बई। (२) चावड़ी बाजार देहली। (३) मून हाउस पी ४० मिशन रो एक्सटैन्शन, कलकत्ता। (४) मैसर्स गिरधरलाल वकील, दर्जी चोक बरेली। (५) मैसर्स गिरधरलाल वकील जनरलगंज, कानपुर।

Sahitya Sandesh, Agra. REGD, NO. A.263

स्वदेशी बीमा कम्पनी लि० आगरा
की
अपूर्व योजनायें

उमाचरणलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर [illegible] आगरा से प्रकाशित किया।

सम्पादक
...ाचराय एम० ए०

सञ्चालक
महेन्द्र

...प्रैल १९४५
...ार्षिक मूल्य ३)

...ाहित्य-सन्देश

विषय-सूची

भाग ७] आगरा, अप्रैल १९४५ [अङ्क १

काव्य में रमणीयता और सौन्दर्य

श्री शिवनरायणजी शर्मा सा० भू०

[प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने साहित्य-दर्पण और रस-गंगाधर की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं का एकीकरण करते हुए रस वा रमणीयता वा भाव मग्नता को ही काव्य का मुख्य कारण माना है। रसमग्नता को श्लाघनीयता से भिन्न माना है। लेखक के मतानुसार सौन्दर्य रमणीयता का बाह्याङ्ग है। पाश्चात्य समीक्षा में सौन्दर्य को मुख्यता दी जाने के कारण काव्य भी कलाओं के अन्तर्गत है। भारतीय दृष्टिकोण से, सौन्दर्य की अपेक्षा रस को मुख्यता दी जाती है। लेखक ने सौन्दर्य का वैयक्तिक पक्ष मानते हुए भी उसके वस्तुगत रूप को मुख्यता दी है। लोक-रुचि ही उसको वैयक्तिक से वास्तविक बना देती है।—सम्पादक]

विविध ग्रन्थों ने काव्य की विविध परिभाषा की हैं। 'काव्य प्रकाश' ने केवल इतना ही लिख छोड़ा है कि 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवान 'अलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् जो रचना दोष रहित, गुण सहित, विविध अलंकारों से विभूषित हो वह काव्य है। किन्तु इससे काव्य का प्रयोजन नहीं सधता। शब्द और अर्थ तो दोनों एक दूसरे पर निर्धारित हैं। बिना अर्थ के शब्द नहीं हो सकता और बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। फिर यह काव्य की परिभाषा नहीं हुई वरन् इसके दो प्रमुख अवयवों से युक्त इसका स्थूल स्वरूप हो गया। किन्तु यदि इन्हीं दो प्रधान अवयवों से बने वाक्य के पहले एक रसमय शब्द जोड़ कर कहें कि रसमय वाक्य ही काव्य है तो यह काव्य के स्थूल रूप के सिवा इसके भीतरी तत्व का भी बोधक होगा। साहित्य-दर्पण का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। अब यदि इसको हम व्यापक अर्थ में प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि रस साहित्य अथवा नाटक के पठन-श्रवण-दर्शन जनित आनन्द का वाचक है और विविध भावनाओं के आस्वादन का बोध कराता है। अतः रस में रमणीयता है। रस-गंगाधर के अनुसार 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। इसमें काव्य का रस-सम्बन्धी तत्व रमणीय शब्द से व्यक्त कर दिया गया। काव्य में रस है। काव्य में रमणीयता है। रस रमणीय है। मन को रमाने की क्षमता काव्यों में ही है। काव्य का वास्तविक अर्थ निकलता है रसमग्न होवे ये। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों का विधान

कर के रसमग्न करने वाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता।

कवि लोक का अनुशीलन करते हुए उनकी विभूतियों से प्रभावित होता है और उसमें छिपी हुई शक्ति प्रस्फुटित होती है। लोक-जीवन से प्राप्त कवि की अनुभूति तीन गुणों से विशिष्ट होती है—सत्यता, शिवता और सुन्दरता। सत्यता अनुभूति का वह गुण है जो उसकी सत्ता को प्रमाणित करता है। शिवता उपयोगिता को और सुन्दरता आकर्षण को। सत्यता और शिवता काव्य के आभ्यन्तर गुण हैं, सुन्दरता बाह्य। कवि इन्हीं बाह्य गुणों से प्रभावित होता है। पाठक के आकर्षण का भी कारण यही बाह्य-गुण है। और इस तरह सौन्दर्य ही काव्य की प्रमुख चीज़ होती है। सत्यता और शिवता सौन्दर्य के पीठ मर्द भले हों किन्तु सौन्दर्य ही प्रत्यक्ष है। पाश्चात्य विद्वानों ने, पाठकों को जो अनुभूति काव्यों से उत्पन्न होती है उसे सौंदर्यानुभूति कहा है। किन्तु यदि सौन्दर्यानुभूति ही काव्य की आत्मा मान ली जाय तो यह और कलाओं की ही कोटि में आ जायगी। इसकी उत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराने वाली कोई चीज नहीं रह जायगी।

और कलाओं में सौन्दर्य ही प्रधान हुआ करता है। वास्तुकला की कोई कीर्ति देख कर उसके सौंदर्य की प्रशंसा की जाती है किन्तु उससे उत्पन्न भावों में मग्न नहीं हुआ जाता। मूर्तिकला में भी मूर्तिकार की प्रशंसा अवश्य की जाती है किन्तु उससे उपजे भावों में मग्न नहीं हुआ जाता। इस तरह इन कलाओं में बाह्य सौंदर्य का आधिक्य और स्थायित्व तथा रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है। चित्र-कला और संगीत कला में भी यही बात है। संगीत-कला में से यदि काव्य-कला निकाल लें तो यह शुद्ध गले बाजी के सिवा और कुछ नहीं रह जायगी। संगीत कला-तो अपना अस्तित्व प्रदर्शित करने के लिए काव्यकला का सहारा लेती है तभी इसमें रमणीयता आती है। अतः काव्य-कला के सिवा अन्यकलाओं से श्रोताओं को सौंदर्यानुभूति होती है रसानुभूति नहीं। वे चीजों के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं किन्तु भावों में रमते नहीं। काव्य-कला उत्कृष्ट इसलिए है कि पहले उसमें सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्य से वह आकृष्ट होता है। किन्तु वह आकृष्ट होकर ही नहीं रह जाता प्रत्युत उन भावों में रमता ही चलता है जो उसमें व्यक्त किए रहते हैं। इसीलिए साहित्य-दर्पण के सिद्धान्त 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' को सर्माचकों ने ठीक माना है। इसी को 'रस गंगाधर' ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर और भी स्पष्ट कर दिया है। अतः काव्य की सर्व प्रधान विशेषता रमणीयता है श्लाघनीयता नहीं। काव्य को केवल सुन्दर कह देने से उसके महत्व में बहुत कुछ कमी आ जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ललित-कला में सौन्दय प्रधान है। काव्य-कला ललित-कला के अन्तर्गत है अतः काव्यकला में भी सौन्दर्य ही प्रधान है। यही कारण है कि वे काव्य-कला में रसानुभूति की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति ही अधिक पाते हैं।

सौन्दर्य की विविध परिभाषाएँ दी गई हैं किन्तु सभी विवादास्पद हैं। कोई व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में विविध वस्तुओं से साक्षात्कार करता है किन्तु उन सभी वस्तुओं से चिर परिचित रहने पर भी अपरिचित सा ही रहता है। उनका वास्तविक रहस्य उस पर प्रकट नहीं होता। और पूछने पर वह उसका उत्तर एक रहस्य पूर्ण मौन से देता है। यही हालत सौन्दर्य की है। प्रतिदिन सुन्दर शब्द का हजारों बार प्रयोग करने पर भी अधिकांश लोग इसकी परिभाषा से अवगत नहीं हो पाते उपरोक्त वस्तु की तरह सौन्दर्य भी उनके लिए रहस्यमय ही बना रहता है। विद्वानों में भी "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ने" का ही परिचय मिलता है। यदि एक के अनुसार सौन्दर्य में आनन्ददायिनी शक्ति है तो दूसरा सुन्दर वस्तु के दर्शन मात्र से ही आनंद प्राप्त करता है और तीसरा अपनी ढपली अलग ले सौन्दर्य में निस्पृह आनन्द की प्राप्ति चाहता है। कविवर कीट्स के दृष्टि-कोण से सत्य और सुन्दर में घनिष्ट सम्बन्ध है। सत्य ही सुन्दर है और सौन्दर्य ही सत्य है। प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे ने सौन्दर्य का विलक्षण ही अर्थ लगाया है। उनके अनुसार कोई भी वास्तविक वस्तु अर्थात् काव्य की वर्ण्य वस्तु सुन्दर नहीं। सौन्दर्य अभिव्यंजना में है। हम उन्हीं

चीजों को सुन्दर कहते हैं जिन्हें लोग आदि से सुन्दर कहते आये हैं। सुन्दर कहना हमारा संस्कार हो गया है। किन्तु यदि सचमुच क्रोचे की यह उक्ति सत्य होती तो साधु महात्मा जो इन संस्कारों से विरक्त से हैं, इन चीजों को सुन्दर नहीं कहते। किन्तु ऐसा नहीं। अतः सुन्दरता और कुरूपता वस्तु का धर्म है हृदय की संस्कार जन्य वृत्ति नहीं। कुछ लोगों के अनुसार सौन्दर्य व्यक्तिगत चीज है लोकगत नहीं। एक ही चीज किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर प्रतीत हो सकती है। एक सज्जन एक स्त्री से प्रेम करते थे जिसके दो दाँत बाहर निकले हुए थे। पूछा—"महाशय ! इस स्त्री में कौन-सी ऐसी विलक्षणता है जो आप इस पर सदा लट्टू हुए रहते हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया—"काश, आप मेरी आँखों से देखते तो ऐसा प्रश्न न करते।" और तब मैं इसी सिद्धान्त पर आया कि "भिन्न रुचिर्हि लोकः।' किन्तु भिन्न-भिन्न रुचि होते हुए भी विचारों में एकता अधिक है। एक पुरुष से दूसरे पुरुष की आकृति में समनता अधिक है। एक कृश-शरीर युवक जिसको गाल चिपटी हों आँखें धसी हों, किसी को सुन्दर लगे, किन्तु वह सबों के लिए सुन्दर नहीं हो सकता वरन् एक हास्य का विषय बन जायगा। अतः सौन्दर्य का एक सामान्य आधार है। ठीक यही बात काव्य में है। उपरोक्त युवक को आलंबन बना कर यदि कवि काव्य रचना करने चले तो उसमें रमणीयता और सुन्दरता नहीं आयगी और कविता असफल रहेगी। अतः कुछ दूर में लोक में व्यक्तिगत रूप में दिखाई देने पर भी सौन्दर्य कोई व्यक्तिगत चीज नहीं। अमुक कवि को एक नायिका पसन्द है जो देखने में युवती की अपेक्षा दादी ही से अधिक समता रखती है नायिका को आलंबन बनाकर की गई कविता कवि को आनन्ददायिनी भले हो किन्तु लोगों के लिए घृणास्पद वस्तु हो जायगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि काव्य और लोकजीवन में घनिष्ट सम्बन्ध है। काव्य की रमणीयता का निर्माण व्यक्तिगत रुचि पर नहीं, सर्व सामान्य की अभिरुचि पर है।

काव्य पढ़ते समय पाठक दो स्थितियों से संचरण करता है। पहले में वह भाव-मग्न होता है और दूसरे में पहुँच कर काव्य की प्रशस्ति गाता है। काव्य पढ़ते समय जो भाव पाठक के मन में उत्पन्न होते हैं वे ही भाव कविता करते समय कवि के हृदय में उत्पन्न हुए होंगे। दृश्य जगत् से अनुभूति ग्रहण कर करुणा से आर्द्र हो कवि करुणा-रस की सृष्टि करता है और पाठक पात्रों के साथ तादात्म्य का अनुभव कर रो उठता है। यदि यह केवल सौंदर्यानुभूति है तो पाठक के रोने का कोई महत्व नहीं। शायद यही रसानुभूति है। यही रमणीयता है।

किसी भी लेखक की रचनाओं को सही तौर पर समझने के लिए उसके जीवन के विषय में जानना अत्यन्त आवश्यक होता है। लेखक की मानसिक स्थिति किसी विशेष समय पर कैसी थी, उसकी विचार-धारा किस प्रकार की थी, यह जानना उस लेखक के पाठकों और प्रशंसकों के लिये बड़े महत्व का विषय होता है।

× × × × ×

इस पुस्तक में आपको घरेलू संस्मरण मिलेंगे। पर इन संस्मरणों का साहित्यिक मूल्य भी इस दृष्टि से है कि इनसे उस महान साहित्यिक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से भी वह व्यक्ति कितना महान्, कितना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

—शिवरानी देवी

('प्रेमचन्द : घर में' शीर्षक पुस्तक की भूमिका से)

हिन्दी साहित्य किधर ?

डा० रामकुमार वर्मा के विचार

[साधना परिषद् काशी में पढ़े हुए निबन्ध से उद्धृत]

हिन्दी का प्रचार हो जाना एक बात है और उसमें सृजनात्मक शक्ति का आ जाना दूसरी बात। जब हिन्दी साहित्य को विश्व साहित्य के समकक्ष लाना चाहते हैं तब उसके लिए साधना चाहिए, वह हममें नहीं।.......आज के बीस वर्ष पहले की कविता से आज की कविता अधिक नहीं उठी। यदि पश्चिम के सम्पर्क से कुछ लिखा है तो कुछ विशेष नहीं किया। हमारे न चाहते भी यह परिवर्त्तन तो हो जाता। समय और परिस्थितियों से वस्तुएँ बदल जाती हैं। आवश्यकता इस बात की थी कि हम अपने साहित्य से ऐसी चीज देते जो अन्य साहित्यों के लिए आदर्श बन जाती। लेकिन हमने ऐसे कितने अन्वेषण किये, जिन पर गर्व कर सकें। संस्कृत में रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद हैं, क्या हमने प्रयत्न किया कि इन रूपकों के आधार पर हम आज के परिवर्त्तन के अनुसार कोई नयी चीज दें? पश्चिम ने एकांकी दिया, हमने एकांकी लिखा, उपन्यास दिया, उपन्यास लिखा, लेकिन कला की उद्भावना मौलिक ढंग से कहाँ की? और यह हालत तब है जब हमारे पास संस्कृत की परम्परा का इतना वृहद् कोष मौजूद है। इसी प्रकार कथा और आख्यायिका ये दो रूप हमारे सामने हैं, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण से हमने अपनी चीज को ही कब परिमार्जित किया?.......हमारे साधकों को पश्चिम की शैलियों के अन्धानुकरण की आवश्यकता नहीं। उसके साहित्य से जितनी व्यापकता हम ले सकें लें, आधुनिकतम प्रयोगों से लाभ उठावें, किन्तु हम अपनी राष्ट्रीयता के व्यक्तित्व, साहित्य की परम्परा को बदल न दें, भूल न जायँ। विकास हमारा जातीय गुण है पर वह हमारे व्यक्तित्व के साथ हो। मैं यह नहीं पसन्द करता कि इब्सन के नाटकों के दृष्टिकोण से भारतेन्दु के नाटकों की समालोचना की जाय। भारतेन्दु की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। यदि हम 'प्रसाद' की कसौटी बना कर शॉ और इब्सन को देखें, तो क्या पश्चिम वाले हमारी बात मान लेंगे? लेकिन आज हम शेक्सपीयर की कसौटी से हिन्दी के नाटककार को परख रहे हैं।.......ऐसे समालोचना-शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता है, जिस पर हम साहित्य का समुचित मूल्यांकन कर सकें। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आज के साहित्यकारों को मनोविश्लेषण की अपेक्षा आत्म-विश्लेषण की अधिक आवश्यकता है। जब तक वे स्वार्जित अनुभूतियों से सृजन नहीं करते, कुछ नहीं कर सकेंगे। कविता की परिभाषा जो हमारे आचार्यों ने की 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'—उस पर आज हम हँसते हैं। हमें तो 'Poetry is the criticism of life' या 'Poetry is a musical thought' आदि परिभाषाएँ अधिक लुभावनी लगती हैं। किन्तु जिन लोगों ने यह जानने की कोशिश की है कि रसात्मकं वाक्यम् की उपयोगिता क्या है?—रस का साहित्य में क्या स्थान है? तथा जो 'रसोवैसः' के आधार पर अर्जित पवित्रता को जानते हैं, वे जानेंगे कि हमने क्या बात छोड़ रखी है। यदि आधुनिक साहित्यकार आज के साहित्य में रस को सम्बद्ध कर सकें, तो वे बहुत बड़ा काम कर सकेंगे। आज आवश्यकता अनुशीलन की है।

हममें अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, अपनी कोई शक्ति नहीं—किस मुँह से हम दूसरों के सम्मुख खड़े हो सकेंगे!

जब हम हिन्दी साहित्य को अपने प्राणों में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, तो साधना को स्थान देना चाहिए। विज्ञापन छोड़कर सच्ची साधना में लगें। छोटी-छोटी गोष्ठियाँ स्थापित हों, जिनमें लोग अपने को समझावें, दूसरों को समझें!

रहस्यवाद की परम्परा और महादेवी

श्री गंगाप्रसादजी पांडेय एम० ए०

'काव्य हृदय को मुग्ध करता है, पर वह तर्क को प्रबुद्ध नहीं करता'। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अनुभूति का आश्रय देता है, ज्ञान का संरक्षण नहीं। बुद्धि-वृत्ति की अपेक्षा वह बोध-वृत्ति का उन्मेष करता है। मानव ने जब चिन्तन और मनन के फलस्वरूप विश्व की प्रतिपल परिवर्तनशील भिन्नता में एक शाश्वत एकता का ज्ञान प्राप्त किया तभी से हृदय इस ज्ञान-ज्ञेय एकता को अपनाने के लिए उत्सुक हो उठा। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की बुद्धि-जनित द्विविधा को मिटाकर मानवका हृदय पुकार उठा—'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'। यहीं से बुद्धि द्वारा ज्ञेय परम तत्व हृदय का प्रेम बन गया। उपनिषदों में, जिसका अर्थ ही रहस्य है, इस तत्व के श्रेय तथा प्रेय रूपों का विस्तृत विवेचन है। प्रकृति में रूप, गुण और चेतना की प्रतिष्ठा एवं उसके प्रति साधकों की भावात्मक अनुभूति का क्रमबद्ध इतिहास वेदों तथा उपनिषदों से लेकर आज तक भारतीय साहित्य का आवश्यक अङ्ग रहा है। यही कारण है कि इतिहास में ज्ञानाश्रयी शाखा के भक्त कहे जाने वाले सन्तज्ञानी कवियों को भी काव्यगत अनुभूतिमयी प्रेरणाओं को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि ज्ञान-सिद्ध विषय हमारी बुद्धि-वृत्ति को तृप्ति दे सकते हैं पर हृदय को स्पर्श करने की उनमें क्षमता नहीं होती। हृदय-वृत्ति की रमणीयता के ही लिए, निर्गुण ब्रह्म की सारी ज्ञान-गरिमा के साथ कबीर को अन्त में 'राम की बहुरिया' बनना ही पड़ा। सच तो यह है कि अनुभूति के आधार के बिना काव्यात्मक अभिव्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता, वस्तुतः ज्ञान के अद्वैत को काव्य का विषय बनने के लिए गुणों का आरोप सहना पड़ा और अपनी लम्बी डाढ़ी के साथ कबीर गा उठे—'दुलहिनी गावहु मङ्गलचार, राजाराम मोहि मिले भतार'। वास्तव में 'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना काव्य का सहज सोपान बना।'

यह मधुर व्यक्तित्व प्रतीक के रूप में सामने आया। विशुद्ध ज्ञान के लिए ब्रह्म निर्गुण और अव्यक्त ही बताया गया है पर उपासना के लिए उसका सगुण और व्यक्त रूप ही अनिवार्य है। क्योंकि जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं, उपास्य तथा उपासक में भिन्नता नहीं वहाँ उपासना की कल्पना व्यर्थ है इसलिए उस व्यापक मधुर सत्ता को एक प्रतीक ('प्रति' मतलब अपनी ओर, और 'इक' का अर्थ झुकाव) मान कर उस आस्था का आरोप किया गया। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि मानव का स्वाभाविक विकास पार्थिव-पूजा से मानसी उपासना की ओर उन्मुख हुआ। फलस्वरूप भय, श्रद्धा और विस्मय का आधार अव्यक्त स्नेह के माध्यम से हृदय के अधिक समीप पहुँच गया। ज्ञानी, अपने चिन्तन के बल से ब्रह्म के जिस अज्ञेय स्वरूप का निरूपण करके तटस्थ हो जाता था भावुक, उसी स्वरूप को अपने हृदय की भाव-मग्नता में स्थापित करके उसमें अपने सारे व्यक्तित्व को समाहित कर देने लगा। ज्ञानी की जानकारी एक रागात्मक अनुभूति में बदल गई, भाव क्रान्ति का आविर्भाव हुआ। यहाँ से बुद्धि व्यवसायात्मक ज्ञान को अपूर्ण मान कर भावुक साधकों का एक समूह, इस विषय में बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति का समर्थन करने लगा और इस समर्थन के समक्ष ज्ञान तथा दर्शन का अव्यक्त एवं व्यापक ब्रह्म सोमाधि रूप से काव्य में भी प्रतिष्ठित हो गया और कवि विजयोन्माद में गा पड़ा—'मैं मरीजे होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया।' सम्भवतः इसीलिए उपासना की इस पद्धति का निरूपण दर्शन और काव्य दोनों में है। कहने का आशय यह है कि कण-कण में व्याप्त व्यापक सत्ता का मानव ने एक रागात्मक अथवा रसात्मक स्वरूप

निश्चित किया। शास्त्र-ज्ञान सम्पन्न होकर भी जिन्होंने अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के उत्थान में हृदय की भावनात्मक अनुभूतियों का सहारा लिया उन्होंने रूप और भाव का ऐसा सामञ्जस्य कर दिया कि वह ज्ञानी-अज्ञानी सब की सहज ममता और आकुल आकर्षण का अनन्य आधार बन गया।

यह बताया जा चुका है कि अनुभूति की तीव्रता के प्रतिफलन के लिए किसी व्यक्त प्रतीक की आवश्यकता होती है, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक। ऋग्वेद की एक ऋचा इस प्रकार है—योषा जारमिव प्रियम् इसका आशय यही है कि ईश्वर के प्रति मानव के प्रेम का आवेग परकीया के उपपति के समान होना चाहिए। स्त्री-पुरुष के इसी आकर्षण को साहित्य में रति-भाव और साधना में मधुर-भाव कहते हैं। रहस्यवादी कवि इसी मधुर-भाव का आश्रय स्वीकार करता है। दो, का एक, में लय होने की काम-व्यवस्था में ही इस भाव के आनन्द की मूल-प्रेरणा निहित है क्योंकि प्रेम का प्रधान लक्षण एकाधिपत्य की कामना है (शासकों की नहीं है साधकों की) उपासनात्मक प्रेम की यही पराकाष्ठा और सर्वोत्तम समर्पण का पूर्णतम अभिव्यक्ति इसी भाव में सम्भव है। लौकिक दृष्टिकोण से भी पत्नी, पति के सम्पूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है। वस्तुतः इस परम-भाव को सभी भावों का रसायनिक सम्मिश्रण माना गया है, इस लौकिक जीवन को अलौकिक आधार देने के लिए सभी रहस्यवादियों को लौकिक प्रणयोद्गार का माध्यम ग्रहण करना अनिवार्य हो उठा। बुद्धिगम्य विषय को भाव-गम्य बनना पड़ा। दास्य-भाव के अनन्य उपासक महाकवि तुलसी को भी—'कामिहि नारि पियार जिमि' की मधुर-भावना में ही हृदय की पूर्ण-तृप्ति का आधार स्वीकार करना पड़ा। कबीर ने तो इस आस्था के बल पर यह तक कह डाला है कि इसे चाहे कोई समझे या न समझे—'अपनी राह तू चले कबीरा।' महादेवी ने भी इससे कम नहीं कहा—'मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।' ठीक भी है—'प्रेमाः पुमर्थो महान्'—प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। यही व्यक्ति की पूर्णता तथा अमरता का प्रतीक है, प्रतीक से चल कर प्रतीक बनने तक की साधना की चरम सफलता है क्योंकि अमरता तथा पूर्णता समय सापेक्ष नहीं वरन् व्यक्ति (भाव) सापेक्ष हैं। जिस समय व्यक्ति अपने में पूर्णता का बोध करने लगता है उसी समय वह अमरता का अधिकारी बन जाता है। कबीर ऐसे ही भाव-योगी कलाकार थे। यह ईश्वरीय दिव्य प्रेम केवल अनुभवगम्य है, इसको गूंगे का गुड़ भी कहा गया है। वास्तव में यह प्रेमानुभूति दार्शनिक विवादों से परे, बौद्धिक तर्कों से ऊपर, पुस्तकी विद्या से अगम्य केवल भाव साध्य है, अनुभूति का विषय है। ऐसी स्थिति केवल साधक और साध्य की पारस्परिक ज्ञेयता पर निर्भर है, साधक उसे जगाता है वह साधक को। कबीर का यह पद परीक्षणीय है—

'जल की पी सो बाजाराम जाने कहूँ काहि को मानै!
नैन का दुख बैन जाने बैन का दुख श्रवनाँ।
पिंड का दुख प्राण जाने प्याम का दुख नर।
भगत का दुख राम जाने कहत दास कबीर॥

अस्तु, व्यक्ति की इस अनुभूति पूर्ण उपासना का नाम काव्य में रहस्यवाद पड़ा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन कुछ ऐसे ही रहस्यमय तत्वों से निर्मित है जिनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति सहज सम्भव नहीं। फिर व्यक्ति की एकान्तिक अनुभूतियाँ तो और भी रहस्यमय होती हैं। यह कला सत्य का दार्शनिक निरूपण न होकर उसका अनुभूतिमय स्थापन है। यह स्मरण रखना होगा कि यह रहस्यवाद नाम बहुत पुराना नहीं, यद्यपि अभिव्यक्ति की यह प्रथा बहुत पुरानी है तथापि इसे इस नाम से आधुनिक युग ही ने अभिहित किया है, सम्भवतः रवीन्द्र की गीताञ्जलि के बाद।

शुभ श्री महादेवी ने काव्य की इसी प्रवृत्ति को अपनाया है। उन्होंने विश्व-प्रकृति के रूप में अपने को रखकर विश्व-पुरुष के सामने निवेदित किया है। इस पथ के अन्य साधकों की भाँति स्मृति, विभ्रम, वेदना और विरह महादेवी की काव्योपासना के प्रसाधन हैं किन्तु इसके विकास में उनकी कुछ मौलिक देन है, विशेषतः उन्हीं का यहाँ उल्लेख होगा। महादेवी की कविताओं में निखिल प्रकृति का मानवीय जीवन के साथ एक ऐसा भाव-साम्य हो गया है जो सबके लिए बोध गम्य है। उन्होंने इस काव्यानुशीलन से

अपनी संकुचित सीमा को पार कर के जीवन के प्रवाह का प्रसस्त धरातल पा लिया है। वास्तव में ऐहिक मनुष्य तो जीवन का एक माध्यम मात्र है, उसके भीतर जीवन की शाश्वत गति का जो तत्व प्रतिष्ठित है वह सीमित न होकर निसर्ग व्याप्त है। यही भावमय तथ्य इन पंक्तियों में पुलकित हो उठा है—

'उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घनश्याम में जो,
अधर में मेरे खिला नव इन्द्र धनु अभिराम में जो;
बोलता मुझ में वही जग मौन में जिसको बुलाता'!

× × ×

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ
मधुर जितना प्रात,
सजनि मैं उतनी सजल
जितनी सजल बरसात!

नीहार (प्रभात) से लेकर दीपशिखा (सायंकाल) तक प्रकृति के विस्तृत आँगन में वनदेवी की तरह गीत गाने वाली महादेवी का निसर्ग-सुन्दर संसार उनकी अनुभूतिमयी विजन व्यापकता से परिपूर्ण है। यह कौन नहीं जानता कि व्यक्ति का दिन रात का रोना-धोना उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाता है किन्तु सृष्टि का क्रम नहीं टूटता, मानो पार्थिव जीवन की सीमित इकाई से मनुष्य जीवन के इस अज्ञात-अचेतन क्रम को समझने की चेष्टा करता है, सत्य को चीन्हने का प्रयास करता है। उपनिषदों के अनुसार पार्थिव जीवन की ससीमता और अपार्थिव जीवन की असीमता के विस्तृत आवरण में स्थित जड़-चेतन के निरन्तर परिवर्तन तथा पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति में सामञ्जस्य का बोध सत्य के ही ज्योतिर्मय एवं सात्विक स्वरूप का केन्द्र है और इस समन्वय का बहुत ही निखरा हुआ रूप महादेवी की काव्य-साधना में प्रतिफलित हुआ है—

'सेतु शूलों का बना बाँधा विरह वारीश का जल,
फूल-सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल,
दुःखमय सुख, सुख भरा दुख
कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल-जल का देश देते?'

मनुष्य का सारा ज्ञान-विज्ञान इसी सत्य के पाने का प्रयास है किन्तु कवि का यह प्रयत्न उसका गान है। अपने गीतों में कवि सहज सजल होकर उस अनन्त के स्वरूप को अपनी सीमा में उसी प्रकार प्रतिभासित करता है जिस प्रकार सिन्धु अपने में अनन्त आकाश को। वह ज्ञान द्वारा उसे समझने की अपेक्षा ज्ञान द्वारा उसे अपने हृदय में स्थापित करता है, ज्ञानी न बनकर प्रेमी बनता है—'हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाने कोय।' महादेवी का हृदय भी ऐसा ही प्रेमी है।

अत्यधिक आध्यात्मिकता अत्यधिक प्रकाश की भाँति प्रेम की इस स्थिति में चकाचौंध न पैदा कर दे इसी हेतु महादेवी के इस अलौकिक प्रेम ने लौकिक प्रणय रूपकों को ग्रहण किया है किन्तु अन्य सभी ऐसे साधकों से भिन्न उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने आराध्य को किसी व्यक्ति अथवा वस्तु रूप की अपेक्षा केवल भाव-रूप में ही स्वीकार किया है—

'आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।'

इसकी आराधना के लिए उन्होंने कभी जीवन और जगत से दूर वैराग्य अथवा मोक्ष का अनुसंधान नहीं किया। उनका कहना है—

मूँद पलकों में अचंचल, नयन का जादू भरा तिल,
दे रही हूँ अलख अविकल को सजीला रूप तिल-तिल;
आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।

क्योंकि उनका विश्वास है कि—

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में।'

वे जीवन और जगत के असंख्य बन्धनों के बीच महानन्दमय मुक्ति का उपभोग करना चाहती हैं—बन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनों की स्वामिनी सी।' एक प्रकृतिस्थ पथिक की भाँति सुदूर अनन्त के पथ की ओर चलना उनका ध्येय है। उन्होंने साधना के सन्तोष के साथ लिखा भी है—

'अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे।
दुख व्रती निर्माण उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला।
पन्थ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।'

यह स्पष्ट हो चुका है कि मनुष्य देह नहीं देही है, असीम की एक सीमित माप है किन्तु साधारण प्राणी अपने प्राणत्व को भूल कर देह को ही सब कुछ समझने लगता है। महादेवी का कवि इस मिथ्या से नहीं उलझा क्योंकि उन्होंने शरीर और चेतन, देह और देही के शाश्वत सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वह रहे आराध्य चिन्मय मृण्मयी अनुरागिनी मैं,
रजकणों में खेलती किस विरज विधु की चाँदनी मैं।'

अथवा—

'क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।'

वस्तुतः इस मृण्मय शरीर में जो अविनाशी चेतन के रूप में व्याप्त है, वही आराधनीय है वह किसी एक देह में, एक देश में, तथा एक काल में सीमित नहीं है, वह तो असीम होकर चारों ओर हमें रिझा-खिझा रहा है। अपने उसका आभास पाकर कवि क्षण-भर को मिलन सुख से पुलकित हो उठता है और जब वह अपने को भूल कर उसे कहीं बाहर से ग्रहण करना चाहता है तब उसकी असीमता एवं अप्रत्यक्षता के प्रति विरही हो उठता है। महादेवी का यही विरह-मिलन है, पार्थिक जीवन में अपार्थिक के आभास का संकेत है, साकारता में निराकारता की प्रतिष्ठा है—

'विश्व में वह कौन सीमा हीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला,
क्या रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?'

इस प्रकार महादेवी ने व्यक्तिगत अस्तित्व तथा सुख-दुख के छोर को पकड़ कर सर्वात्म के चिदानन्दमय उस छोर को भी करतलगत कर लिया है जहाँ उनकी व्यष्टि दिव्य समष्टि का स्वरूप बन गई है। इस चरम अनुभूति की परिणति में, इस परम सत्य की तदाकारता में आसीन होकर कवि अपने आराध्य की उपासनामयी समता का अधिकारी बन जाता है और प्रियतम के सम्पूर्ण गुण उसमें उद्भाषित हो उठते हैं—

'फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले।'

अपने ससीम व्यक्तित्व को आराध्य के असीम व्यक्तित्व में लय करके साधक में कौन-सा अभाव और कौन-सी अपूर्णता शेष रह जाती है? बिन्दु-सिन्धु से मिलकर स्वयं सिन्धु है। फिर क्यों वह प्रिय की सदय करुणा के लिए दैन्य भाव दिखलावे? जिस प्रकार प्रिय की अधर से छलकती मुस्कान में प्रकृति के नितनव उल्लास का आवास है और जिस भाँति उसका क्षणिक विषाद चराचर की वेदना का उत्स स्थान है उसी भाँति क्या कवि के भावों की परिव्याप्ति संसृति के आवर्तन-परिवर्तन में व्याप्त नहीं है? अवश्य है, इसी कारण महादेवी को अपने निजत्व का स्मरण है, आत्म-चेतना का आग्रह है। प्रिय के मिलन-क्षण की निलयता में उनका निजत्व लय हो जाय और समता का सारा भाव ही समाप्त हो जाय, यह महादेवी को नहीं भाता—

'मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण,

किन्तु—

सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।'

महादेवी के साधक को मालूम है कि विरह की तपन तपस्या से ही प्रिय का मिलन सम्भव हुआ है फिर उसका परित्याग कैसे किया जाय? उन्होंने साफ शब्दों में कह

'तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा'

आराध्य के प्रति आत्म-भाव भरी निजता का इतना मधुर चित्र अन्य किसी कवि में नहीं मिलता। साहित्य को यह केवल महादेवी की देन है। विरह और वेदना से मनुष्य अपने अभीष्ट तक पहुँचने में समर्थ होता है और इन्हीं तथ्यों से मानवीय जीवन का परिष्करण भी होता है। महादेवी ने इसी आध्यात्मिक तथ्य के सहारे अपने गीतों

का संचार गुंजरित किया है। उनके काव्य के उपादानों के साथ हमारे सामने साधक-ज्ञानियों का स्वरूप उपस्थित हो जाता है किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि वे साधक नहीं आराधक हैं, ज्ञानी नहीं गायक हैं। साधकों की उपासना यत्न-साध्य होती है इनकी सहज स्वाभाविक। वे साधक क्रियात्मक थे किन्तु महादेवी भावात्मक। महादेवी की एक विशेषता बहुत बड़ी और है वह यह कि उन्होंने भाव तन्मयता में अपने कवि को शिशु की स्थिति में रखकर इस प्रत्यक्ष जगत में ही बहुत से अप्रत्यक्ष सत्यों का स्थापन किया है, जो उतना ही सरल और मनोहर है जितना तरुओं के कठिन जगत में नव किसलयों का अस्तित्व। न तो वे पार्थिव ज्ञान से नीरस और निराश हैं और न दार्शनिकता से जटिल। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार बाल्य-भाव साधक परमहंसों के लिये शोभन है उसी प्रकार वह कवि का भी श्रृंगार है—

'पहुँच न पाती जग की आँखें,
राह न पाती मन की पाँखें,
जीवन को उस ओर स्वप्न शिशु पल में पहुँचाता है;
बिना पथ ले जाता लाता है।'

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि नारी-हृदय की सार्वभौम करुणा और सर्व-व्यापी स्नेह की शक्ति तथा अडिग आत्म-विश्वास को लेकर महादेवी ने विश्व के लिये चिर प्रेममय मंगल की आराधना बड़े ही मौलिक ढंग से की है। उन्होंने चिर सुन्दर प्रियतम की पूजा में स्वयं आरती की लौ की भाँति जल-जल कर भारतीय मन्दिर में उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण किया है। विश्व के कण-कण में व्याप्त पूर्णता प्राप्ति के क्रन्दन का समवेदनात्मक उद्घाटन किया है और इससे उनको सन्तोष भी है। विश्व-जीवन की इस आध्यात्मिक विपन्नता के बीच में भी वे विश्वास के साथ कहती हैं—

'जग अपना भाता है
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।'

क्योंकि—'चिर बन्धु पथ आप, पग चाप संलाप
दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप,
हर पल मुझे छाँह हर साँस आवास
सब का चरण लिख रहे स्नेह-इतिहास।'

गति का यह निश्चित क्रम और गन्तव्य के प्रति यह अटल धारणा उनके पथ को प्रशस्त करने में सफल हैं, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की चरम साधना, विकास की सीमातीत भावना का वह स्वर बहुत ही स्पष्ट और सजीव है जो युगों से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एक मात्र साधन रहा है और कला की, काव्य की यही चरम सार्थकता है।

"Mysticism is essentially the exercise of a supernormal faculty transcendenting intellect whereby the individual obtains a vital and conscious experience in his inmost being of oneness with what has been variously termed the Absolute or reality of intelligible world, or the infinite God—a sense of union with the transcendent yet immanent root and source of all being and all becoming"

"रहस्यवाद साररूप से एक अलौकिक शक्ति का प्रयोग है जो कि बुद्धि के परे है और जिससे व्यक्ति अपनी सत्ता के अन्तस्तल में उस सत्ता के साथ, जिसको भिन्न भिन्न लोगों ने 'निरपेक्ष' 'वास्तविकता' 'बुद्धिगम्य संसार' कहा है एकता का जीवित और चेतन सम्बन्ध स्थापन करता है। अथवा यों कहिए कि प्रकृति और उसी के साथ समस्त भव और भूयमान सत्ता के मूल स्रोत के व्यक्त रूप से एकता का अनुभव प्राप्त कर लेना है।"

—किंग्सलैण्ड

ग़बन—एक ग़लतफ़हमी

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश सन् १८६१ में बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' द्वारा हुआ। इस प्रकार के तिलस्मी उपन्यासों से जनता का बहुत कुछ मनोरंजन हुआ, और सच तो यह है कि बहुत से पाठकों ने बाबू साहब के उपन्यासों का रसास्वादन करने के लिए ही हिन्दी पढ़ना सीखा। उस ज़माने में इस तरह के उपन्यास लोकप्रिय भले ही रहे हों किन्तु आगे चल कर कलात्मक कृतियों में इनका स्थान सुरक्षित नहीं रह सका। सन् १६१० के आसपास हिन्दी में सामाजिक उपन्यास लिखे जाने लगे किन्तु तत्कालीन जनता पर उनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १६१६ हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी वर्ष धनपतराय नामक एक व्यक्ति ने 'प्रेमचन्द' नाम से हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था। उन्होंने 'सेवासदन' (१६१८), प्रेमाश्रम (१६२१), रंगभूमि (१६२२), आदि अनेक सामाजिक और राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सामयिक उपन्यास लिखे। सन् १६३१ में ग़बन के प्रकाशित होने तक वे 'उपन्यास-सम्राट' की उपाधि से विभूषित हो चुके थे। प्रेमचन्दजी के सामाजिक उपन्यासों में ग़बन का महत्वपूर्ण स्थान है। खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थों तक में 'ग़बन' की गणना की गई है।

शीर्षक की सार्थकता—ग़बन का नामकरण एक विशेष घटना के आधार पर हुआ है। इसी ग़बन के कारण नायक तथा नायिका के जीवन में परिवर्तन हुआ, इसीलिए उपन्यास का शीर्षक रमानाथ, जालपा या चन्द्रहार नहीं रखा गया। चन्द्रहार तो निमित्त मात्र था, रमानाथ के सम्पूर्ण जीवन पर ग़बन का व्यापक प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उपन्यास के पूर्वांश की सब घटनाएँ जा रही हैं ग़बन की ओर, तथा परवर्ती घटनाएँ निकली हैं ग़बन से। यद्यपि जालपा के यथासमय रुपया जमा करा देने के कारण रमा पर किसी ग़बन का जुर्म नहीं लगाया गया तथापि उपन्यास के नायक रमा को यही भ्रान्त धारणा रही है कि ग़बन के कारण उस पर वारन्ट निकल चुका है। इस दृष्टि से विचार किये जाने पर शीर्षक की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

ग़बन का कथानक पूर्ण रूप से नाटकीय व्यंग्य का निदर्शन है। सारी कथा धोखे ही धोखे में चलती है। नाटकीय व्यंग्य का एक उदाहरण देखिये:—

"रमा ने पूछा—क्या है, तुम चौंक क्यों पड़ीं ?

जालपा ने इधर-उधर प्रसन्न नेत्रों से ताक कर कहा—कुछ नहीं एक स्वप्न देख रही थी। तुम बैठे क्यों हो, कितनी रात है अभी ?

रमा ने लेटते हुए कहा—सबेरा हो रहा है, क्या स्वप्न देखती थीं ? जालपा—जैसे कोई चोर मेरे गहनों की सन्दूकची उठाए लिए जाता हो।"

यही क्यों, नाटकीय व्यंग्य के अनेक उदाहरण अनायास इस उपन्यास में मिल सकेंगे। पढ़ते-पढ़ते पाठक को लगता है कि रमा जालपा के सामने क्यों अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर देता ? किन्तु रमा की आत्म-प्रदर्शन तथा आत्म-गोपन की प्रवृत्ति के कारण परिस्थिति बिगड़ती ही चली गई। ग़बन वस्तुतः एक ग़लतफ़हमी की दुःखपूर्ण घटना है। (A Tragedy of Misunderstanding.) रमा जालपा को नहीं समझने पाता, जालपा रमा को नहीं समझ पाती। समझती तब है जब दुर्घटना घटित हो जाती है।

ग़बन एक समस्यात्मक सामाजिक उपन्यास है। डाँवाडोल आर्थिक स्थिति में भी पुरुष का स्त्रियों के शौक को पूरा करने का प्रयत्न, आभूषणों के लिए अत्यधिक कर्ज लेना दो दिन की वाहवाही के लिए विवाह-शादियों में अन्धाधुन्ध खर्च करना, दहेज प्रथा, लकीर के फकीर होने के कारण हिन्दू समाज की दयनीय अवस्था, पुरुषों की समाजभीरुता और स्त्रियों का शासन, विधवा स्त्री की हिन्दू

सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा में सम्पत्ति पर कुछ भी अधिकार न रहना, रिश्वतखोरी, वृद्ध-विवाह की कुप्रथा आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है किन्तु उपन्यास की आधारभूत समस्या है आभूषण-प्रेम। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से समस्या का समाधान 'सेवासदन' की तरह इस उपन्यास में नहीं है, किन्तु लेखक की ओर से परोक्ष संकेत इतने स्पष्ट हैं कि उनके विषय में किसी को भी सन्देह नहीं रह जाता। इस प्रकार के उपन्यासों से जो नेत्रोन्मीलन होता है, समाज-सुधार की जो प्रेरणा मिलती है, उसकी उपादेयता भी किसी प्रकार कम नहीं। हम उपन्यास के नायक पर क्रोध न कर समाज पर क्रोध करने लगते हैं।

गबन का कथानक सामान्य होते हुए भी मनोरंजक है किन्तु वस्तु-विन्यास की त्रुटियों का भी इसमें अभाव नहीं है। उपन्यास में प्रमुख कथा के साथ-साथ उपकथा भी चल सकती है किन्तु उपकथा का मूल कथा से सम्बद्ध होना नितान्त आवश्यक है। इस उपन्यास में रमा और जालपा की प्रमुख कथा के साथ-साथ वकील साहब और रतन की उपकथा भी चलती है। रमा और जालपा के, रतन के सम्पर्क में आने की इतनी ही सार्थकता है कि रतन के रुपयों की गड़बड़ी के कारण ही रमा गबन करने के लिए बाध्य होता है। सहेली के रूप में रतन का जालपा को ढाढ़स बँधाना, उसने प्रयत्नों में सहायता के लिए तत्परता दिखलाना आदि तो वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उचित कहे जा सकते हैं किन्तु वकील की मृत्यु, रतन के पश्चात्ताप तथा मणिभूषण की मक्कारी आदि के वर्णन में व्यर्थ के पृष्ठ रँगे गये हैं। उपन्यास के मुख्य कथा-भाग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। मैं समझता हूँ, अपने पति की मृत्यु पर विधवा स्त्री के उत्तराधिकार के प्रश्न तथा वृद्ध-विवाह की समस्या को हिन्दू समाज के समक्ष उपस्थित करने के लोभ का प्रेमचन्दजी संवरण नहीं कर सके, संभवतः इसीलिए कथानक त्रुटिपूर्ण हो गया।

जोहरा के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता। क्या वह उपन्यास का आवश्यक पात्र है? यह प्रेमचन्द के आदर्शवाद का निदर्शन ही माना जा सकता है। संभवतः प्रेमचन्द यह दिखलाना चाहते थे कि निकृष्ट समझी जाने वाली वेश्याओं में भी कभी-कभी सच्चे प्रेम और सहानुभूति के दर्शन हो सकते हैं किन्तु इस उपन्यास में जोहरा का जो अन्त दिखलाया गया है उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यासकार जोहरा को अपने उपन्यास के कलेवर में अच्छी तरह खपा नहीं सका, अन्त में उसका बलिदान दिखला कर जैसे उससे किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा लिया गया है। इस प्रसंग में 'चन्द्रगुप्त' की मालविका का स्मरण हो आता है। गबन का कथानक त्रुटिपूर्ण अवश्य है। इस उपन्यास का प्रारम्भिक भाग (जहाँ तक गबन तक की घटना से सम्बन्ध है) सुसम्बद्ध और मनोरञ्जक है किन्तु आगे चल कर कहीं-कहीं ऐसा लगता है जैसे लेखक कथानक को ज़बरन घसीट रहा है। रचना-तन्त्र की दृष्टि से यह दोष ही कहलायेगा। हाँ, यह अवश्य है कि गबन का कथानक जटिल नहीं है।

जितना औत्सुक्य-वर्धन डिकन्स, टाल्स्टाय आदि के उपन्यासों से होता है, उतना प्रेमचन्द के उपन्यासों से नहीं होती क्योंकि आगामी घटना का कुछ-कुछ पूर्वाभास मिल ही जाता है। शरत् के चरित्र प्रधान उपन्यासों में आगामी घटना का पता लगाना बड़ा मुश्किल है।

गबन के कथानक का शास्त्रीय विश्लेषण भी किया जा सकता है। रमानाथ के गहने चुराने से कथानक का उद्घाटन (Exposition) होता है। ऋण चुकाने की असफलता तथा जालपा से उसका हर समय दुराव—व्यापार का विकास (Growth of Action) है। गबन की घटना चरम सीमा (Climax) है। जालपा का कलकत्ते जाना और रमा से मिलना निगति (Denouement or Resolution) है। फैसले में रमानाथ की रिहाई अन्त (Catastrophe conclusion) है।

भारतीय समीक्षाचार्यों की दृष्टि से भी हम गबन के वस्तु-विन्यास को निम्नलिखित ढङ्ग से सुलझा सकते हैं:—

यह तो कथाङ्गों की दृष्ट से विवेचन हुआ। उपन्यास के प्रमुख पात्रों के साथ इन कथांशोंका किस प्रकार सक्रिय सम्बन्ध है, यह भी निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भ	(२) प्रयत्न	(३) प्राप्त्याशा	(४) नियताप्ति	(५) फलागम
रमानन्द द्वारा जालपा के आभूषणों की चोरी	जालपा की पति-हृदय को जानने की चेष्टा	जालपा द्वारा सोची हुई शतरंज के नक्शे की स्कीम से रमा का पता मालूम होना तथा जालपा का कलकत्ते के लिये रवाना होना	गवाही बदलने के सम्बन्ध में रमानाथ का जालपा को बचन देना	रमानाथ की रिहाई होने पर रमा-जालपा का मिलन

ऊपर की तालिका में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी यहाँ दे दी जाती है :—

बीज—मुख्य फल का हेतु वह कथाभाग जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है।

बिन्दु—जो बात निमित्त बन कर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न बनाये रखती है।

पताका—जब कथावस्तु बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं और जब वह थोड़े काल तक चल कर रुक जाती है तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं।

कार्य—जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गई हो।

प्रारम्भ—जिसमें फल-प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है।

प्रयत्न—जिसमें उस फल की प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाता है।

प्राप्त्याशा—जिसमें सफलता की सम्भावना जान पड़ती है यद्यपि साथ ही विफलता की आशङ्का भी बनी रहती है।

नियताप्ति—जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है।

फलागम—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

यद्यपि आधुनिक समीक्षा-पद्धति में इस प्रकारके शास्त्रीय विवेचन को कोई विशेष महत्व नहीं देता और न प्रत्येक उपन्यास में पाँचों तत्व विद्यमान ही रहते हैं तथापि संयोग से 'ग़बन' में पाँचों तत्वों का आकलन होने के कारण पाठकों का उनकी ओर ध्यान आकर्षित करना निरर्थक सिद्ध न होगा।

चरित्र-चित्रण उपन्यास का मूल तत्व है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व से उपन्यास बहुत प्रभावोत्पादक हो जाता है। रमानाथ के अन्तर्द्वन्द्व

तथा बहिर्द्वन्द्व का लेखक ने अच्छा चित्रण किया है। रमा यथार्थवादी चरित्र है और अपनी वर्गगत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है, बहुत से कालेजीय नवयुवक भी संभवतः रमा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लें। वह जो कुछ नहीं है, वही बनना चाहता है, इसीलिए सब दुर्घटना घटित होती है। जालपा के साथ उसका दुराव ही सारे अनर्थ की जड़ है। वह घटनाओं के चक्र-व्यूह में फँसता ही चला जाता है, बात खुलती ही नहीं है। वह इतना निकृष्ट नहीं है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों के दवाब के कारण वह बनता बहुत है और इसी बनने की आदत ने उसके गुणों को दबा-सा दिया है। वह सामान्य व्यक्ति है। अपने संकोच के कारण वह परिस्थितियों के जाल को सुलझा नहीं पाता। परिस्थितियों से बाधित होकर वह गबन तो कर सकता है किन्तु आत्म-गोपन की वृत्ति से बाज़ नहीं आ सकता। रमा के प्रति पाठक को क्रोध अथवा घृणा नहीं हो सकती, वह उस पर केवल तरस खा सकता है। मध्यम-वर्ग की मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व रमा करता है। पाठक का क्रोध जागृत होता है उस समाज के प्रति जिसके कारण आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियों को पोषण मिलता है। रमा में दूरदर्शिता और विचारों की स्थिरता नहीं। गबन करने के बाद तो वह और भी पतनोन्मुख हो जाता है, इसके विरुद्ध गबन वाली घटना के बाद जालपा के-हृदय की उदात्त वृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं। रमा आराम पसन्द है, उसमें कष्ट-सहिष्णुता नाम को भी नहीं। विकार-ग्रस्त होते-होते उसकी बुद्धि भी पंगु हो गई है। नैतिकता अनैतिकता का भी उसे कोई विचार नहीं। मानसिक दासता का वह प्रतिनिधि-सा बन जाता है, उसकी बुद्धि पर भी उसका आरामतलब मन ही हावी हो जाता है। चाहे निरपराध आदमियों को फाँसी क्यों न हो जाय, अगर उसे सुखमय जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल जाय तो उसे किसी की कुछ परवाह नहीं! इब्सन आदि लेखक पात्रों को ऐसी स्थिति से निकालना अच्छा नहीं समझते पर प्रेमचन्द जैसा आदर्शवादी लेखक भला ऐसा क्यों होने देता? जालपा और देवीदीन को साधन बना कर वह रमा को उबार लेता है। रमा जहाँ यथार्थवादी चरित्र है, जालपा में इसके विरुद्ध आदर्श-वादिता अधिक है। आरम्भ में उसका जैसा आभूषण-प्रेम दिखलाया गया है, आगे चल कर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आभूषणों से उसे विराग भी हो जाता है। अपने शृंगार की सामग्री को रतन के मना करने पर भी वह गङ्गा में बहा देती है। इससे जान पड़ता है कि जालपा का आभूषण-प्रेम तो परिस्थिति जन्य है। यह उसके चरित्र की मौलिक विशेषता नहीं। गबन के पहले वह अपने आभूषणों के शौक़ को पूरा करने वाली प्रेम-गर्विता नायिका के रूप में ही पाठकों के सामने उपस्थित हुई है। रमा के अत्य-धिक प्रेम करने के कारण ही वह अपने पर भी गर्व करने लगी थी। गबन को घटना के बाद उसका अब तक छिपा हुआ रूप प्रकाश में आता है। यद्यपि उपन्यास-कार ने उसे निर्दोष चित्रित किया है किन्तु अब वह अपने को ही सब अनर्थों का मूल कारण समझने लगती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात के कारण वह जागरूक होती है। बुद्धि, निर्भयता, कार्य-पटुता, सामयिक सूझ आदि गुण अब उसमें व्यक्त होने लगते हैं। निश्चय की दृढ़ता तथा निर्णय करने की क्षमता ये उसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। कर्तव्य-पालन की भावना से प्रेरित होकर वह अपने पापों का भी घोर प्रायश्चित करती है। उसका महान् व्यक्तित्व सुन्दरतम गुणों का प्रतिनिधित्व करने लगता है।

देवीदीन यद्यपि अप्रधान-सा चरित्र लगता है किन्तु जहाँ लेखक ने उसके चरित्र के प्रति बड़ा अनुराग दिख-लाया है वहाँ वह गबन के बाद नायक-नायिका की प्रवृ-त्तियों में सक्रिय भाग भी लेता है। अपढ़ होते हुए भी वह कर्त्तव्य परायण, दयालु, निर्भय, व्यवहारकुशल और उदात्त मनोवृत्तियों का पुरुष है। अपने पुत्र-मरण की क्षति-पूर्ति मानो वह रमा के प्रति आर्द्र-व्यवहार दिखलाकर कर लेता है। रमा को छुड़ाने के लिए वह चाहे जितना रुपया खर्च करने के लिए तैयार हो जाता है।

यद्यपि लेखक ने 'गबन' को सुखान्त रखा है किन्तु जोहरा और रतन की मृत्यु पाठक के मानस-पट पर विषाद की रेखा छोड़े बिना नहीं रहती। इस प्रकार यह उपन्यास दुःखान्त-सुखान्त का मिश्रण-सा हो गया है।

राहुल के उपन्यास

श्री गोपालप्रसाद व्यास सा०र०

राहुल जैसे बहुश्रुत, मेधावान्, कर्मठ और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक हिन्दी में एक-दो ही हैं। विशेषता यह कि एक साथ भूत और वर्तमान दोनों पर उनका समान अधिकार है। उनके दो मौलिक उपन्यास अभी प्रकाशित हुए हैं--"जीने के लिए" और "सिंह सेनापति"। पहला अति आधुनिक बीसवीं शताब्दि का है, तो दूसरा अति प्राचीन आज से २५०० वर्ष पूर्व का। कहने को एक राजनीतिक है दूसरा ऐतिहासिक; पर दोनों के अन्तस् में एक ही भाव-धारा कार्य कर रही है और वह है समाजवादी उपायों द्वारा जनता के शोषण का अन्त।

साहित्य राहुल के लिए खयाली नहीं, जिंदगी की चीज़ है। वह जीने के लिए उसकी उपयोगिता मानते हैं। यही कारण है, जब हिन्दी की उपन्यास धारा सस्ते कालेजी रोमांस या बुद्धि के गर्हित जंजालों में उलझी हुई सैक्स के नाम अस्वस्थ समस्याओं को खड़ा करके, उन्हें मनोविज्ञानता का जामा पहना कर, खिलवाड़ कर रही है; तब राहुल के उपन्यासों की अपनी ताजगी, नये आदर्श और नवीन भावनाएं हिन्दी उपन्यास के सीमित कगारों को तोड़ देने को उत्सुक हैं।

राहुल के उपन्यासों में अहं का अस्वाभाविक विधान नहीं है। जीवन के प्रति उनका एक अपना स्वस्थ दृष्टिकोण है। जीवन की डगर में जैसे लेखक बिना दुविधा और द्वन्द्वों के चला है, साहित्य भी उसका इसी प्रकार दुविधा रहित और अचूक है।

"जीने के लिए" उपन्यास को ही लीजिए। न कहीं पात्रों में वक्रता है, न कथानक में उलझन। कथावस्तु एक दम सीधी, सरल और उत्कर्षोन्मुखी है। उपकथायें मुख्य कथा को उलझाती नहीं। न उसमें कोई समानान्तर कथा है, न प्रतिद्वन्द्वी नायक, न उपनायिका। कथा का मुख्य पात्र देवराज जब एक बार दृढ़ मैनाक पर्वत की न्याईं समुद्र की क्षुब्ध लहरों से सिर निकाल कर उठना प्रारम्भ कर देता है, तो अबाध गति से उठता ही जाता है। उसके मन में न कोई संघर्ष है, न विकल्प। जीवन की सुनिश्चित राह पर वह सधे कदम बढ़ रहा है।

"जीने के लिए" उपन्यास को हम एक प्रकार से बंगाल के क्रान्तिवाद से लेकर कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल तक का समाजवादी दृष्टिकोण से लिखा हुआ इतिहास कह सकते हैं। यदि इसमें यशपाल के 'देशद्रोही' के पृष्ठों को और जोड़ दिया जाय तो यह दिसम्बर ४२ तक की समाजवादी हलचलों का अच्छा रोचक ब्यौरा बन जायगा।

'देशद्रोही' और 'जीने के लिए' दोनों ही उपन्यास संक्षिप्त भेद के साथ एक ही विचार-धारा का प्रतिपादन करते हैं। दोनों के ही नायक रूस जाते हैं और वहाँ से लौट कर अपने देश में मजदूरों का संगठन करते हैं। दोनों ही कांग्रेस के आलोचक और समाजवाद के समर्थक हैं। पर 'जीने के लिए' उपन्यास का नायक देवराज जैसा निर्द्वन्द्व और सीधा अपने जीवन में चला है, वैसा यशपाल के 'देशद्रोही' का खन्ना नहीं। इस्पात के बने देवराज की तुलना में खन्ना हाड़-मांस का निरीह प्राणी-भर है। उसके जीवन में तीन-तीन स्त्रियाँ आती हैं, अनेक अन्तर्द्वन्द्व, उन्हें लेकर खन्ना को बिकल करते हैं और अन्त में उसकी मौत का भी कारण बनते हैं; पर देवराज सिपाही है वह आजन्म सिपाही ही रहा। खन्ना सरकारी डाक्टर था, परिस्थिति वश कामरेड बना; पर जो दिल उसने धड़कता पाया था, उसकी धड़कन अन्त तक बन्द नहीं हुई।

यशपाल कुशल कथाकार हैं। वे कथा की काट-छाँट, बारीकियों और उसके मर्म-स्थलों से परिचित हैं। 'देशद्रोही' के कथानक में यह टैकनीक कुशलता सर्वत्र मिलेगी जो 'जीने के लिए' में नहीं है। बात यह है कि यशपाल साहित्य के 'रस' से परिचित हैं। उसकी अभिव्यक्ति कहाँ, कैसी और किस अनुपात में होनी चाहिए, इस मामले में

वे सजग हैं। फलतः उनका साहित्य रसमय है। 'जीने के लिए' उपन्यास से 'देशद्रोही' इसीलिए अधिक आकर्षक है कि उसमें साहित्यिक पुट अधिक है। उसकी शैली अधिक रोचक है। डा० खन्ना को अफ़रीदी लूट कर लिए जा रहे हैं, उसका वर्णन ऐसा है कि पाठक बूँद-बूँद पीता चलता है—अवाक् और विस्मृत होकर। डा० खन्ना ईरानी लड़की से विवाह दिये जाते हैं—मानो शब्द-शब्द में ईरानी सौन्दर्य छलक आया हो। डा० खन्ना मर रहे हैं मानो पंक्ति-पंक्ति जड़, स्तब्ध और रोमाञ्चित हो आई है। 'जीने के लिए' में यह सब रस और रोचकता नहीं है। पर न वह अरोचक है न नीरस। जीवन का स्वस्थभाव राहुल के उपन्यासों की अपनी विशेषता है जिसमें न अस्वाभाविकता होती है और न थोथा कल्पित रोमांस, और यह भी नहीं कि राहुल के कथानक घटनाओं के विवरण मात्र हैं और या कि उनमें औपन्यासिक रस का अभाव है। यह ठीक है कि उनमें कथा की काट-छाँट और बारीकी नहीं है, पर वह प्रवाह है जो अपनी सरसता में पाठक को बहा ले जाता है। फिर 'सिंह सेनापति में' तो लेखक ने अद्भुत औपन्यासिक छल से कार्य लिया है। उपन्यास की कथा को उसने पृथ्वी के गर्भ में से स्वयं खोद कर निकाला है और उन १६०० ईंटों को उठा कर पटना म्युज़ियम में रख दिया है। कथा इतनी रोचक और विस्मय उत्पन्न करने वाली है कि कोई भी पाठक इन दिलचस्प ईंटों को देखने के लिए पटना दौड़ जाना चाहेगा, पर वहाँ ईंटों के स्थान पर कङ्कड़ तक मिलना मुश्किल है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे बनारस के आस-पास ही घूमते हैं। आज-कल के अधिकांश उपन्यास भी कालेज की चहार दीवारी या होटलों के कमरों में ही समाप्त हो जाया करते हैं। पर राहुल के उपन्यास का "कैन्वास" चौड़ा है। उनके नायक इटली, फ्रान्स, इङ्गलैण्ड और रूस का सफ़र करते हैं। देश-देश के खान-पान, रहन-सहन और सभ्यता-संस्कृति पर टिप्पणी करते हैं। "सिंह सेनापति" में भी कथानक एक स्थल पर स्थिर नहीं रहता। राहुल के उपन्यासों में जीवन को समग्ररूप से लेने की कोशिश है। लेखक ने जीवन के अधिक-से-अधिक वृत्त और क्षेत्र को अपनाने का प्रयास किया है। उनका 'सिंह सेनापति' उपन्यास भी इसी वृत्ति का द्योतक है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथा-सामग्री बिंबसार और अजात शत्रु के समय की है जब भगवान बुद्ध स्वयं इस धराधाम पर वर्तमान थे। जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर भी उस काल अपने मत का प्रचार कर रहे थे। जब आर्यों की रक्त शुद्धता मिट रही थी, उनका गण-व्यवस्था टूट चली थी और पूर्व तथा पश्चिम के आर्यों में काफी परिवर्तन आ गया था। उपन्यास में सिंह सेनापति काल की आहार-व्यवहार और नीति-सदाचार सम्बन्धी मान्यताओं को यदि एकत्र किया जाय तो उनका स्वरूप कुछ इस प्रकार होगा:—

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व आर्यों का रंग एक दम उज्ज्वल था। उनकी नाक लम्बी होती थी और स्त्रियों के बाल सुनहले होते थे। नील नयना स्त्रियाँ विशेष सुन्दरी समझी जाती थीं। वे युद्ध में पुरुषों के साथ लड़ा करती थीं। एक पति के मरने के बाद दूसरे के लिए सन्तान पैदा कर सकती थीं। गो मांस शूकर मांस आर्य प्रायः खाया करते थे। सुरा उनके जीवन का दैनिक संगिनी थी। नृत्य, गान, आलिङ्गन और चुम्बन सभ्यता में शामिल थे।

पर आज ये बातें सुनकर कान झनझना जाते हैं और संस्कार प्रबल होकर कह उठते हैं कि यह भारतीय आर्यों के इतिहास में कभी नहीं रहा होगा।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत आदि में भी मांसादि भक्षण का उल्लेख मिलता है, नृत्य-गीत, उत्सव आदि का विधान तो सभी प्राचीन ग्रन्थों में है और सुरा सेवन भी प्राचीन काल में चलता रहा है इसके भी पर्याप्त प्रमाण हैं। पर राहुल ने जिस अति के साथ इन कृत्यों का प्रयोग किया है, वह ऐतिहासिक है या नहीं, यह हम नहीं जानते। हमें तो इस सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है और वह यह है कि राहुल एक समय था जब वैष्णव महन्त थे, दूसरा समय आया बौद्ध भिक्षु बने और आज तीसरी अवस्था है कि वह रूसी कम्यूनिस्ट हैं। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क और सहवास से उनके भारतीय आचार की सीमा टूट गई है और जिसकी प्रतिक्रिया इस अतिचार के रूप में उनके ग्रन्थों में प्रकट हुई है।

"सिंह सेनापति" की रुचि, आदर्श, मान्यता और स्थापना आदि से कुछ को भले ही मतभेद हो पर रचना की दृष्टि से उक्त पुस्तक हिन्दी में अनूठी है। तक्षशिला का जीवन, आर्यों की युद्ध प्रणाली, प्रजातन्त्रीय शासन और गण-व्यवस्था आदि पर इसमें व्यापक प्रकाश डाला गया है।

राहुल में साहित्यिक रस न हो, उसमें आचार-विचार सम्बन्धी संतुलन भी न हो और यह भी हो कि वह जो आज कहते हैं—गलत और अनुपयुक्त भी है (जैसे कांग्रेस पर लगाए गये उनके आक्षेप) लेकिन इस सब के बावजूद उनके प्रयत्न में सचाई है, उनका व्यवहार निश्छल है और उनका साहित्य पठनीय है। उन्होंने जो दुनिया में बहुत देखा है, बहुत पढ़ा है, बहुत सहा और किया है और इसके परिणाम स्वरूप जो उनके पास कहने को बहुत कुछ है उससे हमें लाभ उठाना चाहिए और विचार करना चाहिए।

सूर : वात्सल्य शृङ्गार और भक्ति के कवि

एक अध्ययन : प्रो० सुधीन्द्र एम० ए०

(१)

"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर व्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणायें श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिसमें सब से ऊंची सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूर की वीणा की थी।"

—आचार्य स्व० रामचन्द्र शुक्ल

भक्त सूरदास के सम्बन्ध में इस से अधिक काव्यात्मक उक्ति दूसरी नहीं हो सकती। सूरदास वस्तुतः हिन्दी के जयदेव और विद्यापति ही हैं। सूर की वीणा ने जो कुछ गाया, उसके स्वर और शब्द आज शताब्दियाँ बीत जाने पर भी भारतीय संगीत और काव्य के आकाश में परिव्याप्त हैं। आज कोई ऐसा गायक नहीं, जिसके कण्ठ से—चाहे वह हिन्दू हो चाहे मुसलमान,—सूर के पदों की गीतिधारा न बहती हो। भत-कवियों के राज में सूर एक छत्र चकवर्ती राजा हैं। 'पुष्टिमार्ग' के प्रतिष्ठाता महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्यों[१] और महाप्रभु के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित चार भक्त कवियों[२] को गोस्वामीजी ने 'अष्टछाप' में लिया। महाप्रभु ने सूर को "ऐसो घिघियात काहे को है, कछु भगवत लीला वर्णन कर।" का अमर सन्देश दिया और सूर ने भगवत-लीला को गीति में डालकर मधुर और सरस बना दिया! भक्त सूर की कवि प्रतिभा ने भक्ति के उस अपार और अखण्ड स्रोत में जो भक्तों के मानस में आदि से प्रवाहित था गीति के प्राण डाल दिये।

भगवान् के सगुण रूप के सोलहों कला के 'स्वयंरूप'[१] कृष्ण की लीलाओं का मनोरम चित्राधार भगवान् वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत है। यह भागवत्—महापुराण मध्य युगीन वैष्णव सन्तों का प्रधान सर्वस्व रहा है। कवि-प्रतिभा, वेदान्त और ज्ञान की त्रिवेणी भागवत-तीर्थ में बहती है। भागवत का प्रभाव इस भक्तियुग में समस्त भारतीय भावधारा पर गहरा है। सूर का महान गीति-

---

[१] सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास
[२] छीतस्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास।

[१] भगवान के तीन रूप हैं—(१) स्वयं रूप (रामकृष्ण) (२) तदेकात्म रूप (मत्स्य, बाराह आदि) (३) आवेश रूप (नारद-शेष, सनकादि)।

काव्य—सूरसागर—तो इसी भागवत का रस-पुत्र है।

सूर की दार्शनिक दृष्टि—भागवत के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्र भगवान के 'स्वयंरूप' हैं जो भक्तों पर अनुग्रह कार्य के लिए पृथ्वी पर आते हैं। भगवान् अगुण भी हैं सगुण भी—निराकार भी, साकार भी। श्रीकृष्ण उनका सगुण 'स्वयं रूप' हैं, उसमें भगवान के माधुर्य आदि गुणों का समावेश है। योगियों के 'परमात्मा' दार्शनिकों के 'ब्रह्म' ज्ञान योगियों के 'ज्ञान' और सबसे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण हैं क्योंकि भगवान का यह सगुण रूप ऐसा है कि पृथ्वी के अणु-परमाणु और आकाश के तुषारकण तथा सूर्य की किरणें भले ही गिनी जा सकें, परन्तु सगुण रूप के गुणों की गणना कौन कर सकता है ?

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विनातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा खमितः
सुकल्पैर्भू पांसवः खे मिहिकाद्युमासः।
(भागवत)

वल्लभ संप्रदाय के अनुसार यह भगवान् लीला-विस्तार करने के लिए अवतार धारण करते हैं। परब्रह्म कृष्ण ही संसार का पालन और संहार करते हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई है। श्रीकृष्ण राधिका (प्रकृति) के साथ ब्रह्म-लोक में निवास करते हैं। भक्त आत्माएँ उनके साथ रहती है। भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिए ही वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। गोलोक पूर्ण रूप से व्रज में अवतीर्ण हो जाता है। देवता गोपी-ग्वाल और नंद-यशोदा बन जाते हैं और कृष्ण और राधा की रास-लीला का आनन्द उठाते हैं। इसी को सूर यों गाते हैं—

जगनायक जगदीश पियारो,
जगत् जननि जस रानी।
नित विहार गोपाल बाल संग,
विन्द्रावन रजधानी॥

भगवान् की इस लीला में (१) ऐश्वर्य माधुरी, (२) क्रीड़ा-माधुरी, (३) वेणु-माधुरी और (४) रूप माधुरी का समावेश है। ऐश्वर्य माधुरी में भागवान् का 'ईश्वर' रूप प्रधान है, क्रीड़ा-माधुरी में उनकी नाना क्रीड़ाएँ है—वेणु लीला में वेणुवादन है और रूप माधुरी का सागर तो समस्त सगुण वैष्णव भक्तों के काव्य में तरंगित हो रहा है।

इन भक्तों का भगवान् प्रेम का अपार पारावार है। वह भक्त के निकट दौड़ कर आता है। "श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है जो सब दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाता है। पुरुषोत्तम कृष्ण की लीलाएं नित्य हैं ! भगवान् की इस सत्य लीला सृष्टि में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है। लेकिन इसकी ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान् का अनुग्रह होता है। जिसे पोषण 'पुष्टि' कहते हैं। यही वल्लभाचार्य्य का 'पुष्टिमार्ग है। शान्त, दास्य सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—भक्ति के प्रकारों में से सूर की भक्ति सख्य भाव की थी ! 'सूरदास के लिए भगवान् प्रेम और प्रीति के वश हो लीलाएँ करते हैं—

प्रीति के वश में हैं मुरारी।
प्रीति के वश नटवर वेश धरयो,
प्रीति वश करन गिरिराज धारी।

और प्रेम ही प्रेममय प्रभु को पाने का साधन है।

प्रेम-प्रेम सों होय प्रेम सों पारहिं जैये।
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्त रसाल।
साचों निश्चय प्रेम को जातैं मिलैं गुपाल॥

सूर का समस्त भक्ति काव्य (सूरसागर) इसी प्रेम भावना और प्रेम लीला का सागर है।

सूर का गेय—सूर सागर भागवत् का रस पुत्र है। भागवत् का दशम स्कन्ध सर्वाधिक मनोरम है। उसी में कृष्ण जन्म, उनकी बाल क्रीड़ाएँ, गोपीलीलाएँ, मथुरा गमन गोपी विरह, उद्धव सन्देश, भ्रमर गीत, आदि समाविष्ट हैं। इन लीलाओं को तीन भागों में देखा जा सकता है (१) बाल—लीला (२) राधा, गोपीकृष्ण की प्रेम-लीला, (३) 'भ्रमर-गीत'। सूरदास गायक और कवि होने से भी पहले भक्त हैं। उन्होंने अपनी समस्त गीति और काव्य को भगवान् कृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिय

भगवान् के प्रति प्रेम उनके भक्ति, काव्य और गीति की प्राणधारा है। यही प्रेम (रति) भगवान् के बाल रूप के प्रति 'वात्सल्य' है, प्रेमरूप के प्रति 'शृङ्गार' है और वास्तविक रूप में यह भक्ति तो है ही।

कृष्ण की जीवन-लीला सूर का गेय है। कृष्ण की जीवन रेखा में बाल किशोर (या युवा) जीवन जितना ललित और मधुर है, उतना ही उनका प्रौढ़ जीवन भी है। परन्तु, वैष्णवभक्तों को ललित और मधुर रूप से ही काम है न कृष्ण के राज-जीवन से मतलब है, न पाञ्चजन्य-धारी कृष्ण के गीता गायन से। 'संतन को कहाँ सीकरी सों काम?' अतः कृष्ण का बाल और युवा जीवन ही सूर का गेय हुआ।

बाल-चित्रण

बाल-रूप—सूर के अधम-उधारन, असुर-सहारन त्रिभुवनराई हरि गोकुल में नन्द-महर-घर प्रकट हो गये हैं। सखियाँ मंगल गा उठी हैं, क्योंकि नन्दराय के यहाँ नव-निधि आ गई है—माथे पर मुकुट, कान में मणिकुण्डल, पीताम्बर और चार भुजाएँ। ऋषि अक्षत-दूब लिये खड़े हैं। गोकुल में आनन्द मङ्गल मनाया जा रहा है। गोरस की कीच मच गई है। एक चित्र दिखा कर हम आगे चलते हैं।—

आजु हो निसान बाजै, नन्द जू महर के।
आनन्द-मगन नर गोकुल सहर के।
दूब दधि-रोचन कनक थार लै लै चली,
मानों इन्द्र-वधू जुरीं पाँतनि बहर के।
आनँद मगन धेनु स्रवैं थनु पय-फेनु,
उमँग्यौ जमुनजल उछलि लहर के॥
आनन्दित विप्र, सूत मागध, जाचक गन,
उमंगि असीस देत सब हित हरि के।

ऐसे अनेक गीतों में सूर ने उन उत्सवों और समोरोहों के लिए लोरियाँ—गीतियाँ दे दी हैं जब कि कान्ह की इस भूमि में घर-घर कान्ह होंगे। ऐसे अवसरों पर सूर के पद गाये जाते सुनने को मिल जायँगे। यशोदा—नहीं, मानों स्वयं सूर ही हरि को पालने में झुला रहे हैं।

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया,
काहैं न आनि सुवावै।

इन्हीं दिनों पूतना दुग्धदायिनी माँ बन कर आती है, हरि उसके स्तन्य पान के साथ जीवन की पीड़ा भी पी लेते हैं और—

(सूरदास) बलि जाइ जसोदा,
गोपिन-प्रान पूतना बैरी।

अपने शैशव में कृष्ण कागासुर, सकटासुर—तृणावर्त हम भूल जाते हैं कि सूर के कृष्ण ब्रह्म के 'स्वयंरूप' हैं जिसके:—

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
× × ×
उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेष-सहसफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ।
बढ्यौ वृक्ष बट सुर अकुलाने, गगन भयो उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥

और किसी ने न देखा हो, पर सूर की अंधी पुतलियों ने यह विराट् दृश्य अवश्य ही देखा था। या देखा माता यशोदा ने—

देखि सयन-गति त्रिभुवन कपै, ईस विरंचि भ्रमावै।

कृष्ण शेषशायी विष्णु जो हैं।—

कर सिर-तर करि स्याम मनोहर,
अलक अधिक सोभावै।
सूरदास मानौं पन्नगपति,
प्रभु ऊपर फन छावै॥

एक ओर तो कृष्ण का सूर्य की आँखों से हमें दीखने वाला यह विराट् रूप और दूसरी ओर पार्थिव मृण्मय मानव के शिशु की भाँति होने वाली उनकी जीवन-लीलाएँ। यह अनन्य समन्वय सूर ही कर सकते थे। उस अलौकिक त्रिभुवन पति, और जगदीश ब्रह्म को जीवन के प्रभात में ही सूर ने दिखाया है फिर तो मानों इस ब्रह्म को ब्रज की धूल ने इतना पार्थिव कर दिया है कि कृष्ण मानवीय

शिशु ही बन गये हैं। सूर बाल-मानस के मर्मी थे। बाल-मनोवृत्तियों, मनोदशाओं और चेष्टाओं का इतना स्वाभाविक और सुन्दर अङ्कन सूर ने किया है कि उनकी प्रतिभा पर मुग्ध-गद्‌गद् हो जाना पड़ता है, विस्मित रह जाना पड़ता है और प्रश्न करना पड़ता है कि जिस जन्मान्ध (समझे जाने वाले) सूर ने इतना यथार्थ बाल-प्रकृति और बाल जीवन का अध्ययन निरीक्षण और चित्रण किया है, उस

सूर को अन्धा कौन कहे?

सूर ने माता के ममतामय और वात्सल्य-विभोर हृदय के अन्तरंग को भी जिस रूप में दिखाया है, वह भी अप्रतिभ है। अपने प्राणधन से शिशु के लिए माँ के हृदय में जो अजस्र (उसे स्नेह कहें कि वात्सल्य कहें कि प्रेम कहें! 'प्राण' ही क्यों न कहें?) प्राण की धारा बहती है और उससे प्रेरित जो भाव-भावना, उमंग-तरंग, आशा-अभिलाषा, आशङ्का-आकांक्षा निर्झरिणी-सी फूटती रहती है, उसका हृदय-स्पर्शी गायन सूर ही कर सकते थे। इस क्षेत्र में सूर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। वात्सल्य (यदि उसे पृथक् रस मानें) आलम्बन और आश्रय दोनों पक्षों का पूर्ण चित्र उनकी तूलिका ने हमें दिया है।

पालने में पोढ़े सूर के बालकृष्ण को जब मा यशोदा झुला रही है और गा रही है:—

'ना-हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ो किन होहि।

तो, जसुमति मन अभिलाष करै—

कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै,
कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं,
कब तोतरैं मुख बचन झरै?

और कभी तो मा की आन्तरिक अभिलाषा (साध) पुकार उठती है:—

इहिं मुख मधुर बचन हँसिकैं धौं,
जननि कहै कब मोहिं?
यह लालसा अधिक मेरे [२]जिय
जो जगदीश कराहिं।
मो देखत कान्हर[१] इहिं आँगन,
पग द्वै धरन धराहिं।

पर यशोदा नहीं जानती थी कि उसे इसके पहले यह विराट् दृश्य भी देखना था। जब वह देख रही थी—

कुटिल अलक मोहनि मन विहसन,
भृकुटि बिकट ललित नैनन पर।
दमकति दूध दंतुलिया विहसतु
मनु सीपज घर कियो बारिज पर।

तो अचानक कृष्ण ने—

मुख में तीन लोक दिखराये,
चकित भई नन्द रनियाँ।

और एक दिन यशोदा की चिरसंचित अभिलाषा पूरी हुई—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन मंडित, मुख दधि लेप किये।

और यशोदा के आँगन में ही नील जलद खिलने लगे, कृष्ण के पाँवों में ही हंसों का कलरव गूँजने लगा, मुख पर गुरु शनि और चन्द्रमा का मेला जुड़ने लगा, नील कमल पर तारे खिले और उन्हें बिजली ने आकर लपेट लिया!

आँगन खेलत घुटुरुनि धाये।
नील जलद अभिराम स्याम तन,
निरखि जननि दोउ निकट बुलाये।

× × ×

नूपुर कलरव मनु हंसनि सुत,
रचे नीड़ है बाँह बलाये।
भाल बिसाल ललित लटकन मनि
बाल दसा के चिकुर सुहाये।
मानो गुरु-सनि कुज आगैं करि,
ससिहिं मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब,
जब जननी पट पीत उढ़ाए।

१—पाठान्तर : मेरो ना-हरिया गोपाल।

२—पाठान्तर : दिन-दिन प्रति कबहूँ ईस करै।

१—कबधौं मेरो मोहन।

नील जलद पर उडु गन निरखत,
तजि सुभाव मनु तड़ित छपारो।

घुटुरुवनि चलते हुए कान्ह की यह बाल-छवि अत्यन्त मनोरम है।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिगन कनक नन्द के आँगन
बिंब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौ,
कर सों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ,
पुन-पुन तिहि अवगाहत।

बालकृष्ण के इस अरूप रूप का चित्र देखना हो तो इस पद में—

हरि जू की बालछवि कहौं बरनि!
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि।
× × ×
मंजु मचक मृदुल तन अनुहरत भूषन भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार सुरतरु फरयो अद्भुत फरनि।
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जलज संपुट सुभग छबि भरि लेत उर जनु धरनि।
× × ×
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि।

हरिजू की यह बालछवि सूर की भाँति किसके उर में नहीं बस जायगी? और कोई आँख वाला हो तो देखे कि उनकी इस छवि को देखकर नयन आत्मविस्मृत हो जाते हैं कि कहीं उनके काली घुँघराली कुन्तल राशि, मकराकृति कुण्डल के बंकिम भ्रूभंगिमा और 'नयन विलोकनि' कुंतल राशि पर विराजित फूलों और मयूर चन्द्रिका का किरीट, नील कमल या प्रफुल्ल शरीर जैसे श्यामल मेघों में नक्षत्रों के साथ इन्द्रधनुष खिल उठा हो—

कुन्तल कुटिल मकर कुण्डल
भ्रव नैन बिलोकनि बंक,
सुधासिंधु तैं निकसि नयौ ससि
राजत मनु मृग अंक।
सोभित सुमन मयूर चंद्रका
नील नलिन तनु श्याम।
मनहुँ नछत्र समेत इन्द्रधनु
सुभग मेघ अभिराम।

और कृष्ण की वह बाल-सुलभ मुखरता, चञ्चलता और नटखटी जो घर-घर की आँखों में बसा हुआ दृश्य है, सूर के अन्धे तारों में भी बसा था। यशोदा आँगन में खड़ी-खड़ी रोते हुए हरि को चन्दा दिखा कर बहलाना चाहती है—देख वह रहा चन्दा मामा, रो मत मेरे कान्ह:

रोवत कत बलि जाउँ तिहारी
देखौं धौं भरि नयन जुड़ावत।

और शिशु कृष्ण

चितै रहे तब आपुन शशितन
अपने कर लैलै जु बतावत।
मीठो लगत किधौ यह खारो?
देखत अति सुन्दर मन भावत।

कलात्मक संकेत द्वारा कृती कवि सूर ने चन्द्रमा में रोटी और माखन की बाल-सुलभ कल्पना भर दी है। पर यशोदा क्या जानती थी कि उल्टी बला गले आ पड़ेगी—

लागी भूख चन्द मैं खैहौं
देहु देहु रिस करि बिरुझावत।

और तब यशोदा सूर के श्याम को गगन में उड़ती चिरैया दिखाकर कैसे न कैसे बहला पाती है:

सूर श्याम को जसुदा बोधति,
गगन चिरैया उड़ति लखावत।

माखन के प्रेमी मोहन की माखनलीला बाल-कृष्ण के भक्तों का कैसे सर्वस्व है। कृष्ण की बाल-लीला में वह प्रसंग ललिततम है। जिन्हें देवताओं की अमृत खीर नहीं भाती उनका माखन रुच-रुच कर खाना ही तो आनन्द कन्द और लीलामय की लीला है:

कबहुँक अमर खीर नहिं भावत
कबहुँक दधि माखन रुचि मानी।
कबहुँक आर करत माखन की
कबहुँक भेस दिखाइ बिनानी।

सूरदास प्रभु की यह लीला
परति न महिमा सेस बखानी।

माखन चोर चोरी करने तो गया है, पर मथानी के भीतर अपना ही प्रतिबिम्ब देख कर सोचता है—यह कौन दूसरा माखन चोर माखन खाने घड़े में ही कूद घुसा है? नन्दबाबा अपने छौने की इस रिसभरी शिकायत पर मन ही-मन मगन हैं। बालक कृष्ण को लिये, कण्ठ लगाये, मुंह पोंछते, चूमते-पुचकारते मथानी के पास (घटनास्थल पर) आते हैं और भीतर झांकते हैं—कहाँ हैं देखें माखन चोर? और कृष्ण देखते हैं कि वह नटखट बालक तो बाबा की गोद में चढ़ा मांखन खा रहा है! क्रोध और भी बढ़ जाता है। नन्दबाबा तो गुनाह में शरीक हैं। अपनी पक्षपात रहित मैंया जसुमति के पास भागे। पहले ही से भूमिका ऐसी बाँधते हैं कि कहीं वह भी नन्दबाबा की भाँति न बदल जाय—मैया, मैया, देख री मैया, मैं तो तेरा लाल हूँ न! नन्दबाबा ने तो आज दूसरा लाल कर लिया, मुझे कुछ भी नहीं गिना! यशोदा अपने लड़ैते लाल को अङ्कवार में भर कर वहाँ लाई और घड़े को पकड़ कर हिला दिया। न परछाईं रहीं न झगड़ी—'न रहा बाँस न बजी बाँसुरी।' कृष्ण फूले न समाये कि अपराधी भाग गया, पर उनसे भी बढ़कर सुख मिला नन्दरानी यशोदा को, या सूर को? समस्त चित्र हीं बाल प्रकृति के निरीक्षक और द्रष्टा चित्रकार सूर की तूलिका-कुशलता की ओर इङ्गित करता है—

माखन खात हँसत किलकत,
हरि पकरि स्वच्छ घट देख्यो।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत,
जानत आन परेख्यो।
मन में माख करत कछु बोलत,
नन्दबबा पै आयौ।
वा घट में काहू कैं लरिका,
मेरो माखन खायौ।
महर कण्ठ लावत मुख पोंछत,
चूमत तिहिंठौं आयो।
हिरदै दिये लख्यौ वर सुत कौं,
तातैं अधिक रिसायौ।
कह्यौ जाइ जसुमति सौं ततछन,
मैं जननी सुत तेरो।
आजु नन्द सुत और कियौ,
कछु कियौ न आदर मेरौ।
जसुमति बाल विनोद जानि जिय,
उठी ठौर लै आई।
दोउ कर पकरि डुलावन लागी,
घट मैं नहिं छबि पाई।
कुंवर हस्यौ आनन्द-प्रेम बस,
सुख पायौ नन्दरानी।
सूरज प्रभु की अद्‌भुत लीला,
जिन जानी, तिन जानी।

छिपे और प्रकट कितना दूध-दधि, माखन-मिश्री, खाया-पिया, माँ, पर तेरी यह बात (भविष्य वाणी) तो अभी सच नहीं हुई कि मेरी चोटी खूब बढ़ जायगी—बल की बेनी जितनी हो जायगी। बड़ी झूठी है तू:—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भइ,
यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बलि की बैनी ज्यौं,
ह्वै है लाँबी—मोटी।
काढ़त—गुहत—न्हवावत जैहै,
नागसी-सी भुहिं लोटी।

माखन-रोटी, कभी खिलाती पिलाती नहीं तू। कहीं कच्चे दूध से भी लम्बी-मोटी चोटी होती होगी।-'दूध-दही, घृत-माखन-मेवा' खिलाया कर माँ! मुझे जल्दी बड़ा कर लै तो एक दिन कंस को पछाड़ूं!—

मैया, मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत माखन-मेवा जो माँगों सो दैरी।
× × ×
रङ्गभूमि मैं कंस पछारौं, घीसि बराऊँ बैरी।

इसी प्रकार कभी नन्दबाबा के आँगन में कभी धूल में, कभी यशोदाजी की गोदी में, कभी माखन मिश्री से भी मधुर उसके मन में कृष्ण-क्रीडा करते हुए स्वयं-मधु-

माखन-मिश्री खा-पीकर और बाल-ग्वालों का स्नेह, गैयों का दूध और यशोदा मा के माखन ने कृष्ण को बड़ा कर दिया है।

अब बालकृष्ण बड़े हो गये हैं, उनकी चोटी बढ़ गई है—और कौन जाने 'बल की बेनी ज्यों लाँबी मोटी' भी हो कर—नहाकर काढ़ने, गुहने और ओढ़ने से नागिन-सी धरती पर लोटने भी लगी हो; उनके उत्पात का क्षेत्र अब अधिक व्यापक—आँगन से पड़ौस हो गया है। मुहल्ले में और गलियों में भीर हो रही है। बलदाऊ—सम्भवतः दूसरे गोप-बालकों के नेता बनकर—उन्हें चिढ़ाते हैं (क्योंकि यह गुरुमन्त्र किसी नटखट ग्वाल-बाल ने ही बलदाऊ को दिया होगा)। क्या चिढ़ाते हैं वह हमें कृष्ण के ही करुण-मधुर स्वर में सुनना अच्छा लगता है—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनों, तोहिं जसुमति कब जायो
× × ×
गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर?
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।'

कृष्ण को सब से बड़ा परिताप यही है कि यशोदा उन्हीं बेचारों को मारना सीखी है—(दाऊ के कान कभी गरम नहीं होते—कभी छड़ी नहीं पड़ती, कभी ऊँखल से नहीं बँधते!) सुनिए, सुनिए कृष्ण कह रहे हैं:

"तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबहुँ न खीझै"

गद्‌गद् यशोदा इससे अधिक और क्या कहे कि—

"सुनहु स्याम बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं हौं माता, तू पूत।

लड़ाई-झगड़े भी होते ही रहते हैं और सन्धि भी होती ही रहती हैं। फिर से आँखमिचौनी होने लगती है और दिन बीतते जाते हैं। नटखटपन बढ़ता जाता है। अचगरीसे महराने से आये हुए पाँडे को छकाया जाता है—यशोदा ने आवभगत करके,

धेनु दुहाई, दूध लै आई,
पाँडे रुचि करि खीर चढ़ायौ।'
× × × ×

नैन उघारि विप्र जो देखे,
खात कन्हैया भोजन पायो।
सूर स्याम कत करत अचगरो,
बार-बार बाम्हहिं खिझायौ।

इस 'नटखटोक्ति' पर सूर और ग्वालिनें और माता रीझ ही सकती हैं—

गोपाल-रूप

अब कृष्ण 'माखन-चोर' से 'गोपाल' बन गये हैं। कृष्ण का गोचारण जीवन अनेक मङ्गल-प्रवृत्तियों से पूर्ण है। प्रायः सभी महापुरुषों ने पशु-पालन का महान कार्य किया है। चाहे वे ईसा हों मूसा हों चाहे मुहम्मद, चाहे कृष्ण। गायों बकरी का दूध पीते हैं। और गौ उनके लिए करुणा की कविता है। वह 'गो-रक्षक' हैं। राम और गौतम (सिद्धार्थ) तो राजकुमार ठहरे।

यहीं सब महापुरुषों का व्यक्तित्व लोक हितार्थ ढला है, यहीं इनका जीवन लोक-संग्रही बना है। कृष्ण के बकासुर, अघासुर, का वध कर दिया है और गोपों के जीवन में अपना मूल्यवान् स्थान बना लिया है। अब वेशभूषा और ही हो गई है—अब कारी कामरिया और लकुटी लिए वह धोरी धूमरी गैयों को वृन्दावन में चराने जाता है। लौटकर आने की शोभा सूर की वाणी में सुनिए:

देखि सखी वन तैं जु बने ब्रज आवत हैं नंदनंदन।
सिखी सिखंड सीस, मुख मुरली बन्यौ तिलक उर चंदन

कृष्ण के लीला-लालित्य में सौन्दर्य के स्रष्टा सूर ने उनके रूप-लालित्य का रंग सदैव भरा है। कृष्ण के शैशव बाल्य और कैशोर के अनेक मनोरम क्षणों को सूर अपनी रूप लेखनी तूलिका से चित्रित न करें तो सूर ही क्या! सूर ने अपने समस्त काव्य को कृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया है और कृष्ण जीवन के अनेक रूप होते हुए भी उन्हें तो उनको बाल और किशोर रूप ने ही मोल लिया है। राजा कंस के और गीता के गायक कृष्ण से सूर को क्या मिलेगा? उस बाल-जीवन की अनेक विध-लीला व्यापारों को अङ्कित करने में सूर ने अपना हृदय ही खोल दिया। बाल्य और कैशोर—जीवन के ये वासंतिक

क्षण-आयु के दिन में कितने कम हैं ! इस प्रकार सूर का दर्शन-क्षेत्र, सूर का चित्राधार कितना स्वल्प और संकुचित है ! किन्तु छोटे चित्रपट पर कितना विराट् चित्रांकन चित्रकार कर लेता है। सूर ने भी शतसहस्र चित्र अपनी तूली से बनाए, पर वह थका नहीं और न देखने वाले थके। एक दृश्य को, व्यापार को, लीला को इस गायक ने राशि-राशि बार गाया किन्तु सुनने वालों के कान तृप्त न हुए। क्यों ? इसका मर्म क्या है ? क्या किसी ने सोचा है ? अपने आराध्य कृष्ण की जो लीलाएँ सूर ने गाई हैं उनमें उसने इतने रंगमय छवियों, चित्रमय व्यापारों और रसमय कार्यकलापों का समावेश कर दिया है कि दर्शक को एक ही छवि नित्य नूतन श्री और शोभा में और कुछ ही लीलाएँ नव-नवीन लालित्य में और थोड़े से कार्य-कलाप नवनवोन्मेषशालिनी गरिमा में दिखाई पड़े। हमारी पृथ्वी के ऊपर फैला हुआ आकाश वही है; वही नक्षत्र ताराग्रह, सूर्यचन्द्र सायंप्रभात हम देखते हैं किन्तु फिर भी तृप्ति नहीं पाते हैं ? उषा का नित्य नूतन हास-विलास, संध्या का नित्य नूतन, इन्द्र धनुषी, चञ्चल-अचल, मेघखण्डों का नित्य नूतन नर्तन, ज्योत्स्ना, अमा और विभावरी का नित्य-नूतन पट परिवर्तन हमारी पुतलियों में कभी पुनरुक्ति की भावना नहीं आने देता, फिर हमारे हृदय का भावुक कवि ताराखचित आकाश में नक्षत्र-जटित वितान का रूप जो देखा करता है, हमारे हृदय का कृती चित्रकार इन्द्रधनुष में इन्द्रसभा की सुषमाशालिनी अप्सरा के परिधान का रंग जो भरा करता है और हमारे हृदय का गुणी गायक श्यामा के स्वर में आह्लाद और अवसाद की रागनियाँ जो सुना करता है। सूर ने अपने परिमित क्षेत्र में यही किया उसने अपने चित्र को आलंकारिक रेखाओं से छविमय, अपने काव्य को रस के बिन्दुओं से मधुमय और अपनी गीति को भावनाओं के स्वर से लयमय बना दिया।

रामचन्द्रिका का प्रबन्ध-निर्वाह

श्री गुलाबराय एम० ए०

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में केशव की कीर्तिपताका रामचन्द्रिका के आधार-स्तम्भ पर अवस्थित है। पंडितों को उसके पांडित्य पर गर्व है। उसमें छन्दों और अलङ्कारों का बाहुल्य है, इसकी भी कमी नहीं हैं किन्तु पांडित्य-प्रदर्शन ने कहीं-कहीं उनके औचित्य ज्ञान को दबा लिया है। रामचन्द्रिका का प्रबन्ध-प्रवाह भी इसी कारण कुंठित हो गया है। इस लेख में इसी बात पर विचार किया जायगा। किन्तु इसके विवेचन के पूर्व उसके कथानक के आधार और उसकी नवीनताओं पर भी प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

कथानक—रामचन्द्रिका का कथानक प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण पर आश्रित है। उनको रामचन्द्रिका लिखने की प्रेरणा स्वप्न में ऋषि वाल्मीकि से ही मिली थी। इसलिए उनका अनुकरण स्वाभाविक ही था। वाल्मीकि की भाँति ही परशुरामजी बरात लौटते समय रामचन्द्रजी से मिले थे और उन्हीं के अनुसार लक्ष्मणजी के शक्ति रावण द्वारा लगी है तुलसीकृत की भाँति मेघनाथ द्वारा नहीं। इस कथानक में और भी कई नवीनताएँ हैं किन्तु वे प्राय: या तो प्रसन्न राघव या हनुमन्नाटक नारद के आधार पर है। जैसे धनुषयज्ञ के समय सुमति-विमति का प्रसङ्ग प्रसन्न राघव से लिया गया है अन्तर केवल इतना ही है कि संस्कृत नाटक के नूपुरक तथा मञ्जीरक रामचन्द्रिका में सुमति-विमति बन गये हैं। रामचन्द्रिका की कई नवीनताओं ने कथा के उत्कर्ष को बढ़ाया है। ताड़का वध के समय केशव ने जो वार्तालाप रामचन्द्रजी और विश्वामित्र के बीच कराया है वह रामचन्द्रजी को बहुत अंश में स्त्री-वध के अपराध से मुक्त कर देता है। जब श्रीरामचन्द्रजी ने यह सुन लिया कि 'द्विज-दोषी न विचारिये कहा पुरुष कहा नारि राम विलम्ब न कीजिये वाम ताड़का तारि' तभी वे उसके ऊपर शर चलाते हैं। केशव ने शक्ति लगने पर सुषेण वैद्य को नहीं बुलवाया है विभीषण से ही औषधि की बात कहलायी है।

केशव की भक्ति-भावना सत्य बात कहने में बाधक नहीं हुई है। उन्होंने राम-पक्ष के दोषों का किसी न किसी रूप में अपने पात्रों द्वारा उद्‌घाटन करा ही दिया है। राम के पास दूत भेजने में चाहे रावण की राजनीतिक चाल ही क्यों न हो किन्तु उसके द्वारा राम के दोष की ओर संकेत करा दिया है। देखिए:—

सूपनखा जु विरूप करी तुम,
तातें कियो हमहू दुख भारो।
बारिध बन्धन कीन्हो हुतो,
तुम मो सुत बन्धन कीन्ह तिहारो।

इसी प्रकार लव के मुँह से विभीषण रण-दूषण और व्यंग्य में कुलभूषण कहलाया है। अङ्गद चाहे रावण की बातों में नहीं आया था किन्तु केशवदासजी उसका असन्तोष प्रकट कराये बिना नहीं रहे। उसने कोई उपहार स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार केशव ने अपने काव्य में अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया है और कुछ नवीन उद्‌भावनाएँ भी की हैं जो चाहे उधार ली हुई क्यों न हो काव्य की रोचकता एवं उपादेयता बढ़ाती हैं।

प्रबन्ध निर्वाह—यद्यपि रामचन्द्रिका प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई है तथापि उसमें मुक्तक के गुण अधिक हैं। उसमें कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलंकरण एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक है। इसका साज-शृंगार मुक्तक का सा है। यदि प्रबन्ध निर्वाह शिथिल न होता तो यह बात केशव के लिए विशेष महत्व की होती कि वे प्रबन्ध में भी मुक्तक का सा चमत्कार उत्पन्न कर सके। रामचन्द्रिका में विशेष-विशेष स्थलों का वर्णन बड़ा विशद और चमत्कार पूर्ण है किन्तु उनकी जोड़ने वाली कड़ियाँ बड़ी शिथिल हैं। कहीं-कहीं तो रामचन्द्रजी के बनवास देने के से महत्वपूर्ण प्रसङ्ग भी एक ही छन्द में चलते कर दिये गये हैं, देखिए:—

यह बात भरत्थ की मात सुनी।
पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर यों नृप सो विनयो।
बर देहु हुतो हम को जु दयो॥
नृप बात कहीं हंसि हेरि हियो।
बर मांगि सुलोचनि मैं जु दियो॥
(कैकेयी) नृपता सुविसेस भरत्थ लहैं।
बरषै बन चौदह राम रहैं॥

इसमें कैकेयी का चरित्र एकदम गिर जाता है, राम बनवास का सारा भार उसके सर पड़ता है। दशरथ के राज-महल का गौरव और पारस्परिक प्रेम-भाव नष्ट होकर उसकी स्थिति एक कलहपूर्ण साधारण परिवार की सी हो जाती है। मंथरा का नाम भी नहीं आता किन्तु रामचन्द्रजी के अयोध्या लौटने पर उनकी इस बात की प्रशंसा की जाती है कि उन्होंने मंथरा से कोई बुराई नहीं आती देखिए:—

'मंथरा सों मोद मानत विपिन पठ्यो पेलि'

पठ्यो पेलिबड़े जोरदारशब्द हैं। यहाँ पर सारा भार कैकेयी के सर के उसके ऊपर आ जाता है। अपने उचित स्थान पर मन्थरा का कोई उल्लेख नहीं होता। जिन पाठकों ने रामचरित का अध्ययन केवल रामचन्द्रिका से किया हो उनके लिये मंथरा का नाम किसी बाहरी अन्तर्कथा के रूप में आता है। मूल पुस्तक से उसका कोई सूत्र नहीं मिलता।

रामचन्द्रजी बन को जाते हैं उनके साथ उनकी अनुरक्त प्रजा पीछे जाती है। इस सम्बन्ध में केशवदासजी ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा दी है।

'मनोभगीरथ पथ चल्यो भगीरथी प्रवाह'

रामचन्द्रजी भगीरथ के वंश के थे, उनकी महाभाग भगीरथ से तुलना करना उपयुक्त ही था किन्तु इसके बाद उस प्रवाह का पता नहीं चलता कि वह अयोध्या लौट गया अथवा उसका कोई जन्हु ऋषि आचमन कर गये और फिर वह उनके शरीर से बाहर नहीं निकला।

राम के साथ कोई सुमन्त नहीं भेजे जाते। ऐसा मालूम होता है कि राजा की ओर से भी उनकी नितान्त उपेक्षा थी किन्तु ऐसी बात न थी। उनके वन-गमन की बात सुनते ही दशरथ जी की मृत्यु हो जाती है। केशव ने दशरथ के स्नेह की अभिव्यक्ति चरम घटना से ही कराई है। उन्होंने तुलसी की भाँति धर्म और स्नेह के अन्तर्द्वन्द्व वर्णन करने की चिन्ता नहीं की। इसमें विशेष हानि न थी दशरथजी ऐसी स्थिति में बहुत कुछ कह भी नहीं

सकते थे किन्तु यह घटना इतनी शीघ्र घटती है कि यह प्रश्न होने लगता है कि रामचन्द्रजी तुरन्त ही लौटा क्यों न लिये गये। बनवास हो गया था तो क्या? ज्येष्ठ पुत्र तो थे ही।

रामचन्द्र धाम ते चले सुने जबै नृपाल।
बात को कहै सुनै सु ह्वै गये महा बिहाल॥
ब्रह्म रंध्र फोरि जीव यों मिल्यो जु लोक जाय।
गेह तूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय॥

बिना किसी शोक-प्रदर्शनके वे नहीं पड़े रहते हैं। कथा प्रवाह दूसरी ओर बहने लगता है। (तुलसीदासजी ने दशरथ जी को सुमन्त के लौटने तक जिन्दा रक्खा है) बन जाते हुए सीता राम के सौन्दर्य की प्रशंसा होने लगती है। नगर की नारियाँ सीताजी की शोभा का वर्णन पंडितों को लज्जित करने वाली श्लेषप्रधान भाषा में करने लग जाती हैं। उनके मुख से केशवदासजी स्वयं बोलते सुनाई पड़ते हैं

वासों मृग अंक कहै तोसों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तु हूँ सुधाधर मानिए।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कमलानिधि तुहू कला कलित बखानिए॥

ऐसा प्रतीत होता है मानों इस अलङ्कार-प्रधान वर्णन के लिए ही कथा जल्दी चलाई गई हो।

भरत जी के बुलाने के प्रबन्ध को बात पाठकों की कल्पना पर छोड़ दी जाती है। वे स्वयं आ जाते हैं। केशव को पाठकों की सर्वज्ञता पर अधिक विश्वास है। रामचन्द्रजी के साथ गुह के जाने की कोई बात नहीं आती किन्तु भरत के साथ उसका पूर्व परचित का सा उल्लेख होता है 'तरि गंग गये गुह संग लिये'

केशवदासजी का मन भरतजी के हाथियों के 'मनि 'घूँघुर घंटन के रव' से घोषित होने वाले राजवैभव के वर्णन में अधिक रमा है और युद्ध या बरात के पयान की भाँति ही भरत का आगमन दिखाया गया है। 'युद्ध को आज भरत्थ चढ़े धुनि दुन्दभि की दसौ दिस धाई।' लक्ष्मणजी को उत्तेजित करने के लिये दूर से दिखाई देने वाली धूल ही काफी थी, उस समय दुन्दभी की चर्चा बेवक्त की शहनाई की बात चरितार्थ करती थी।

धनुष यज्ञ और विवाह तक प्रबन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है, इसके बाद शिथिलता आ गई है। पञ्चवटी से राम-रावण युद्ध तक प्रवाह यथावत् रीति से चला है। अयोध्या लौटने पर तो केशवदासजी कवि प्रिया की कवि शिक्षा के बाग, तड़ाग, वसन्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णनों की खाना पूरी में पड़ गये हैं। वर्णनों के मोह में राम के मर्यादा-प्रधान लोक-पावन चरित का भी ध्यान नहीं रक्खा गया। दासियों के नख-शिख का वर्णन जी खोलकर किया गया है और तारीफ यह कि रामजी उसे छिपे-छिपे सुनते रहे। रामचन्द्रजी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा भी करते हैं। रामचन्द्रिका में पीछे के कवियों के अष्टयाम का पूर्व रूप सा दिखाई देने लगता है। रामचन्द्र जी का रनवास मुगल सम्राटों के अन्तः पुर का रूप धारण कर लेता है—बौने, अंधे, गूंगे नौकर भी मौजूद हो जाते हैं, मानों उनके महल में भी कुछ रहस्य-कथाएँ चल रही हों और केशव के विद्वान टीकाकार लालाजी भी इस बात की दाद देते हैं कि वहाँ ऐसे ही नौकरों की आवश्यकता थी। रामचन्द्रिका में नृत्यों के भेदों का उल्लेख केशव की जानकारी पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त कथा प्रवाह में कुछ भी सहायक नहीं होता वरन् उसकी गति के विराम को और भी लंबा कर देता है। जायसी में इस प्रकार के दोष बहुतायत से हैं। अश्वमेध यज्ञ की कथा का प्रवाह फिर अच्छी गति से चला है। यद्यपि छन्दों का बदलना काव्य की एकतानता सम्बन्धी ऊब को दूर करता है तथापि परिवर्तन-बाहुल्य पाठक को कुछ देर तक कथा के रस प्रवाह में बहने में बाधक होता है। रामचन्द्रिका में छन्द परिवर्तन दोष की हद तक पहुँच गया है। वह एक प्रकार से छन्दों और अलंकारों की प्रदर्शनी बन गई है। रामचन्द्रिका के छन्द बाहुल्य पर तो केशवदासजी ने सगर्व संकेत किया है 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हों बहु छन्द'

कवि प्रिया और रामचन्द्रिका—यद्यपि कवि प्रिया की निर्माण तिथि रामचन्द्रिका से सात या आठ महीने पीछे है तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि दोनों का ढाँचा बहुत काल तक केशवदासजी के मन में एक साथ घूमता रहा। जो वर्ण्य विषय कवि प्रिया में है वे ही रामचन्द्रिका में हैं। उनमें से बहुत से छन्द दोनों में ज्यों के त्यों मिलते हैं।

रामचन्द्रिका और कवि प्रिया में समानरूप से मिलनेवाले कुछ छन्द

छन्द	कवि प्रिया	विषय	रामचन्द्रिका	प्रसङ्ग
१—विलोकि सरोरुह सेत समेत	पंचम प्रभाव १३	जरा वर्णन	चौबीसवाँ प्रकाश १२	राम विरक्ति
२—को है दमयन्ती इन्दुमती रति राति दिन	छठा प्रभाव ४२	सरूप वर्णन	छठा प्रकाश ५६	सीताजी का रूप वर्णन
३—मूल पूरन पुराण अरु पुरुष पुराने परिपूरन बतावें	छठा प्रभाव ७२	राम को दान वर्णन	प्रथम प्रकाश ३	राम वन्दना
४—हाथी न साथी न घोरे न चेरे	छठा प्रभाव ५६	सत्य झूठ वर्णन	सोलहवाँ प्रकाश २६	अङ्गद रावण संवाद
५—केशोदास मृगज बछेरू चूषै बाघनीन	सातवाँ प्रभाव १३	आश्रम वर्णन	बीसवाँ प्रकाश ४०	भरद्वाज आश्रम की शान्ति
६—केशोदास है उदास, कमलाकर सो कर	सातवाँ प्रभाव २२	चन्द्रोदय वर्णन	तीसवाँ प्रकाश ४६	चन्द्र वर्णन
७—भूति विभूति पियूषहु को विष ईश शरीर	सातवाँ प्रभाव २६	सागर वर्णन	चौदहवाँ प्रकाश ४१	समुद वर्णन
८—भौहें सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर	सातवाँ प्रभाव ३२	वर्षा वर्णन	तेरहवाँ प्रकाश १६	सीता विरह में वर्षा वर्णन
९—दानिन के शील, परदान के प्रहारी दिन	आठवाँ प्रभाव १०	राजकुमार वर्णन	पाँचवाँ प्रकाश ३१	सीता स्वयंवर
१०—राघव की चतुरंग चमू नादि पूरि, पूरि पूरि	आठवाँ प्रभाव १७ और २३	प्यान वर्णन	पेंतीसवाँ प्रकाश ८ और १०	अश्वमेध यज्ञ
११—शोणित सलिल नर बानर सलिल चर	आठवाँ प्रभाव ३१	संग्राम वर्णन	उन्तालीसवाँ प्रकाश ६	लवकुश और भरत युद्ध
१२—एक दमयन्ती ऐसा हरै हँसि हंस वंस	आठवाँ प्रभाव ३७	जलकेलि वर्णन	बत्तीसवाँ प्रकाश ३७	रामजी की जलक्रीड़ा
१३—बैरी गाय ब्राह्मण को कालै सब काल जहाँ	ग्यारहवाँ प्रभाव ४३	नियम श्लेष	सत्ताईसवाँ प्रकाश ३	इन्द्रकृत राम स्तुति
१४—राम की बाम जो आनी चोराय	ग्यारहवाँ प्रभाव ५८	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ६	मन्दोदरी रावण संवाद
१५—बाल बली न बाच्यो	ग्यारहवाँ प्रभाव ५६	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ७	मन्दोदरी रावण संवाद
१६—सिगरे नर नायक असुर विनायक	ग्यारहवाँ प्रभाव ६०	वीभत्स रसवत अलंकार	पाँचवाँ प्रकाश ३८	सीता स्वयंवर

इनके अतिरिक्त और भी कई उदाहरण हैं किन्तु ये इस बात के प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि रामचन्द्रिका में कवि प्रिया में उल्लिखित वर्ण्य विषयों को लाकर कवि-कर्तव्य-पालन करना कवि का एकमात्र ध्येय तो नहीं किन्तु एक प्रमुख उद्देश्य अवश्य था जिसने रामचन्द्रिका की प्रबन्धात्मकता पर छाया डालदी थी।

कहानी

नौ अगस्त—संपादक श्री प्रह्लाद पाँडेय 'शशि'। प्रकाशक युग प्रवर्तक ग्रन्थ माला इन्दौर। मूल्य १), पृष्ठ ११६।

प्रस्तुत संग्रह में १२ नवयुवक लेखकों द्वारा लिखी हुई १२ कहानियाँ हैं। नौ अगस्त का नाम भारतीय इतिहास के साथ विचित्र रीति से संबद्ध है। इसमें अशान्ति विद्रोह दमन और अमानुषिक अत्याचारों की अनेक रोमांचकारी घटनाऐं निहित हैं किन्तु प्रस्तुत पुस्तक का उन सभी बातों से कोई संबन्ध नहीं है यह तो संपादक के ही शब्दों में 'संगीनों के बल पर माता सरस्वती के आराधना भवन पर कपट-कब्जा जमाने वाले हुक्काम परस्त असाहित्यिक धनवानों के विरुद्ध प्रतिभा संपन्न किन्तु कुचले हुए नबोदित साहित्यकारों द्वारा उठाया हुआ विद्रोह का झंडा है।'

इस संग्रह में संग्रहीत कहानियाँ एक विशेष उद्देश्य को लेकर चली हैं और वह प्रचारात्मक हैं। उनका उद्देश्य पाठकों के मन में राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण है किन्तु ऐसा होते हुए भी कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से शून्य नहीं है। 'सफर का साथी' नामक कहानी में कथा वस्तु का बड़ी कुशल रीति से निर्वाह किया है साथ ही उस घुन की ओर संकेत है जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को तिलतिल करके खाये जा रहा है। 'अहमदिया मंदिर और मोहनियाँ मसजिद' के आदर्श को यदि हम जीवन में उतार सकें तो गाँधी-जिन्ना मिलन की फिर कोई आवश्यकता ही न रह जावे। श्री अहसन द्वारा लिखित 'फीस' नामक कहानी सबसे अधिक मार्मिक है। मातृ-हृदय के त्याग की सीमा वहाँ दिखाई पड़ती है। पता नहीं संस्कारों से जर्जर हमारा आदर्शवादी समाज उस त्याग की प्रशंसा कर सकेगा या नहीं। अन्य कहानियाँ भी अपनी दृष्टि से सुन्दर और आकर्षक हैं। इन कहानियों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आज का श्रमजीवी लेखक किस प्रकार कला के साथ वर्तमान समस्याओं को सजीव रूप दे सकता है। हम इस साहित्य के प्रकाशन का स्वागत करते हैं।

शर्मनलाल अग्रवाल

वैदिक-कहानियाँ—लेखक बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य प्रोफेसर संस्कृत-पाली विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी। प्रकाशक शारदा-मन्दिर काशी। पृष्ठ संख्या १५०, मूल्य १॥)

इस पुस्तक में संहिता ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में संगृहीत ११ कहानियाँ हैं। आरम्भ में एक भूमिका दी हुई है। इस भूमिका में लेखक ने कहानियों के जनप्रिय होने के कारण देने के पश्चात् भारत में वेदों से लेकर पंचतंत्र तक का कहानियों का इतिहास दिया है, और यह स्थापना की है कि "कथा साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और हमने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्व प्रथम प्रदर्शित की।" भूमिका में लेखक ने ग्यारह कहानियों के वैदिक स्रोतों का उल्लेख कर बहुत ही उपयोगी कार्य किया है।

इन ग्यारह कहानियों से हमें वैदिक कहानियों का तंत्र क्या था यही ज्ञात नहीं होता बरन् उस काल की स्थूल सामाजिक दशा का भी ज्ञान होता है। ऋषियों को अपनी प्रिय पत्नियों को प्राप्त करने के लिये भी ऋषित्व और

तपस्या करनी पड़ती थी, मन का सौन्दर्य कम और रूप का सौन्दर्य विशेषकर इस काल के ऋषियों को भी आकर्षित करता था, महाव्रत आदि हीन जाति समझे जाते थे, ब्रह्मविद्या गोप्य थी। 'इन्द्र' इस काल में भी विशेष आदर-पात्र नहीं माना जाता था यद्यपि शक्ति के कारण उसकी पूजा होती थी। ऋषियों में भी लोलुपता और मृत्यु-भय था। अकाल पड़ते थे, यज्ञ होते थे। शल्य-क्रिया का आदर हो चला था—आदि आदि।

कहानियाँ रोचक अवश्य हैं, पर भाषा में ओज और प्रवाह कम है, फिर भी कहानीकार ने तत्कालीन चित्र देने में पर्याप्त सफलता पाई है। जिन कुछ विशेष भावनाओं का आरोप कहानियों के विविध पात्रों में किया है, वे तत्काल संभव नहीं प्रतीत होतीं, फिर भी यह अनुभव होता है कि अधिकाँशतः लेखक ने कहानियों को वैदिक वातावरण के अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टा की है, यह दूसरी बात है कि उसके सचेष्ट उद्योग के बाद भी उतना आदर आज के बुद्धिवादी के मन में वैदिक सभ्यता के तत्वों पर न हो पाये जितना कहानीकार कहानी के विधान के द्वार। नहीं अपनी लेखनी के विशेषणों द्वारा देना चाहता है। इसके लिये उपाध्यायजी के मस्तिष्क और राहुल जी की शैलों के संयोग की आवश्यकता है। पुस्तक संग्रहणीय है।

मधुमंजरी—प्रकाशक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। 'संपादक' इस संग्रह के कोई हैं अवश्य, पर उन्होंने अपना नाम प्रकट नहीं किया है अथवा सभा ने उनका नाम प्रकाशन योग्य नहीं समझा है। कुछ अपनी—में पढ़कर हिन्दी प्रेमी को आनन्द मिलेगा कि "आज हिन्दी में—सौभाग्य से—ऊँचे दर्जे के कहानी लेखक इतनी बड़ी संख्या में हैं···" संपादक का कथन है कि "इस संग्रह में जो कहानियाँ ली गई हैं वे इन लेखकों की सर्व-श्रेष्ठ कहानियाँ मान कर नहीं ली गईं, बल्कि भाषा, टेकनीक, स्वभाव, वगैरह को ध्यान में रखकर औसत दर्जे की कहानी ही ली गई है।" इसमें कहानियों को चार वर्गों में विभाजित करके संग्रहीत किया गया है। १ सामाजिक कहानियाँ इसमें प्रेमचन्द का कफन कौशिकजी की हिन्दुस्तानी, उग्रजी की उसकी माँ दी गई हैं। २ भावात्मक कहानियों में प्रसाद की सालवती, श्री वियोगी के 'पाँच मिनट' उषादेवी, मित्रा की बुभुक्षा। ३ मनोवैज्ञानिक कहानियों में चतुरसैन शास्त्री की दुखवा मैं कासे कहूँ, भागवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी', जैनेन्द्रकुमार की दृष्टिदोष, ४ प्रगतिवादी कहानियों में भगवतीचरण वर्मा की 'इंस्टालमेण्ट', अज्ञेय जी की विपथका यशपाल की दुख नाम की कहानियां हैं। परिशिष्ट में गुलेरी जी की उसने कहा था। कहानियाँ सभी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। आरम्भ में एक अध्याय 'कहानी का विवेचन' विद्यार्थियों के बड़े काम का है उसमें प्रवाह और प्रभावमयी भाषा में कहानी का परिभाषा कहानी का उदय कहानी में मनोविज्ञान, आदर्शवाद, यथार्थवाद कहानी का इतिहास उसका साहित्यिक अन्य अंगों से भेद और संबन्ध उनका तन्त्र विन्यास आदि के विविध तत्वों पर संक्षिप्त विचार दिये गये हैं। श्रेष्ठ कहानियों की पहचान के भी कुछ लक्षण गिनाये गये हैं और अन्त में हिन्दी की कहानियों की प्रगति भी तीन कालों में विभाजित कर समझाई गई है। प्रत्येक कहानी से पूर्व कहानीकार के परिचय के साथ कहानी का भी परिचय दिया गया है। छपाई सफ़ाई बहुत आकर्षक। संपादक महोदय अपने चुनाव में पूर्ण सफल हुये हैं।

पश्चात्ताप के पथ पर—लेखक श्री विश्वेश्वरदयाल त्रिपाठी प्रकाशक–पुस्तक-भवन, चौक, काशी। मूल्य १॥) पृ० सं० १७० सजिल्द।

यह कहानी संग्रह पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी को समर्पित किया गया है। इसमें १८ कहानियाँ हैं। अधिकाँश कहानियाँ प्रेम की संयोगान्त हलकी रोमाँस से भीगीं हैं, यद्यपि इनमें कोई गम्भीर अनुभूतियाँ, अथवा मर्मस्पर्शी हृदयोद्वेलन करने वाले जीवन चित्र नहीं पर पुष्पनाटिका की गुलाबी पुष्पमालिका की सरस झाँकियाँ ठाले समय का मनोरंजन कर सकती हैं। कुछ-एक कहानियों में शराब के दोष, जमीदार का अत्याचार, भारतीय नारी का पति के लिये उत्सर्ग भी मध्यम शैली में लिखे

गये मिलते हैं। कटु अनुभव में वैसा ही हल्का व्यंग और परिहास है, पर उसके लिये जो साधन काम में लिए गये हैं, वे बहुत स्थूल हैं। टेकनीक की दृष्टि से भी कहानियाँ विगत युग की प्रतीत होती हैं। कहानीकार में कला के बीज तो हैं, कहीं-कहीं इसके चित्र भी सजीव बन पड़े हैं और संवाद भी सप्राण, पर अभी उसे कहानी-कला के मर्म को और अपने चारों ओर के जगत को और अधिक गहराई से समझने की आवश्यकता है।

अनुराग—लेखिका विमलारानी। प्रकाशक इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग। पृष्ठ संख्या १३७ मूल्य दिया नहीं। इस संग्रह में भैया, वचन अविश्वसनीय, त्याग, राजरानी मीरा, संवेदना, मूल्यांकन तथा शराबी में नौ कहानियाँ हैं। अपनी बात लिखते हुये लेखिका ने बताया है कि "कहानियों के संसार में मेरा यह प्रथम चरण है।" यह प्रथम चरण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। लेखिका के विकलता के ही क्षणों में निश्चय ही इन कहानियों का जन्म हुआ है। कहानियों में लेखिका ने एक भोली भावमयी अनुरागपूर्ण करुणा कातरता से जीवन के क्षेत्र की कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। दुःख और वेदना के उल्लास और प्रकाशमय क्षणों के चित्र इन छोटी कहानियों में सजीव उतर आये हैं, जिनसे हृदय में तेज और संवेदना मन में पवित्रता और नेत्रों में अश्रु सिंच उठते हैं। भाई-बहिन के पावन-अनुराग की धूप-छाँहमयी सृष्टि अधिकांशतः इन कहानियों में बिखरी पड़ी हैं। इन कहानियों का भैया मजिस्ट्रेट भी है और गांधीवादी, सत्याग्रही भी, वह मामा-जाया भाई भी है और माना हुआ विपदा में काम आने वाला भाई भी है, वह अपनी बहन के लिए मर-पचने वाला उद्योगी भाई भी है और यदि शराबी भी है तो बहिन के लिये पागल; वह बहिन के असली भाई के लिये अपने शरीर का रक्त तक दे सकता है—और ऐसी ही ममता, सेवा और त्याग की भावना लिए भाई पर न्यौछावर होने वाली बहनें भी हैं। भाई-बहिनों की करुणा-कलित कहानियों से यह संग्रह आर्द्र हो उठा है। कुछ कहानियाँ प्रेम की भी हैं, राजरानी मीरा प्रेम और भक्ति की उज्ज्वल कहानी है।

सभी कहानियाँ पठनीय हैं और प्रशंसनीय हैं। लेखिका को भावोद्रेकों संवाद और काव्यमय हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करने की सहज कुशलता प्राप्त है। यों कहानीकला आधुनिक तंत्र की दृष्टि से भले ही कोई कहानियों को उच्च श्रेणी न दें, पर अपने भाव-सौन्दर्य और आन्तरिक उज्ज्वलता में कहानियाँ किसी से कम नहीं ठहरेंगी।

कविता

आर्यावर्त—लेखक—पं० मोहनलाल महतो वियोगी; प्रकाशक—ग्रन्थमाला कार्यालय पटना; पृष्ठ १५६ + ५७ बड़ा साइज; मूल्य ३)।

आर्यावर्त पं० मोहनलाल महतो वियोगी का अतुकांत मुक्त छन्द में आबद्ध वह प्रबन्ध-काव्य है जो महाराज पृथ्वीराज, जयचन्द, मुहम्मद गोरी और चन्दबरदाई जैसे ऐतिहासिक पात्रों को अपने वर्णन का विषय बना कर चला है।

यद्यपि आधुनिक अन्वेषकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महाकवि चन्द पृथ्वीराज चौहान के समकालीन नहीं थे और उनका रासो बाद की रचना है, पर आर्यावर्त इतिहास ग्रन्थ नहीं है, काव्य है। और काव्य का सत्य क्योंकि एक भिन्न प्रकार का सत्य होता है, अतः ऐतिहासिक सत्य का अपलाप भी, यदि वह अपलाप हो तो, आर्यावर्त का दोष नहीं है। आर्यावर्त में पृथ्वीराज के शौर्य, क्षमादान, पराजय और अन्त में उनकी आँखे फोड़े जाने आदि की उन्हीं महद् वृत्तियों और मार्मिक घटनाओं की चर्चा थोड़े हेर-फेर के साथ मिलेगी जो शताब्दियों से जनसाधारण की भाव-निधि बन चुकी हैं। अतः पुस्तक में मार्मिकता का समावेश स्वाभाविक पद्धति पर ही हुआ है।

आर्यभूमि की वंदना, आर्य-जाति की महत्ता और आर्य आचरण के प्रति निष्ठा इस प्रबन्ध-काव्य के प्रमुख स्वर हैं और इस दृष्टि से काल विशेष और व्यक्ति विशेष के चारों ओर घूमने वाली थोड़ी सी घटनाओं की सीमा में बन्दी होने पर भी इस ग्रन्थ का नाम आर्यावर्त उपयुक्त ही हुआ है। राष्ट्रीयता की भावना इसमें निखरे रूप में झलक उठी है और स्वदेश प्रेम पंक्तियों से फूटा-सा पड़ता है।

यद्यपि घटनाएँ गिनी-चुनी हैं, पर साथ ही कवि की कल्पना इतनी उर्बरा है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में चाहे आप यह कह दें कि कुल मिला कर बात इन्होंने थोड़ी-सी कही, पर यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि उस विस्तार में कहीं शिथिलता, अपटुता या कलाहीनता है। रचना अत्यन्त ओजपूर्ण है और प्रवाह उसमें अन्त तक विद्यमान है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है वहाँ उत्कृष्ट कलाकारों के दो बहुत बड़े गुण इस कवि के पास हैं—पहला गुण है—वर्णन में उचित अनुपात का ध्यान और दूसरा है दृश्यों के उचित विधान की परख। एक छोर से दूसरे तक आप कहीं उकताने का अनुभव नहीं कर सकते। घटनाचक्र को परिचालित करने वाला पात्र इस प्रबन्ध-काव्य में महाकवि चन्द है। अतः वही एक प्रकार से इसका प्रधान पात्र है। महाकाव्य कहलाने का गौरव तो इसे नहीं प्राप्त हुआ पर हिन्दी के उच्चकोटि के प्रबन्ध-काव्यों में इसकी गणना होनी चाहिए।

हृदय के विभिन्न भावों और प्रकृति के विविध रूपों के साथ कवि का एक सा परिचय है। प्रकृति को रम्य, करुण, उदास अनेक रूपों में उसने देखा है और घटनाओं की सृष्टि के साथ वातावरण को अत्यन्त समझदारी से गूँथा है। ओज और सरलता के साथ सरसता इस ग्रन्थ की भाषा का गुण है। प्रभाव वृद्धि के लिए वह शब्द या वाक्यांशों को पंक्तियों में प्रायः दुहराने लगता है। प्रकृति का एक अनूठा वर्णन लीजिए—

आया सान्ध्यो गन्ध वह, धूप से पकी हुई
घास की महक लेके······

और दो चित्र देखिए—

(१) महाराज दिल्लीपति आए दरबार में
मूछें थीं चढ़ी हुई, कठोर मुख-मुद्रा थी
मानों लोह-निर्मित प्रचण्ड भुज दण्ड थे
साँड जैसे कन्धे, था शिला-सा वक्ष······

(२) वातायन और छज्जियों से उत्सुक हो
देखती थीं नारियाँ उलटकर बुर्के,
मानो घटा दूर हुई, चाँद हँसे सैकड़ों।
एक दूसरी को थी दबोचकर झाँकती,
उन्नत उरोज जब जब दब जाते थे,
गूँजती थी प्यारी ध्वनि मीठी सीत्कार की।

आर्यावर्त में दो-चार स्थलों पर कुछ शब्दों का प्रयोग उपयुक्त ढंग से नहीं हुआ। यह भी स्पष्ट है कि माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनाद-बध की शैली का आदर्श कवि के सामने था। कहीं-कहीं उस ग्रन्थ के तथा अन्य कवियों के भावों से टक्कर हो गई है। कहीं-कहीं 'धन्यवाद' भी दिया—दिखाया गया है। यह आधुनिक विदेशी प्रथा उस समय प्रचलित न थी। पर ये दोष अत्यन्त नगण्य हैं।

सत्य बात यह है कि आर्यावर्त से हमारे साहित्य की श्री वृद्धि हुई है। —विश्वम्भर 'मानव'

अमृत और विष, युगदीप—लेखक श्री उदय-शंकर भट्ट प्रकाशक यूनीवर्सल पबलिशिङ्ग हाउस इलाहाबाद मूल्य २) प्रति पुस्तक पृष्ठ संख्या ७२ और ६७।

पंडित उदयशङ्कर भट्ट ने नाटककार और कवि दोनों ही रूप से हिन्दी साहित्य की प्रचुर सेवा की है। ये दोनों कविता संग्रह नवीन परिस्थितियों से प्रभावित है और इन पर युद्ध के बादलों की छाया है किन्तु इन में आशावाद और प्रोत्साहन की स्वर्ण-रेखाएँ झलक रही हैं। जीवन में अमृत और विष दोनों ही हैं, किन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि किस अनुपात में। अमृत और विष शीर्षक कविता संग्रह में दोनों की ही नीली और श्वेत रेखायें मिली हुई है। इस संग्रह की पहिली ही कविता मानव गौरव और आशावाद का संदेश लेकर आगे बढ़ी है देखिए:—

हिम शृङ्गों से उच्च उमंगे
यद्यपि साढ़े तीन हाथ तुम
पोर पोर भूगोल तुम्हारे
उड़ते रहे खगोल साथ तुम
× × ×
उठो शोणित की धारे
रोक नहीं पायेगी पथ को
नभचुम्बी अंगार दहकते
रोकेंगे क्या मनु के रथ को

वेलजियम के रण क्षेत्र में मरणोन्मुख सैनिक के

मनोवैज्ञानिक चित्रण में मनोविज्ञान तो अधिक नहीं है! कल्पना अवश्य है। 'बन्द करो द्वार' में विगत वैभव तथा विलासमय जीवन की सड़ाइंद को दिखा कर उसके दूर करने के लिए उस प्रवाह को बन्द करने की अपील है। बङ्गाल का चित्र काफी करुणाजनक है, ऐसे चित्रों में बीभत्सता का आ जाना तो स्वाभाविक है (यही तो है जीवन का विष।) किन्तु उसमें अश्लीलता का, जैसे—उस दारुण प्रतारिड़ता के विधि निपतिता के पकड़ कर स्तन द्वय, योनि को लगा के हाथ जगती है जब वह देता तब आने चार, आना आवश्यक न था। यद्यपि में यह मानता हूँ कि यह अश्लीलता करुणा पर ही सान चढ़ाने के लिए है फिर भी यह किसी अंश में बचाई जा सकती थी। प्रगतिवाद को यथार्थवाद की सीमाएँ निश्चित करना पड़ेगीं।

रेफ्यूजी शीर्षक कविता में युद्ध की भीषणता का सजीव चित्र है और वह मुक्त छन्द की ओजमय गति का अच्छा नमूना है, देखिए:—

वन्हि लगती थी कहीं और फटते थे कहीं,
सौध खण्ड फैलाये प्रलय प्रचण्ड, वज्रदण्ड—
चण्ड चूड़, गिरा के अपोह व्यूढ़ ब्रह्म पाश लिये
हाथ कण कण तोड़-तोड़, छोड़ता हो न किसी को।

युग-दीप शीर्षक कविता-संग्रह में युग कालीन परिस्थितियों से प्रेरित चिन्तन का प्राधान्य है कहीं-कहीं चिन्तन के भार से दब कर उसमें कला उभर नहीं सकी है और पद्य में कहीं-कहीं गद्यात्मकता आ गई है। उससे भी युद्ध की विभीषिका कवि के मन को आक्रान्त कर रही है। किन्तु फिर बहुत सी कविताओं में हृदय का उत्साह और कल्पना की उड़ान दिखाई पड़ती है। सदभावना तो सब में है ही। संग्रह की सभी कविताओं में निराशा और दुखदायनी अन्तर्ज्वाला के साथ मङ्गलमय आशावाद की दीप्ति भी है।

आसमान फट रहे औ
श्मशान पट रहे,
तख्त भी उलट रहे—
देख देख पल - पल ?
मनुष्य मात्र एक है,
मनुष्य ही विवेक है,
मार्ग यदि अनेक हैं—
लक्ष्य एक उज्ज्वल।

भट्टजी का आशावाद सराहनीय है।

हार जीत का आमंत्रण है
गिरना तो चलने का गुण है
दौड़ पहुँचने का साधन है।

कवि ने प्रायः युग का प्रतिनिधि ही बनकर अपनी आशा निराशाओं का गान किया है। किन्तु कहीं-कहीं उनमें वैयक्तिकता की भी छाप है जिससे भावना में तीव्रता आ गई है। बिटिया उनमें से एक है। संग्रह की अन्तिम कविता विक्रम संवत्सर में काल चक्र की गति का अच्छा चित्रण है। उससे हमको वर्तमान की संघर्षमयी परिस्थिति से पीड़ित मानव हृदय की करुणा के दर्शन होते हैं।

दो हजार की ग्रंथि तुम्हारी
गरल ग्रंथि सी फूट रही,
जिससे भूख महा मारी की
चिनगारी सी छूट रही
विक्रम की पीयूषलता के पुष्प
न हलाहल उगलो।
और न मानव के विवेक को
महानाश मुख से निगलो!

—गुलाबराय

सत्पथ—लेखक श्री रजेश। प्रकाशक—आदर्श पुस्तकालय, दीवाहमीदपुर पो०. उसरी (अलीगढ़) मूल्य ॥) पृष्ठ ५४।

यह खंड काव्य रजेश जी का किशोर प्रयास है। रजेशजी ने इस पुस्तक में दिन रात अत्याचार के कोल्हू में पिसते हुए मजलूमों को विद्रोह करने का सत्पथ सुझाया है। इसमें एक यशस्वी युवराज की कल्पना की गई है। शक्ति-रूप प्रियंवदा समता और स्वतन्त्रता की सच्ची पुजारिन है और उसी के बलिदान से युवराज के हृदय में सत्य एवं न्याय का भाव उत्पन्न कराया गया है।

जीवन और यौवन—लेखक श्री आरसीप्रसादसिंह, प्रकाशक वैशाली निकुञ्ज, मुजफ्फरपुर। मूल्य १।) पृ० संख्या ८८।

लेखक के कथानानुसार उसने अपनी कविताओं का यह छोटा-सा संग्रह अपने दिल में तरुणाई का तकाजा महसूस कर के किया है, कविताओं के कुछ नमूने देखिए—

"रूठे—विलुठे लैला—मजनू।
पुर—परिजन-घर छोड़ चले॥"
"पत्थर पर भी घास उगाई।
पानी पर रेखा खींची॥"
"लाल-कटोरा दूध गुलाबी
जय हो चन्दा—मामा की
राजभवन बन गई झोंपड़ी
मैत्री कृष्ण—सुदामा की"
'चलना है तो चल आँधी सा,
बढ़ता जा आगे हू हू
जलना है, तो जल फूसों सा,
जीवन में करता धू धू'

पुस्तक किस श्रेणी और ढंग की है इसे समझने के लिए इतने उद्धरण काफी होंगे।

पञ्चशर—रचयिता रामदुलारे गुप्त एम० ए० 'सव्यसाची' प्रकाशक बाल साहित्य मन्दिर लखनऊ, पृष्ठ संख्या ६६ मूल्य २)

प्रस्तुत काव्य-संग्रह पाँच स्तम्भों में विभक्त है प्रकृति रूप, यौवन के गीत, चिन्तन, चित्र तथा विश्रान्ति। प्रकृति वर्णन करने वाली कविताओं के पढ़ने पर प्रतीत होता है कि कवि ने प्रकृति को उसके सहज सौन्दर्य में देखा है, अपनी आत्मा में प्रकृति का समावेश करने की चेष्टा की है। "तूफान" शीर्षक कविता में प्रकृति के प्रति कवि की आत्मीयता स्पष्ट है—

"दो बूंदें मुझ पर गिरी और
दो मेरी आँखों से निकलीं,
किस रिश्ते में आकर्षित हो,
ये चारों अब किस मार्ग चलीं"

शरद-यामिनी के चित्रण में कलाकार की कल्पना सजीव हो गई है:—

'नभ अवनि वसन समेट
मिले, मिटी छितिज रेख
आज, अम्बुनिधि हिलोर
गगन—गामिनी

'चिन्तन' और विश्रान्ति स्तम्भों की कविताएं विचार प्रधान हैं जिनका दृष्टिकोण दार्शनिक है।

यौवन मधु के मतवारे कवि ने जवानी के गीत भी गाये हैं जिनमें यौवन-जनित अतृप्त वासना की झलक स्पष्ट है।

कुछ गीतों में प्रेम का सस्ता और नंगा चित्र भी है प्रश्न यह है कि क्या ऐसी कविता पुस्तकें प्रकाशित कर के ही प्रकाशक अपना नाम सार्थक करेगा।

—बरसानेलाल चतुर्वेदी

नाटक

सुहाग बिन्दी—(नाटक) लेखक श्री गोविन्दवल्लभ पन्त। प्रकाशक गंगा ग्रंथागार लखनऊ। मूल्य १।) पृष्ठ १२३।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त हिन्दी के प्रतिष्ठा प्राप्त नाटककार हैं। आपके इस नाटक में एक अद्भुत कथानक की कल्पना है। विजया गंगा स्नान करने बिना अपने पति से पूछे निकल पड़ी। उसे कोई बेहोश कर मोटर में ले उड़ा। मोटर टकरा गई विजया बच गई और वह एक अस्पताल में भरती कराई गई। यहां से नाटक आरम्भ होता है। बिजया सुन्दरी है, वह अस्पताल से रात को भाग निकलती है। यात्रियों के भेष में ठग उससे उसके आभूषण ठग ले जाते हैं। एक अखबार वाला उसे महिलाश्रम में ले जाता है। वह बीमार है, मैनेजर उसकी सुश्रूषाकर स्वस्थ कर देता है, पर वह उस पर आसक्त होने लगा है। विजया वहाँ से भाग कर अपने पिता का द्वार खटखटाती है। एक महीना हो चुका है, इस बीच में उसका पति कुमार यह प्रचारित कर देता है कि विजया मर गई। उसकी तेरहवीं हो जाती है, और वह रेवा नाम की स्त्री से विवाह भी कर लेता है। विजया जब पिता के घर पहुँचती है तो पिता उसे अपनी पुत्री मानने को तैयार नहीं, निर्दयता पूर्वक उसे निकाल बाहर करता है। वह पति के यहाँ पहुँचती। पति उसे बुरी तरह मार कर द्वार से ढकेल देता है। पर रेवा उसे अपनाती है। कुमार के हृदय में भी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है

विजया के प्रति उसका प्रेम फिर लौटता है रेवा जिस दिन विजया और कुमार का पुनर्मिलन कराने का प्रबंध करती है, उसी दिन विजया को साँप काट लेता है। सब शृंगार कर रेवा उसे पति के पलंग पर लिटा देती है और वह लेटी ही रह जाती है पिता ने उसे क्यों स्वीकार नहीं किया?

पन्तजी के इस नाटक में नाटकीयता तो है, पर कथानक में अस्वाभाविक कठोरता का उपयोग किया गया है। पिता और पति दोनों ही घोर कापुरुष और अभी अठारहवीं सदी के व्यक्ति प्रतीत होते हैं। साहस केवल रेवा में मिलता है। एक महीने में ही विवाह और तेरहवीं सब हो जाना असंभव नहीं तो एक विडंबना अवश्य प्रतीत होती है। विजया के सौन्दर्य के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की लंपटता की ललक डाक्टर, अखबार वाला, मैनेजर आदि सभी में एक अत्यन्त पतित लोक का दर्शन कराती है। एक सुन्दरी स्त्री के लिए घर से बाहर या तो लंपट या ठग ही मिलते हैं, और घर की कक्षा से निर्दोष च्युत हो जाने पर घर का प्रत्येक व्यक्ति पिशाच-निर्मम व्यक्ति बन उठता है। पंत के लोक में पुरुष वर्ग में सहृदयता का अभाव मिलता है। भारत की सामाजिक व्यवस्था के बाहरी रूप पर पूरा नाटक एक अस्वाभाविक आलोचना हो सकता है। विषाद से नाटक परिपूर्ण है, विषादान्त हो है, पर जिन कमजोरियों से युक्त भूमि पर नाटक खड़ा किया गया है, उसमें यह ट्रेजडी कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाती। नाटककार की थीम (वस्तु) के सभी तन्तु पुराने हैं, उनमें से कोई नया राग भी नहीं उत्पन्न होता।

—सत्येन्द्र एम० ए०

यात्रा

संयुक्त प्राँत की पहाड़ी यात्रायें—लेखक श्री लक्ष्मीनारायणजी टण्डन। प्रकाशक गंगा ग्रन्थागार लखनऊ। पृष्ठ २४० मूल्य २।)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक युक्त प्राँत के सभी पर्वतीय स्थानों गंगोतरी, यमुनोतरी, केदारनाथ, बदरीनाथ, पिंडारी गल, चुनार, चित्रकूट व विन्ध्याचल आदि की यात्रा का एकत्र वर्णन करके हिन्दी भाषा भाषी जनता का बड़ा उपकार किया है। इस प्रान्त में इतने अधिक प्राकृतिक व दर्शनीय पर्वतीय स्थान हैं—पाठक को इस पुस्तक के पढ़ने से पूर्व यह ज्ञान शायद न हो। यात्रा का वर्णन सरल व रुचिकर भाषा में किया गया है अतः कई सौ मील की यात्रा करने के बाद भी पाठक को थकान का अनुभव नहीं होता। युक्त प्रान्त का हिमालय प्रदेश नाना सुन्दर दृश्यों से भरा पड़ा है। लेखक इस प्रदेश के केवल उन स्थानों में घूमे हैं जो चलते रास्ते पर हैं। फिर भी गंगोतरी, यमुनोत्तरी, केदारनाथ, बदरीनाथ व पिण्डारी के गल की वृद्ध पिता के साथ यात्रा करना सब के लिये सुलभ नहीं है। इन स्थानों में हिमालय का भव्य रूप देखने में आता है। किन्तु लेखक ने इन स्थानों का वर्णन केवल ४५ पृष्ठों में समाप्त कर दिया है जब कि हरिद्वार, देहरादून, नैनीताल व मंसूरी के वर्णन में ७५ पृष्ठ व्यय हुए हैं। यह सत्य है कि ये पिछले चार स्थान यात्रा की दृष्टि से सहजगम्य हैं और इन्हीं में अधिकतर लोग जाते भी हैं किन्तु इस संक्षिप्त वर्णन से उत्तराखण्ड के महत्व पूर्ण किंवा अधिक दर्शनीय स्थानों के साथ न्याय नहीं हो पाता। इसके साथ ही कुछ भौगोलिक भूलें भी हैं। हरिद्वार का गुरुकुल कुछ वर्ष पूर्व कांगड़ी गाँव में था अतः काँगड़ी शब्द जुड़कर वह गुरुकुल कांगड़ी नाम से प्रख्यात हो गया। किन्तु ऋषिकुल का काँगड़ी से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी पुस्तक में ऋषिकुल कांगड़ी लिखा गया है। इससे यह लगता है कि लेखक ने इस संस्थाओं का भ्रमण तो अवश्य किया है किंतु इनकी आवश्यक जानकारी उपलब्ध नहीं की। हरद्वार के निकटवर्ती शिवालक को पुस्तक में स्थान २ पर शिवालिक लिखा गया है। यह पहाड़ यथार्थ में शिवालक है किन्तु अंगरेजी पुस्तकों में इसका उच्चारण शिवालिक लिखा रहता है अतः लेखक ने भी वही लिख दिया है। इस पहाड़ की ऊँचाई दो हजार फीट से अधिक नहीं है ऐसा पुस्तक में उल्लेख है किन्तु यह पहाड़ अधिकतर स्थानों में इस से अधिक ऊँचा है और उसका एक शिखर तो चार हजार फीट से कुछ कम रह गया है। इसी प्रकार बदरीनारायण के मार्ग में के पंच प्रयागों में सोनप्रयाग की गणना की गयी है। सोनप्रयाग केदारनाथ के मार्ग में है, इसके स्थान पर विष्णुप्रयाग होना चाहिये। वस्तुतः उत्तराखण्ड के ये पाँच

प्रयाग बदरीनारायण के मार्ग में पड़ते हैं और शास्त्र के अनुसार उनका अपना २ माहात्म्य हैं अतः केदारनाथ वर्ती सोन प्रयाग का पंच प्रयाग में उल्लेख न होना चाहिये। एक स्थान पर लेखक ने लिखा है कि केदारनाथ के पास कुछ ऐसी बूटी व घास मिलती हैं जिनसे वृद्ध व कमजोर यात्री बेहोश हो जाते हैं। वस्तुतः केदारनाथ में बूटियों से बेहोशी नहीं आती वहाँ तो फूल की हवा ही कमजोर व वृद्ध यात्री की बेहोशी का कारण बनती है। ऐसी ही दो चार भूलें और भी हैं किन्तु साधारण पाठक को इनका पता नहीं चल सकता। पुस्तक के कुछ प्रकरण अधिक सुन्दर व सरस भाव से लिखे गये हैं। खास कर पिण्डारी टाल्ला फाल व चित्रकूट का वर्णन पाठक को अधिक लुभायेगा। देहरादून, मंसूरी व नैनीताल का वर्णन भी सुन्दर हुआ है। तिस पर प्रत्येक आवश्यक व दर्शनीय स्थान के चित्र के कारण पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है।

—दीनदयालु शास्त्री

राजनीति

देशी-राज्य-शासन—लेखक श्री भगवानदास केला, प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन। पृष्ठ ५६०, मूल्य ३॥)

लेखक ने यह पुस्तक दो भागों में विभक्त की है।

प्रथम भाग व्यापक है। उसमें जिन प्रश्नों पर विचार किया गया है, वे सभी राज्यों से सम्बन्धित हैं। दूसरे भाग में नमूने के तौर पर कुछ रियासतों की शासन-पद्धति और राजनीतिक जागृति आदि का अलग-अलग विचार किया गया है।

प्रथम भाग के पहले छः परिच्छेदों में अँगरेजों के आने से पूर्व से लेकर भारत में अँगरेजों की सत्ता के बाद से आज तक का देशी राज्यों की रूप-रेखा का सूक्ष्म इतिहास तथा (Paramount power) सर्वोच्चसत्ता के समक्ष उनकी नितान्त शक्ति हीनता का चित्रण लेखक ने बड़े मार्मिक ढंग से दिया है। लेखक के विचार और निष्कर्ष गंभीर और मान्य हैं, वे अध्ययन, आँकड़े और तथ्यों के सहारे बने हैं।

राज्यों की समस्या भारतीय शासन-विधान की दृष्टि से उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कोई भी अन्य समस्या। भारतीय जन संख्या का एक बड़ा भाग रजवाड़ों में रहता है और उनके दुख-सुख का उत्तरदायित्व आजकल इन राज्यों के राजाओं के हाथों में है। बिना राज्यों पर भली प्रकार मनन किये, और उनको बिना भली प्रकार समझे उनके सम्बन्ध में किसी भी निश्चय पर पहुँचना समस्या को हल न करके जटिल बना सकता है। आज भारत का बच्चा बच्चा भारतीय विधान के सम्बन्ध में उत्सुक है, वह उस सम्बन्ध में जानना और समझना चाहता है। देशी राज्यों की करुण-स्थिति और दुरवस्था इस पुस्तक से बहुत ही अच्छी प्रकार समझी जा सकती है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी, पढ़नीय और मनन करने योग्य है।

—सत्येन्द्र एम० ए०

प्राप्ति स्वीकार

१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन जयपुर अधिवेशन (संस्मरण)—लेखक श्री परमेश्वरीलालजी गुप्त, प्रकाशक ज्ञानमण्डल, काशी। पृष्ठ ५५

२ प्रतीक्षा (कविता)—लेखक श्री शिवधानसिंहजी चौहान, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा। पृष्ठ ३२ मूल्य।)

३ हमारे वीर पुरखे (बालोपयोगी)—लेखक श्री नरसिंहरामजी शुक्ल, प्रका० सस्ता साहित्य भण्डार, लखनऊ। पृष्ठ ३८ मूल्य ।≈)

४ अजायबघर लेखक उपर्युक्त पृष्ठ ३० मूल्य ।)॥

५ मधुमक्खी पालन—लेखक श्री शम्भुनाथजी सक्सैना, प्रकाशक नूतन मंडल, लश्कर। पृष्ठ १८, मूल्य ॥)

६ मूलरामायण (सटीक) कोविद परीक्षा में स्वीकृत—टीका० पं० हरिदत्तजी शास्त्री बी० ए०, प्रका० साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ ४० मूल्य ।≈)

७ हैदरअली—(जीवनी) लेखक पं० रघुवरदयालुजी मिश्र। प्रकाशक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास। पृष्ठ ६४, मूल्य ।॥)

८ हिन्दुस्तान की बुलबुल (सरोजनीनायडू)—लेखक श्री रामानन्द शर्मा, प्रका० उपर्युक्त पृष्ठ २४, मूल्य ।≈)
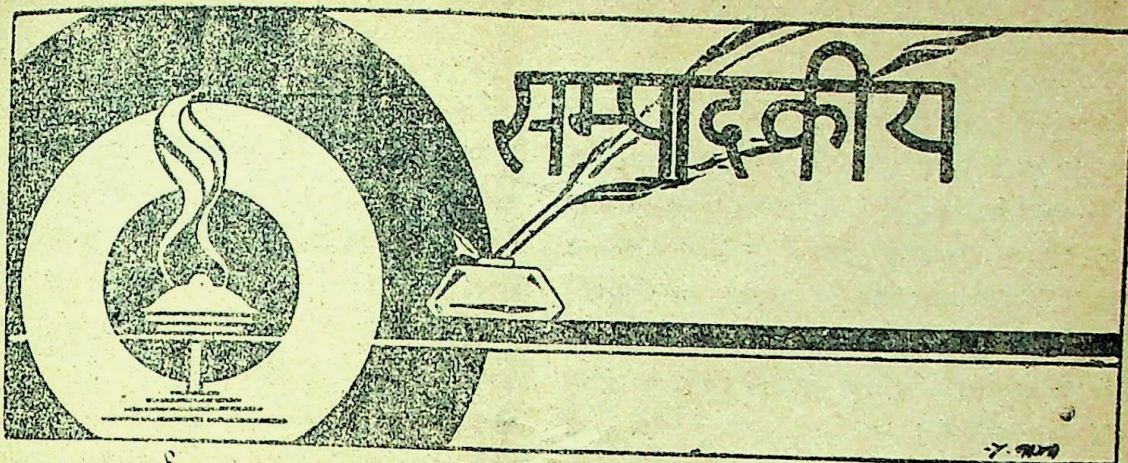
हमारा नया वर्ष—

साहित्य सन्देश इस अंक से अपने सातवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। दो वर्ष का बलात् विश्राम न मिलता तो एक दो महीने में सन्देश अपने नवें वर्ष में प्रवेश करता किन्तु उस समय की चर्चा अभी नहीं की जाय, यही अच्छा है।

अनेक कठिनाइयों के बीच गत वर्ष अप्रैल में सा० सं० का पुन: प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। यह वर्ष काफी संघर्ष का रहा। हमारी एक नहीं अनेक झंझटों और कठिनाइयों के कारण इस वर्ष में पाठकों को अनेकों ही शिकायतें रही हैं, उनके रहते हुए भी पाठकों के स्नेह-भाजन हम रहे आये यह उनकी उदारता ही है। आगे यह झंझटें कम होंगी और शिकायतों का अवसर भी कम मिलेगा ऐसी आशा है।

हम चाहते थे कि इस अङ्क से साहित्य-सन्देश की पृष्ठ-संख्या कुछ बढ़ाई जाती पर कागज के कन्ट्रोल के कारण वह भी संभव नहीं है। फिर भी हम इस वर्ष चार से आठ तक जितना संभव होगा प्रत्येक अङ्क में पृष्ठ बढ़ा कर देंगे और कागज की सुविधा होते ही स्थायी रूप से आठ पृष्ठ बढ़ा देंगे।

इसके साथ ही मूल्य बढ़ाने की भी आवश्यकता थी क्योंकि साहित्य-सन्देश लागत से भी कम मूल्य में ग्राहकों को दिया जाता है। परन्तु हम चाहते हैं कि साहित्य-सन्देश अधिक से अधिक पाठकों के हाथ में पहुँचे और गरीब-अमीर-सभी उसका उपयोग कर सकें, इसलिए हम उसका मूल्य नहीं बढ़ा रहे हैं। किन्तु यदि महँगी का यही हाल रहा और हमारी कठिनाइयाँ कम न हुईं तो हो सकता है कि लाचार होकर हमें दो तीन महिने बाद मूल्य बढ़ाना पड़े। पहले तो विचार अभी से मूल्य बढ़ाने का हुआ था किन्तु पीछे यही निश्चित रहा कि दो तीन महिने और देखा जाय—हो सकता है कि परिस्थितियाँ बदलें और मूल्य बढ़ाने की आवश्यकता न पड़े। आवश्यकता पड़ी भी तो जो पुराने ग्राहक अपना मूल्य भेज चुकेंगे उन पर उसका असर न पड़ेगा।

साहित्य संदेश के सम्पादन के विषय में भी दो शब्द लिख दिये जायें। उसकी रीति नीति में तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा परन्तु समालोचनाएं छापने में आगे से अधिक सतर्कता से काम लिया जायगा। अब समालोचना हर पुस्तक की नहीं की जायगी। भविष्य में केवल उन्हीं पुस्तकों की आलोचनाएँ छपेंगी जो उसके उपयुक्त समझी जायंगी। 'पाठकों का पृष्ठ' शीर्षक से एक नया स्तम्भ भी खोलने का विचार है जो अगले अङ्क से प्रारम्भ होगा। इसमें पाठकों के आए हुए साहित्यिक पत्रों को प्रकाशित किया जायगा।

अपने मान्य लेखक बन्धुओं से हमारा निवेदन है कि सा० सं० उन्हीं की कृपा से आज हिन्दी संसार में अपना स्थान बना पाया है। हमें आशा है कि वे अपनी सद्भावना और स्नेह इस पर उसी भाँति बनाए रक्खेंगे। हमें खेद है कि हम अपने सब लेखकों को पारिश्रमिक नहीं दे पाते और जिनको देते भी हैं उनको उतना नहीं दे पाते जितना हम देना चाहते हैं। फिर भी इस संबंध में हमारा दृष्टि कोण भारत के अधिकाँश पत्रों से भिन्न है। हमारी इच्छा है कि हम अपने लेखकों को अधिक से अधिक दें और भविष्य में हम इस ओर उचित दिशा में प्रगति करने की भरपूर चेष्टा करेंगे।

सा० सं० का किसी भी दल विशेष से सम्बन्ध नहीं है। न किसी एक 'वाद' का वह पक्षपाती है। उसकी नीति सब के साथ न्याय करने की है। अपनी इस नीति पर वह अब तक दृढ़ रहा है और आगे और भी अधिक दृढ़ रहने की चेष्टा करेगा। पूर्ण विश्वास है कि उसे हिन्दी संसार का समुचित सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

डाक्टर बेनीप्रसाद का स्वर्गवास—

डाक्टर बेनीप्रसादजी के असामयिक स्वर्गवास का संवाद एक अनभ्र वज्रपात के रूप में आया है। उनकी मृत्यु से प्रयाग विश्व-विद्यालय ने ही नहीं, वरन् हिन्दी संसार और भारतवर्ष ने एक सहृदय निरभिमान एवं सदाशय साहित्य-सेवी को खोया है। वे सज्जनता, सरलता और सद्भावना की मूर्ति थे।

यद्यपि स्वर्गीय डाक्टर बेनीप्रसादजी की साहित्यिक सेवाएँ अङ्गरेजी भाषा में अधिक हैं तथापि उन्होंने जो हिन्दी को दिया वह नगण्य नहीं है। उनका संक्षिप्त सूर-सागर, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता तथा हिन्दू-मुस्लिम-समस्या आदि कई ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष महत्व रखते हैं। उनकी साहित्य-सेवा का बहुत सा अङ्ग अखबारों में बिखरा पड़ा है जिसका संग्रह हिन्दी के राजनीतिक साहित्य को एक देन होगी। यदि कोई राजनीति का विद्यार्थी उनके निबन्धों का संग्रह कर सके तो हिन्दी के लिए उपकार की वस्तु होगी।

डाक्टर साहब राजनीति के सिद्धान्त के ही पण्डित नहीं थे वरन् वे व्यावहारिक राजनीति के भी सम्पर्क में थे। उनकी इच्छा उसमें सक्रिय भाग लेने की थी किन्तु वे स्वास्थ्य के कारण मजबूर थे। फिर भी जो कुछ बनता था करते थे और अपने चिन्तन के फल से लोगों को लाभान्वित करते थे।

डाक्टर साहब के परिवार से हम सहानुभूति प्रकट करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी आत्मा को शान्ति दे।

प्रयाग का प्रान्तीय सम्मेलन—

जो प्रान्तीय सम्मेलन खेरी (लखीमपुर) में होने वाला था वह कई कारणों से वहाँ न हो सका किन्तु उन्हीं तारीखों में केवल दस दिन पूर्व की सूचना पर प्रयाग में डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के सभापतित्व में बड़ी सफलता पूर्वक मनाया गया। सम्मेलन के सभापति ने हिन्दी उर्दू के झगड़ों में न पड़ कर ठोस साहित्यिक कार्य विशेषकर समालोचना के कार्य को अग्रसर रखने की सलाह दी। हिन्दी-उर्दू के झगड़े तथा अच्छी समालोचनाओं के अभाव को ही उन्होंने साहित्य की कमी का कारण बतलाया। साहित्य-सम्मेलन के दूसरे अंग अर्थात् हिन्दी भाषा के स्वरूप तथा उसके उद्धार के सम्बन्ध में श्रद्धेय टण्डनजी तथा श्री सम्पूर्णानन्दजी के जोरदार भाषण हुए। प्रचार कार्य में साहित्य निर्माण और समालोचना द्वारा उसकी गति-विधि को निश्चित करने का कार्य हमको न भूलना चाहिए किन्तु उसी के साथ हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी का प्रचार कार्य उस वातावरण का निर्माण करने से सहायक होता है जिसमें साहित्य-निर्माण तथा निर्मित साहित्य की खपत होती है। हमें हर्ष है कि प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन में साहित्य के इन दोनों अंगों पर जोर दिया गया।

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी के विचार—

कुछ लोगों का ख्याल है कि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी रोमन लिपि के पक्ष में है। यह बात गलत तो नहीं है किन्तु इसके सम्बन्ध में उनकी धारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है। वे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से और कुछ दो लिपियों का झगड़ा मिटाने की गरज से रोमन लिपि के ही पक्ष में हैं किन्तु उसमें वे वर्णमाला देवनागरी की ही चाहते हैं। कोई भी वैज्ञानिक देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता को अस्वीकार नहीं कर सकता। सवाल इतना ही रह जाता है कि रोमन लिपि में हिन्दी वर्णमाला को लाकर रोमन लिपि क्या उतनी ही सरल रह जाती है। उसमें विन्दुओं, डैशों आदि संकेतों की भरमार के कारण वह बड़ी पेचीदा हो जाती है और व्यवहार में उन संकेतों की उपेक्षा भी होने लगती है। फिर उसका हाल उर्दू का सा हो जाता है।

भावुकता के नाते डाक्टर साहब भी देश में देवनागरी लिपि के पक्ष में हैं। हिन्दी को वे राष्ट्र-भाषा मानते हैं किन्तु उसको लिंग-भेद आदि के विधानों से जकड़ना नहीं चाहते। वे मैथिली राजस्थानी को राष्ट्रभाषा के भार से दबाना नहीं चाहते हैं। वे हिन्दी के विरोधी नहीं हैं जैसा कुछ लोग समझते हैं। यद्यपि हम उनके विचारों से सहमत नहीं हैं तथापि विचार स्वातन्त्र्य के नाते हम उनके विचारों को निन्दा योग्य नहीं समझते।

सुखसंचारक
अशोकारिष्ट
श्वेत व रक्त, प्रदर
एवं गर्भाशय रोगोंकी
अचूक दवा.
सुख संचारक कं लि॰

जी० जी० सेल्स डिपो:—(१) किताब महल, होर्नबी रोड बम्बई। (२) चावड़ी बाजार देहली। (३) मून हाउस पी ४० मिशन रो एक्सटैन्शन, कलकत्ता। (४) मेसर्स गिरधरलाल वकील, दर्जी चौक बरेली। (५) मेसर्स गिरधरलाल वकील जनरलगंज, कानपुर।

रामचरनलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।

सम्पादक
...बराय एम० ए०

संचालक
महेन्द्र

मई १९४५
...र्षिक मूल्य ३)

साहित्य-सन्देश

विषय-सूची

भाग ७] आगरा, मई १९४५ [अङ्क २

आलोचना की मर्यादा

प्रो० देवराज एम० ए०

[आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में तथा पुस्तकों में भी, साहित्यकारों और उनकी कृतियों की आलोचना होती रहती है, इसलिए यह अप्रासंगिक न होगा कि आलोचना और उसके आदर्शों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार कर लिया जाय। कुछ दिन पहले† हमने इस विषय पर कतिपय विचारणाएँ उपस्थित की थीं, पर जिसे हम सत्य समझते हैं उसे दुहराने में कोई हानि नहीं है। ले०]

१

आलोचना नामक व्यापार की प्रवृत्ति किसलिए होती है, उसका लक्ष्य क्या है इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से पहले हम स्पष्ट कर दें कि आलोचना क्या नहीं है, अथवा उसका लक्ष्य क्या नहीं हो सकता। आलोचना का उद्देश्य लेखक या कृति-विशेष की निन्दा-स्तुति नहीं है, इसलिए ही नहीं कि निन्दा और स्तुति निकृष्ट व्यापार हैं, बल्कि इसलिए भी कि आलोचना का प्रादुर्भाव जिस सात्विक उमंग में होता है उसकी निन्दा और स्तुति के साथ संगति ही नहीं बैठ सकती। वास्तविक आलोचक पद-पदपर अपने कार्य के दायित्व और गरिमा का अनुभव करता चलता है—वह अनवरत महसूस करता है कि वह अथक परिश्रम और मनोयोग से किसी रहस्य का, सत्य का, उद्घाटन कर रहा है।

† दे० 'आलोचना का अधिकार' शीर्षक दो लेख 'विशाल भारत' फर्वरी और मार्च १९४४।

संक्षेप में, आलोचना का यही उद्देश्य है, अर्थात् सत्य का उद्घाटन। वास्तव में आलोचना एक शास्त्र (Science) है, और शास्त्र का काम सत्य की खोज है। किन्तु, उद्देश्य एक होते हुए भी, विभिन्न शास्त्र विभिन्न अर्थात् विशिष्ट सत्यों की खोज करते हैं। सत्य की विशिष्टता उसके विषय से निरूपित होती है। प्रश्न यह है कि आलोचना नामक शास्त्र का विषय क्या है? वह किस वास्तविकता से सम्बद्ध सत्य की खोज करता है?

क्षण भर को हम अपना ध्यान एक दूसरे शास्त्र की ओर ले जाएँ, अर्थात् नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र। इस शास्त्र का उद्देश्य हमारी नैतिक चेतना (Moral consciousness) अथवा नैतिक पक्षपातों या निर्णयों को बुद्धिगम्य बनाना—उनका बौद्धिक विवेचन प्रस्तुत करना है। हम कुछ मानवीय व्यापारों को अच्छा और कुछ को बुरा, कुछ को उच्च और कुछ को नीच, कहते अथवा

महसूस करते हैं। क्या इस प्रकार के कथनों और अनुभूतियों का कोई बौद्धिक मंडन अथवा व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है? इस प्रकार की व्याख्या को प्राप्त कर लेना—दूसरे शब्दों में, मानवता की नैतिक चेतना अथवा नैतिक व्यापारों या निर्णयों से सम्बद्ध सत्य को उपलब्ध करना, यही नीतिशास्त्र का उद्देश्य है।

जिस प्रकार नीतिशास्त्री मानवता की नैतिक चेतना को समझना चाहता है और सौन्दर्य-शास्त्री सौन्दर्य-चेतना को, उसी प्रकार आलोचक एवं साहित्य-शास्त्र का विद्यार्थी रस-चेतना को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयास करता है। वास्तव में आलोचना-शास्त्र से भिन्न साहित्य-शास्त्र नहीं है। जिसे हम विश्लेषण द्वारा समझ सकते हैं वह शब्दबद्ध साहित्यिक अनुभूति है, साहित्यकार की सृजन-क्रिया नहीं। इसलिए जिन-जिन विचारकों ने साहित्य-सृष्टि के नियम बनाने की कोशिश की है उन्होंने प्रायः अपना समय और परिश्रम व्यर्थ व्यय किया है। जिस चीज का समझना मानवता की सत्य की खोज को आगे बढ़ा सकता है वह रस-चेतना या रसानुभूति अर्थात् साहित्यिक अनुभूति है। यह कहने की जरूरत नहीं कि इस अनुभूति का क्षेत्र और प्रभाव दोनों बहुत व्यापक हैं। यहाँ एक कठिन प्रश्न उठता है—जो अनुभूति कलाकार को प्रेरणा देती है और जिस अनुभूति को कृति-विशेष से पाठक पाता है, उन दोनों में क्या सम्बन्ध या भेद है; किन्तु यहाँ हम इस प्रश्न को अछूता ही छोड़ देंगे।

संक्षेप में आलोचक का काम यह है कि वह विशिष्ट अनुभूति को रसमय या नीरस बनाने वाले उपादानों की ओर इंगित कर सके। योग्य पाठक रसग्रहण की क्षमता रखता है—यह क्षमता उसमें और आलोचक में समान होती है—किन्तु वह सफल आलोचक की भाँति अपनी अनुभूति की व्याख्या नहीं कर सकता। लार्ड मेकाले के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

He could infallibly discriminate between good poetry or good prose, and bud; and his judgments " are generally sound. But when he comes to give reasons for those judgments he is lamentably in adiquate. (An Ootline of literature, page 800-801)

इसका अर्थ यह है कि मेकाले एक रसज्ञ पाठक तो था, आलोचक नहीं था।

हम समझते हैं कि अब स्पष्ट हो गया होगा कि क्यों हमने आलोचना का लक्ष्य सत्य का उद्घाटन बतलाया है। नैतिक चेतना की भाँति रस-चेतना भी सार्वजनिक होती है—कम-से-कम रसज्ञ पाठक जो उससे बरबस विचलित होता है, यही विश्वास रखता है; और उसके मर्म को समझने-समझाने का प्रयास पूर्णतया एक वस्तुपाती व्यापार है। बिना समझी हुई रसानुभूति पृच्छाशील आलोचक को उसी प्रकार भार मालूम होती है जिस प्रकार वैज्ञानिक को एक भौतिक वास्तविकता। विशिष्ट साहित्यिक अनुभूति के मर्म को समझने—और उसके मूल्यांकन का प्रयत्न प्रकारान्तर से जीवन के मर्म को समझने और उसके विभिन्न रूपों के मूल्यांकन का प्रयत्न है। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना एक बहुत ही ऊँचे प्रकार की क्रिया है, एक साधना है। मैथ्यू आर्नल्ड ने एक जगह स्वीकार कर लिया है कि साहित्य-सृष्टि की अपेक्षा आलोचना कुछ निम्नश्रेणी का व्यापार है। किन्तु यदि हमारी यह प्रस्थापना ठीक है कि आलोचना का लक्ष्य सत्य का उद्घाटन है, तो इस प्रकार का भेद करना उचित नहीं। सत्य का अन्वेषण मानव-जीवन का सबसे ऊँचा व्यापार है और साहित्य-सृष्टि इस सर्वोच्च व्यापार से उच्चतर नहीं हो सकती। भेद इतना ही है कि जहाँ साहित्यकार जीवन को साक्षात् देखता है वहाँ आलोचक उसे कला के माध्यम से देखने की चेष्टा करता है। एक दृष्टि से आलोचक कलाकार की अपेक्षा फ़ायदे में रहता है—वह जीवन के उन अंशों को विशेष रूप से देख पाता है जो अपनी तीव्र सार्थकता के कारण कलात्मक सृष्टि की प्रेरणा दे सकें; साथ ही उसे अनेक कलाकारों की अनुभूति प्राप्त होती है। वस्तुतः स्रष्टा और आलोचक के बीच में इस प्रकार की भेदक रेखा खींचना

कुछ कल्पित-सा है। केवल कला कृतियों के अध्ययन से भी आलोचक की साक्षात् जीवन को देखने और उसके मूल्यों के अनुचिन्तन की क्षमता अवश्य ही बढ़ जाती है। वस्तुतः लेखक और आलोचक दोनों एक ही प्रयोजन को आगे बढ़ाते हैं, अर्थात् जीवन के सत्यों का उद्घाटन। मैथ्यू आर्नल्ड ने उचित ही कहा है—

"...the main end and aim of all our utterance, whether in prose or in verse, is surely a criticism of life.' (Essay on Byron).

'क्रिटिसिज्म' अर्थात् जीवन के मूल्यों का अनुचिन्तन, जीवन-विषयक तथ्यों का उद्घाटन, आर्नल्ड की इस प्रसिद्ध व्यञ्जना का कोई दूसरा अर्थ संभव ही नहीं है।

२

अक्टूबर के 'साहित्य-सन्देश' में अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान' शीर्षक लेख में श्री इलाचन्द्र जोशी, हमें भय है, आलोचना की उपर्युक्त मर्यादा का पालन नहीं कर सके हैं। उसमें उन्होंने शरच्चन्द्र, प्रेमचन्द आदि पर जो साहसपूर्ण निर्णय दे डाले हैं उनसे यह नहीं टपकता कि जोशीजी किसी सत्य को पाने या प्रकट करने का प्रयत्न कर रहे हैं; अपितु पाठक की यह भावना होती है कि वे भाषा की सफाई और शब्दों के आरोप द्वारा अपने तीखे मतामत को मनवाने को व्यग्र हैं। मानो वे कहने से पहले ही अपनी बात को स्वीकार करा लेना चाहते हों। जैसे उनके निर्णय-वाक्यों को युक्ति अथवा साक्षी (Evidence) की जरूरत ही न हो! उदाहरण के लिए सूर और तुलसी की 'मध्यम स्तर' की मनोवैज्ञानिकता की प्रशंसा करते हुए जोशीजी का कहना है 'आधुनिक युग में शरत्चन्द्र का मनोविज्ञान भी उनके आगे नहीं ठहर पाता।' ...और उस मनोविज्ञान की मार्मिकता को देखते हुए 'शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं।' आगे वे लिखते हैं, 'शरत्चन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरत्चन्द्र अपने मनोविज्ञान में स्वयं उलझ कर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उसमें नितान्त अभाव था।' प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आपका कहना है कि वे 'ऊपरी तह के मनोविज्ञान को भी ठीक से नहीं अपना पाए।...'इस ध्रुव, निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके सैकड़ों, बल्कि हजारों स्वच्छी स्वयं श्री आलोचक भी दबा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वे पूर्णतया असफल रहे।' जोशीजी का यह भी मत है कि इस समय गुप्तजी की 'भारत-भारती' को (जो रचना-कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती और इस कारण हर दृष्टि से महत्वहीन है) जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य में प्रेमचन्दजी की समस्त रचनाओं को मिलना अनिवार्य है।

ऊपर के उद्धरणों से पाठक देख सकेंगे कि जोशीजी का लेख कैसे व्यापक निर्णयों एवं तीक्ष्ण चुनौतियों से भरा हुआ है। रेखाङ्कित* पदों पर ध्यान देने से वे यह भी देख सकेंगे कि इन निर्णयों पर कितनी शीघ्रता से पहुँचा गया है और उन्हें अपनी बुद्धि का बिना प्रयोग किए, पाठकों द्वारा मनवाने को लेखक कितना व्यग्र है। किन्तु उक्त लेख में जोशीजी ने 'भारत-भारती' प्रेमचन्द और शरद् बाबू पर रोष ही प्रकट किया हो, इतना ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपन्यास-कला पर विचार भी प्रकट किए हैं और दूसरे लेखकों पर कटुताहीन आलोचनाएँ भी दी हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अयोध्याकांड के, विशेषतः भरत के, चरित्र-चित्रण को मध्य-युगीन शेक्सपियर एवं आधुनिक डास्टाईएस्की के चित्रण से न्यून ही नहीं, अधिक उन्नत बतलाया है क्योंकि उसका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है; और रवीन्द्र के 'घर बाहरे' तथा 'सुनीता' की तुलनात्मक परीक्षा की है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम ऊपर उद्धृत किए हुए प्रायः प्रत्येक वाक्य से असहमत हैं। उदाहरण के लिए हम 'भारत-भारती' को हर दृष्टि से महत्व-हीन नहीं मानते, और न हम प्रेमचन्दजी की रचनाओं को इतना उपेक्षणीय समझते हैं। शरद् बाबू के सम्बन्ध में भी हमारी राय जोशीजी से सर्वथा भिन्न है, और हमारा यह

* रेखांकन के जिम्मेदार हम हैं।

भी विश्वास है कि केवल मनोवैज्ञानिकता के मानदण्ड से तुलसीदास को शेक्सपीयर एवं डास्टाईप्सकी के ऊपर नहीं बिठाया जा सकता। उनके कतिपय उपन्यास-कला-सम्बन्धी विचारों से भी हमारा मतभेद है। मृत कलाकारों के प्रति न्याय की भावना और सत्य के प्रति आग्रह दोनों ही हमें विवश करते हैं कि हम जोशीजी की मान्यताओं का विरोध करें। जोशीजी विश्वास करेंगे कि हमारा किसी भी स्वपक्षी या विपक्षी आलोचकों के दल से कोई सम्पर्क नहीं है, और न हम दलबन्दियों से प्रभावित होकर लिखने के पक्षपाती ही हैं।

२

हमारी समझ में नहीं आता कि जोशीजी ने शरद् बाबू की तुलना सूर और तुलसी से क्यों की है। उपन्यास और कविता की शैलियाँ तो भिन्न हैं हीं, उक्त कवियों और शरच्चन्द्र के वक्तव्य विषयों में भी कोई सादृश्य नहीं है। फलतः उनकी तुलना करना दुःसाध्य है और उनसे सम्बद्ध तुलनात्मक निर्णय की उचित परीक्षा भी कठिन है। इसी प्रकार तुलसी और शेक्सपीयर की तुलना भी, रोचक भले ही हो, असंगत लगती है। तुलसीदास शेक्सपीयर से कुछ अंशों में बढ़े हो सकते हैं, हैं; किन्तु मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से वे ही नहीं, भारत के श्रेष्ठतम नाटककार भी शेक्सपीयर से पीछे हैं। भारतीय साहित्य में हमें आएगो (Iago), हैमलेट, लेडी मैकबेथ जैसे जटिल पात्र कहाँ मिलेंगे? तुलसी और शेक्सपीयर में, इस दृष्टि से, उतना ही भेद है जितना मन्थरा और आएगो में। इसी प्रकार डास्टाईप्सकी के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' की तुलना में 'रामचरित मानस' के मनोविज्ञान को रखना हठवादिता है। वास्तव में यह तुलनाएँ जोशीजी के अभीष्ट के विपरीत सिद्ध करती हैं—यह कि मात्र मनोविज्ञान ही साहित्यिक मूल्यांकन की कसौटी नहीं है।

शरद् बाबू के उपन्यासों में न तो मनोवैज्ञानिकता की कमी है और न, जैसा कि जोशीजी का विचार है, वे अपने मनोविज्ञान में स्वयं उलझ कर ही रह गए हैं। जोशीजी का यह कहना कि शरच्चन्द्र में बौद्धिक निरपेक्षता का नितान्त अभाव था, विचित्र लगता है। शरद् बाबू के उपन्यासों की एक स्पृहणीय विशेषता है परिहासात्मकता जो बौद्धिक तटस्थता के बिना सम्भव ही नहीं है। उनका श्रीकान्त अक्सर स्वयं अपने ऊपर हँसता है। यदि यह सत्य है कि 'श्रीकान्त' आत्मकथात्मक है, तो यह शरच्चन्द्र की निरपेक्षता या तटस्थता का उज्ज्वल निदर्शन है। उनके उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक होने का दूसरा ज्वलन्त प्रमाण 'गृहदाह' है जिसके प्रमुख पात्रों का व्यक्तित्व मुख्यतः 'मूड्स' (Moods) का बना हुआ है। अधिक से अधिक शरद् बाबू के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनका मनोवैज्ञानिक ज्ञान-क्षेत्र सीमित है—उदाहरण के लिए उनके उपन्यासों में बालक-पात्रों का प्रायः अभाव है किन्तु जीवन के कुछ क्षेत्रों की उन्हें इतनी गहरी जानकारी है कि उनके अभावों पर सहृदय पाठक की दृष्टि ही नहीं जाती, यद्यपि उनकी कृतियों को एकरसता खलने लगती है। शरद् का विशेष गुण है नारी की प्रगल्भ उपस्थिति के प्रभाव से परिचय और उसके ममतामय व्यक्तित्व की तरल अनुभूति जिनके कारण वे पाठक का मन क्षण भर को भी नहीं ऊबने देते। इस क्षेत्र में वे अप्रतिद्वन्द्वी हैं, यहाँ उनकी दृष्टि बड़ी मार्मिकता एवं सफाई से संचरित होती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'शेष प्रश्न' की कमल अपने रूप की मोहिनी शक्ति से खूब परिचित है। क्रान्तिकारी एवं सेवा-परायण राजेन्द्र को वह 'तुम' कह कर पुकारती है, किन्तु राजेन्द्र इस अवसर से लाभ न उठा कर उसे 'आप' ही कहता रहता है। इससे कमल परास्त या अवहेलित महसूस करती है—'तुम' कहने का अधिकार दिए जाने पर भी क्यों उसने उसे स्वीकार नहीं किया और अब भी 'आप' कह कर सम्बोधन कर रहा है। असल में उसके अकलंक पुरुष-चित्त की भूमिका पर अब भी नारी-मूर्ति की छाया नहीं पड़ी है—इसी से 'तुम' कह कर घनिष्ट होने के लोभ का उसे भान नहीं हुआ है। कमल ने मन ही मन मानो एक सन्तोष की साँस ली।

अवश्य ही शरच्चन्द्र ने अन्तर्जीवी (Introvert) पात्रों का विशेष रूप में चित्रण नहीं किया है, किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उपन्यासकार ऐसे पात्रों की सृष्टि करने को बाध्य है, और न इस

प्रकार का चित्रण मनोवैज्ञानिक गम्भीरता का अन्यतम द्योतक है। अवश्य ही रवीन्द्र के 'घर और बाहर' से 'सुनीता' श्रेष्ठ है, पर उसका हेतु मनोवैज्ञानिक ही नहीं, 'सुनीता' की नैतिक एवं दार्शनिक जटिलता भी है। सुनीताकार हमें पद-पद पर ऊँची नैतिक अथवा दार्शनिक विचार-भूमि में ले जाता है। किन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि 'घर और बाहर' की अपेक्षा 'गोरमोहन' एक महत्तर कृति है। जोशीजी के पैमाने के अनुसार 'रामचरितमानस' की अपेक्षा डास्टाईव्सकी का 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' ज्यादा बड़ी कृति होनी चाहिए। किन्तु, शायद स्वदेशीय पक्षपात के कारण, वे तुलसी के मनोविज्ञान को श्रेष्ठतर बतलाते हैं क्योंकि 'उसका ध्येय अधिक कल्याणकारी है।'

यहाँ जोशीजी स्पष्ट ही, ज्ञात या अज्ञात भाव से, साहित्यिक मूल्यांकन के एक-दूसरे मानदण्ड का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। किन्तु वे यह नहीं बतलाते कि तुलसी का ध्येय अधिक कल्याणकारी क्यों है। क्या डास्टाईव्सकी हमें मनोविज्ञान की चरम गहराइयों—हत्यारे की आत्मा के गूढ़तर स्तरों—में नहीं ले जाता? और क्योंकि मनोवैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि महत्वपूर्ण है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त रूसी लेखक का ध्येय कल्याणकारी नहीं है। बात यह है कि मनुष्य अपने सामान्य रूप में प्रयत्नशील प्राणी है, मात्र अपने भावावर्त में घूमनेवाला नहीं। अतिशय आत्मनिष्ठता एक प्रकार का रोग है, और उसकी अभिव्यक्ति, जीवन और साहित्य दोनों में, रोचक भले ही हो, स्वास्थ्यकर नहीं है। "शेष प्रश्न" में राजेन्द्र कमल से कहता है—'हम चाहते हैं मत की एकता, काम की एकता,—हमारे लिए भावों के विलास का कोई भी मूल्य नहीं है शिवानी—' और 'कर्म के जगत में आदमी के व्यवहार का मेल ही बड़ा मेल है, मन का नहीं। मन हो तो बना रहे, अन्तःकरण का विचार अन्तर्यामी करेंगे, हमारा काम व्यावहारिक एकता के बिना नहीं चल सकता।'*

तुलसी की रामायण का महत्व इसमें है कि वह एक विशाल जाति की सहस्रशः सक्रिय भावनाओं एवं ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है—उसका एक-एक प्रसंग हिन्दू जाति की आशा-कांक्षाओं को नाना भाँति से प्रेरित करता रहा है।

महान् कलाकृति एक महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त की भाँति हमारे जीवन को उसकी वितत लम्बाई-चाड़ाई में छूती है। वह हमारी कल्पना के आगे मात्र कुछ पात्रों के मन का नहीं, उनके व्यक्तित्व का भी नहीं, सम्पूर्ण जीवन, का मानचित्र उपस्थित कर देती है। जीवन के जटिल एवं विराट प्रश्नों को बड़ा कलाकार अत्यन्त ज्वलन्त रूप में हमारे सन्मुख खड़ा कर देता है और हमें सम्पूर्ण जीवन मानव के सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य, के दर्शन और स्पर्श से पुलकित कर देता है। केवल मानसिक जटिलता के कारण ही कोई व्यक्ति हमारे अवधान का पात्र नहीं बन जाता। महत्वपूर्ण मन वह है जिसमें जीवन के असंख्य रँग-रूप प्रतिफलित होते हैं और जो जीवन की बहुमुखी जटिलता के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है। ऐसे मन के चित्रण में स्थायी प्रभाव रहता है—महाकवि गेटे ने 'फास्ट' में यही किया है; और ऐसे प्रयत्नों का जो विश्व के धरातल को छूते हैं, गान भी महत्वपूर्ण है। "रामचरितमानस" में ऐसे ही प्रयत्नशील पुरुषों का जीवनोल्लेख है।

---

* ए० सी० बोर्ड ने मात्र मनोविश्लेषण में लगे रहने वाले लेखकों को अँग्रेजी साहित्य की महाप्राणता की हानि के लिये उत्तरदायी ठहराया है। वह कहता है—

The remarked lourring of vigour and Vitality of much recent English litrature is a consiquence of too much living on the mind. (The Ninteen—Twenties, page 22).

हर्बर्टरीड भी मानता है—

Even the contemprary reader begins to sicken in the close prison of an individual Sensibility (Reason and Romanticism, p. 222.)

जैनेन्द्र का हरिप्रसन्न नाममात्र को क्रान्तिकारी होते हुए भी अपने गुमसुम स्वभाव के कारण पाठक को यह आभास नहीं दे पाता कि उसका मन हैमलेट, मैकबेथ और फास्ट की तरह महत्वपूर्ण जटिलता वाला है; इसी लिए उसके व्यक्तित्व में प्रभविष्णुता नहीं आती और हम बिदा के समय उसकी पद-रज लेती हुई सुनीता के व्यवहार को कुछ अविश्वास एवं आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु गोरा के प्रति सुचरिता का आदर भाव तथा आकर्षण हम अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेते हैं। वस्तुतः 'गौरमोहन' अपने युग के भारतीय कथा-साहित्य का प्रतिनिधि उपन्यास है। यह युग भारतीय जागृति (Renaissance) एवं राष्ट्रीयता का युग है। भारत के प्रतिनिधि कलाकार ने इस उपन्यास में हिन्दुत्व बनाम मानवता एवं भारतवर्ष बनाम अखिल भूलोक की समस्या पर बड़ा प्रखर प्रकाश डाला है। गोरा के ओजस्वी व्यक्तित्व में गुलाम भारत का सम्पूर्ण जातीय एवं धार्मिक अभिमान मानो मूर्तिमान हो उठा है। और दूसरी ओर है परेशबाबू का शान्त स्निग्ध व्यक्तित्व जिसका एकमात्र सम्बल है सत्य अथवा सत्य का आग्रह। और इन दो प्रकृतियों के द्वन्द्व की मध्यस्थ दर्शक है सुचरिता जो गोरा के प्रभाव से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकती। इस स्थिति में काफी घटनाएँ एवं सबल आत्मव्यञ्जनाएँ हो, चुकने के बाद रबि बाबू अकस्मात् गोरा पर और पाठक पर प्रकट कराते हैं कि गोरा हिन्दू नहीं, आयरिश ईसाई है—अर्थात् अपनी विचित्र परिस्थिति में अब वह मनुष्य है। इस प्रकार कवीन्द्र ने बड़े नाटकीय ढंग से यह सिद्ध किया है कि हिन्दू धर्म और भारतवर्ष के दावे की अपेक्षा मानवता का दावा अधिक प्रबल और अधिक सत्य है।

'शेष प्रश्न' में शरद् बाबू ने भी प्रकारान्तर से यही कहा है। इस उपन्यास में 'गोरा' जैसी नाटकीयता और व्यापार बहुलता नहीं है, किन्तु नायिका (कमल) की अत्यन्त प्रखर एवं प्रगल्भ वक्तृत्वशक्ति के कारण यह अभाव नहीं खलता। कमल के नितान्त निर्मम बुद्धिवादी दृष्टिकोण को जो कुछ हद तक योरुपीय दृष्टिकोण है, लेखक ने बड़ी सहानुभूति और बड़े ओजस्वी ढंग से व्यक्त कराया है। कमल को उसका वाहक बनाना ही इसका प्रमाण है। सम्भवतः बुद्धिवादी के इतने ऊँचे धरातल पर ले जाने वाला 'शेष प्रश्न' जैसा कोई दूसरा उपन्यास हमारे साहित्य में नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि शरद् बाबू उसे इतना रोचक बना सके हैं। उनकी कमल में भी, अपने स्रष्टा की व्यापक सहानुभूति के कारण, नारीत्व की कमी नहीं है—अपितु उसका नारीत्व प्रखर बुद्धि के योग से एक अद्भुत् ढंग से खिल उठा है। कमल में राजलक्ष्मी की सहज बुद्धि एवं किरणमयी की शिक्षित बुद्धि का चरम विकास हुआ है।

'गोरा' और शेष प्रश्न' दोनों को पढ़ते समय जीवन के आदर्शों से सम्बद्ध विराट् प्रश्न अपनी पूर्ण ज्वलन्त जटिलताओं में हमारी आँखों के सामने नाचने लगते हैं। सचमुच ही यह दोनों महान् कृतियाँ हैं।

४

जोशीजी ने भविष्यवाणी की है कि प्रेमचन्द की कृतियाँ निकट भविष्य में ही मूल्यहीन घोषित कर दी जायँगी। यदि यह सत्य भी हो तो इससे प्रेमचन्द के महत्व में विशेष कमी नहीं आती। वस्तुतः आज के वेगशील युग में, जब परिवर्तनों की दृष्टि से दशाब्द शताब्दियों से और शताब्दियाँ युगों से होड़ लेती हैं, किसी लेखक का यह सोचना कि वह अमर बनेगा, आत्म-वञ्चना मात्र है। विशेषत: समस्यामूलक कृतियों की अवस्था के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना दुःसाहस है। शायद 'शेष प्रश्न' की कमल का दृष्टिकोण काफी दिनों तक हमें अपनी निर्मम नवीनता से चमत्कृत करता रहेगा; सम्भव है शरद् बाबू का 'श्रीकान्त' अपने फूल-से हलकेपन और हँसी के कारण समय के थपेड़ों को अधिक सुगमता से सह सके। पर यह सत्य सत्य है कि आज के कलाकार के लिए व्यास और बाल्मीकि, कालिदास और शेक्सपीयर आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों की भाँति अमर होना असम्भव-सा हो गया है।

और प्रेमचन्द! शायद उनके विशेष अपने होने के कारण ही हम उन्हें ठीक से नहीं देख पाए हैं। वस्तुतः

प्रेमचन्द की प्रतिभा उन तत्वों की बनी हुई है जिससे होमर, वाल्मीकि और शेक्सपीयर का निर्माण हुआ था। प्रेमचन्द जैसा उपन्यासकार भारतवर्ष ने अब तक दूसरा उत्पन्न नहीं किया है। यह हम उनकी महत्ता के विचार से नहीं, निरालेपन की दृष्टि से कह रहे हैं। अवश्य ही प्रेमचन्द में कमियाँ हैं, फिर भी यह सत्य है कि उनकी जैसी मर्मभेदिनी एवं व्यापक दृष्टि कम कलाकारों को प्राप्त होती है। प्रेमचन्द एक व्यक्ति या एक मन के द्रष्टा या विश्लेषक नहीं, एक जाति अथवा राष्ट्र के अन्तरङ्ग दर्शक कलाकार हैं। भारतीय कवियों में सम्भवतः सूरदास ही एक ऐसे कलाकार हैं जिनका भारत के ग्राम-क्षेत्र से सहानुभूति पूर्ण परिचय है। उन्होंने 'सूर सागर' में नन्द महर एवं गोप-ग्वालों के राग-विराग का सजीव चित्र उपस्थित किया है। किन्तु यदि हम सूर को छोड़ दें तो हमें वेदों से लेकर अब तक के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में कोई ऐसा कलाकार नहीं दीखता जिसका भारत के हृदयभूत ग्रामों से अन्तरङ्ग एवं घनिष्ट परिचय रहा हो। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द की महत्ता का उचित आभास हो सकता है। नोबिल प्राइज विजेत्री पर्लबक ने अपने चोनी उपन्यास (The good earth) में जिस कला का प्रदर्शन किया है, वह कला प्रेमचन्द में और भी अधिक उत्कृष्ट रूप से प्रस्फुटित हुई है। आप उपर्युक्त उपन्यास को पढ़िये और फिर 'गोदान' का पहला परिच्छेद पढ़िए और आपको हमारे कथन का विश्वास हो जायगा।

प्रेमचन्द उन प्रतिभाशाली उपन्यासकारों में से हैं जो मानवता के सामान्य (normal) जोवन को उसकी समग्रता में देखने की क्षमता रखते हैं। 'द्विज' जी ने ठीक ही लिखा है कि प्रेमचन्द 'एक ऐसे सर्वदर्शी कलाकार हैं जो अपने सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण के समस्त उपकरणों को बराबर उलट-पलट कर देखते रहते हैं और उस वातावरण में पलने वाले मानव-स्वभाव के एक-एक अङ्ग को खूब अच्छी तरह पहचानते हैं। इसके विपरीत शरद्, रवीन्द्र और जैनेन्द्र उत्तरोत्तर कतिपय असाधारण पात्रों को ही चित्रित कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप यह लोग मानवता के विशिष्ट पहलुओं को ही झलक दे पाते हैं—उनके उपन्यासों में मानवता के नितान्त जटिल भीड़ भरे जीवन का परिचय नहीं मिलता। एक तीसरी कोटि के उपन्यासकार असामान्य (Abnormal) चेतनाओं को अपना विषय बनाते हैं। डास्टाईव्स्की का उपर्युक्त उपन्यास तथा श्री इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। विशुद्ध औपन्यासिक प्रतिभा की दृष्टि से यह तीन प्रकार के उपन्यासकार, हमारी समझ में, उत्तरोत्तर हीन हैं।

यह कहना सर्वथा झूठ है कि प्रेमचन्द में मनोवैज्ञानिक दृष्टि की कमी है। वस्तुतः उनकी इतने विस्तृत क्षेत्र की ऐसी व्यापक जानकारी पर आश्चर्य होना चाहिए। 'गबन' की चूड़ी वाली, 'निर्मला' के बरातियों 'रंग भूमि' के सूरदास आदि से लेकर 'गोदान' की सोना और रूपा के मन तक का प्रेमचन्द को अव्याहत बोध है। इसकी पुष्टि के लिए प्रमाण नहीं देने होंगे—सहृदय पाठक उन्हें पद-पद पर पा सकेंगे। वस्तुत: प्रेमचन्द जैसी प्रतिभा को बार-बार उत्पन्न कर सकना कठिन है। यदि उन में उच्च-वर्गीय पात्रों को चित्रित करने को अनधिकार चेष्टा, आवश्यकता से अधिक तीव्र सुधारक-भावना और उसके उपयुक्त चिन्तनशीलता या दार्शनिकता की कमी न होती तो वे विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारों में सहज ही परिगणित हो जाते। 'गोदान' उच्चतम कोटि का उपन्यास है, यदि उसमें से मालती, मेहता आदि कतिपय पात्रों को निकाल दिया जाय। किन्तु इन सब कमियों के रहते हुए भी प्रेमचन्द भारत के किसी भी दूसरे उपन्यासकार से हीन नहीं हैं। आश्चर्य नहीं कि भारतीय इतिहास और संस्कृति के भावी विद्यार्थी एक मात्र प्रेमचन्द में ही पथप्रदर्शन पा सकें। होरी के जोवनमें हमारे युग के सर्वग्रासी सन्देह से संघर्ष करते हुए कौटुम्बिकआदर्श की जो सशक्त अभिव्यक्ति हुई है, वह Anthropologists के लिए सदैव अध्ययन की वस्तु रहेगी। गाय को हत्या करने वाला हीरा लौट कर आता है और होरी की क्षमाशीलता से विह्वल हो कर बात करता है—

'तुम से जीते-जी उरिन न हूंगा दादा।'
'मैं कोई गैर थोड़े हूं भैया।'

होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानों उसके चरणों पर लोट रहीं थीं। कौन कहता है, जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं! इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया है। हीरा की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान हो गई है।

भारतीय कथा-साहित्य में इतने सीधे, मार्मिक एवं वेदना भरे वाक्य अन्यत्र शायद हीं कहीं मिलें। इनके चित्रपट की विधायक प्रतिभा अपनी सादगी, सरलता और ईमानदारी के कारण हमारी चिरन्तन सहानुभूति और आदर की पात्र है।*

अन्त में मैं हिन्दी पाठकों से निवेदन करूंगा कि वे मिथ्या की स्वीकृति या प्रचार द्वारा आत्मभाव के पोषण की चेष्टा न करें। अपनी हीन भावना Inferiority Complate का यह प्रदर्शन बड़ा दयनीय है। वस्तुतः हमारे साहित्यको अब इस प्रकार के क्षुद्र उपायों के अवलम्बन की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं हैं—और पहले भी कभी नहीं थी, क्योंकि हम यदि अपने को बाल्मीकि और कालिदास का उत्तराधिकारी कहने का साहस न भी कर सकें, तो तो भी हमें सूर और तुलसी की विरासत से कौन वंचित कर सकता है? शरद और रवीन्द्र का उचित आदर करने से हमारे साहित्य को न किसी प्रकार की ठेस पहुँच सकती है, और न बाधा। जोशी जी से तो शेखसादी के शब्दों में मैं नम्र भाव से केवल इतना ही कहूँगा कि,

नामे नेके रफ्तगाँ जायः मकुन्।
ता बेमानद नामे नेकत बरकरार॥

* "गोदान" की इस प्रशंसा का पाठक यह अर्थ न लगायें कि "रंगभूमि" उच्च कोटि की रचना नहीं है—वस्तुतः वह गाँधी युग का एक अत्यन्त नाटकीय चित्र है। उसका क्रियात्मक कथानक सदैव रोचक और प्रिय लगता रहेगा। ऐसे उपन्यासों को लक्ष्य कर के ही एक लेखक ने कहा है—

One tipe of filtion casts by virtue of its epical or energetic appeal......such lengthy narratives as the *odyssey* or *Don Onixote* in this way! suruive as narratives of progressive action (Reasson and Romanticism, page 222).

आलोचना—

आलोचना का अर्थ है किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रदान करना। आलोचक इसीलिये विद्वान समझा जाता है। जब हम आलोचना से साहित्यालोचन का अर्थ लगाते हैं तो हम इसमें उस साहित्य को स्थान देते हैं जो साहित्य के सम्बन्ध में लिखा गया है। यदि कविता, नाटक तथा उपन्यास जीवन के स्पष्टीकरण हैं तो आलोचना इस स्पष्टीकरण का भी स्पष्टीकरण है। कुछ लोग आलोचना का विरोध इसलिये करते हैं क्योंकि पाठक आलोचना पढ़कर मूल का रसास्वाद करने का कष्ट नहीं उठाते। यह कोई विशेष बात नहीं है। अधिकांश आलोचनाओं से तो पाठकों में रचनाओं को पढ़ने की अभिरुचि हो पैदा होती है।

सच्ची आलोचना का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। संसार की समस्त पुस्तकों का अध्ययन किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है। परन्तु संसार की समस्त पुस्तकों के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। आलोचकों से हम इस सम्बन्ध में सहायता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु जिस विषय का हम स्वयं विशेषाध्ययन कर रहे हैं उसके विषय में आलोचकों के द्वारा हमारे भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना है। साथ ही साथ आलोचना से हमें बड़ी सहायता भी मिलती है। सच्चा आलोचक वही है जिसे अपने विषय का पूरा ज्ञान हो। ऐसे आलोचक के द्वारा हमें अनेकों नवीन बातें ज्ञात हो सकती हैं। आलोचक कभी पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है कभी साथी का।

—मधुसूदन दास चतुर्वेदी

साहित्य का दायित्व

श्री रामकुमार जी साँख्यधर

साहित्यकार के दो रूप—साहित्य-निर्माता की अन्य निर्माताओं की तरह कुछ अपनी जिम्मेवारियाँ हैं। निर्माता का कार्य केवल वस्तु के बना देने से ही पूर्ण नहीं हो जाता, हाँ वह उसके परोसने के लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। उसका कार्य निर्माण तक ही सीमित नहीं, वल्कि वह कहीं आगे बढ़ा हुआ है। उसका महत्त्व वस्तु की अपूर्णता में नहीं—वह पूर्णता में है। उसका कार्य केवल दूसरों को करने देने की ही सीमा तक नहीं स्वयं करने और दूसरों को उसके योग्य बनाने तक है। साहित्यकार का कर्तव्य, उसका दायित्व किसी एक विशेष वर्ग अथवा एक जाति और किसी भी एक शक्ति के लिये संभव नहीं, वरन् सभी उससे किसी न किसी सीमा तक सम्बन्ध रखते हैं। वह अपनी धारा के साथ जीवन को लेकर चलता है, दूसरों से प्रथक भी। साधारण 'साहित्यकार जीवन की वर्तमान समय की प्रेरणाओं और धारणाओं को लेकर चलता है। वह अपने ऊपर अपने उसी समय के लिये परिस्थितियाँ, काल, घटना-चक्रों को लेकर चलता है और यह स्वभाविक नियम है कि सामान्य कलाकार साहित्य में जो भी धारा चल रही है, अर्थात् जो कुछ भी सर्वसाधारण द्वारा अपनाया जा रहा है उसके प्रतिकूल नहीं चल सकते, उनमें क्रान्ति की वह झलक जो कि साहित्य और समाज के अन्दर एक अन्तर्द्वंद की मात्रा उत्पन्न कर देती है और जिसके द्वारा साहित्य और समाज में उत्थान-पतन का दृश्य सामने आ जाता है, नहीं अपनायी जा सकती। क्योंकि वे इस योग्य नहीं होते कि उससे प्रथक् वह अपनी कोई नवीन धारा बना लें जिसके द्वारा वे समाज को अपने निकट ले आयें। यह कार्य उत्तम कलाकार ही कर सकता है, क्योंकि वह दृढ़ रहता है अपने उस पथ पर जिससे कि वह सामान्य कलाकारों को भी अपने उसी पथ से निकाल सकता है जबकि वे इस योग्य हों।

मनुष्य का प्रादुर्भाव एक समाज विशेष और एक परिस्थिति विशेष में होता है और उसकी कला भी उसी से प्रभावित रहती है। वह जिस युग में उत्पन्न हुआ है उस युग की सुख दुःख की परिस्थितियों का प्रभाव उसकी कला कृति में भी अवश्य किसी न किसी रूप में होगा। उस समय की राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक समस्याओं का सुझाव उसकी रचना में भाषित होगा या होना चाहिए।

इस प्रकार साहित्य क्षेत्र में उतरने पर उसके निर्माताओं के दो रूप हमारे सामने आते हैं एक सामान्य साहित्यकार के रूप में और दूसरा उत्तम साहित्यकार के। दोनों अपने-अपने समय की विभिन्न प्रवृत्तियों धाराओं और वादों से टक्कर लेते हुये अपने भविष्य को सँवारते आगे बढ़ते हैं। इनमें से सामान्य साहित्यकारों की बात ऊपर कही जा चुकी है वे तो अपने देश काल के परिणाम मात्र होते हैं, वे साहित्य की गति के विरुद्ध नहीं तैर सकते। उच्चकोटि के साहित्यकार का पथ कड़वा होता है। वह क्रान्तिकारी होता है। वह देश और काल की सीमा भंग करने में ही अपना महत्व समझता है। वह साहित्य की प्रवृत्तियों के टक्कर में ही अपनी साहित्यिक जागृति से परिचय कराता है। वह बढ़ रखता है अपने उस वक्षस्थल को जिस पर से कि सारी की सारी जाति उसके ऊपर से पार हो सकती है। सामाजिक जीवन का उसके लिये केवल उतना ही महत्व है जितना कि वह उसके जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है।

साहित्यकार संस्कृति का रक्षक—लिखना रक्क कर नहीं है जिसे वसूल करना ही पड़े, लिखना वेज्ञानकारी का प्रदर्शन नहीं है, वह भाषा पर उपकार नहीं है, वह समाज को छोटा मानकर अपने बड़प्पन की डींग नहीं है, वह युग बनाने का क्षुद्र तमाशा दिखाने का जादूघर नहीं है। वह धन है जिसे वही दे सकता है जिसके पास हो वह साधन है जिस पर से समूची की समूची जाति धारणाओं

के एक युद्ध स्थल से दूसरे युद्धस्थल को पहुँच जाती है, वह प्रकटीकरण है उन घड़ियों का जिनके प्रकट न करने पर पीढ़ी की पीढ़ी के अन्धकार में भटकते रहने का डर है वह दान है, रक्त दान है, उस युग को जिसमें शक्ति का संचार कर माता की तरह गर्वित और विश्व-निर्माता की तरह शक्तिमय बनकर साहित्य के बाग में वह रसदान करते हैं, जिससे बोलियाँ अपने प्राणों में उन्मेष लेकर ऊँचे को उठें, तुच्छ भूमि के आकर्षण से विद्रोह कर आसमान की ओर चल पड़ें और अपनी यात्रा के परम मित्रों को अपनी मातृ-भूमि की गोद पर बाहें झुकाकर समर्पित कर दें।

—पं० माखनलाल चतुर्वेदी

इस प्रकार साहित्यकार साहित्य की साधना करते हुये अपने जीवन को तपस्या में लगाकर वह अपनी संस्कृति की रक्षा करता है। वह अपनी वाणी से मानवों को सुसंस्कृत बनाता है। वह अपने मनोभावों के अन्तर्द्वन्द्व को अपनी वाणी द्वारा प्रकटीकरण करता है, जिसके प्रकट करने पर समूची की समूची जाति धारणाओं के युद्धस्थल से दूसरे युद्धस्थल को पहुँच जाती है और जिसके प्रकट न करने पर पीढ़ी की पीढ़ी के अन्धकार में भटकते रहने का डर है।

इस प्रकार साहित्यकार अपने खून का पसीना बना कर सत्यं शिवं सुन्दरम् की आराधना करता हुआ अपने हृदय को चीर कर संस्कृति का दान कर के उसी के ऊपर से संपूर्ण जातियों को पार कराता हुआ अपने महान् उद्देश्य को पूर्ण करता है। उसकी आकृति साहित्य के पृष्ठों में चित्रों की सी लिखी जान पड़ती है। वह सारी की सारी जाति को प्राणदान करता है, जिससे कि उसकी जातियाँ संस्कृति की दौड़ में किसी से पीछे न रहने पावें। वह उनका रक्षक है क्योंकि उसने अपने प्राण दान कर के उनमें प्राण प्रतिष्ठा की है।

साहित्य-रचना : एक साधना—योगी जिस प्रकार साधना करते करते ब्रह्म तक पहुँचता है। इस बीच में उसे कितनी यातनायें, तपस्यायें, योगक्रियायें और क्या-क्या नहीं करना पड़ता। तब कहीं जाकर वह अपने पूर्ण-योग को प्राप्त होता है और अनन्त, अव्यक्त मन को भी जो अगम्य है, मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता किन्तु मन जिसकी मनन शक्ति में आ जाता है तथा वेद भी भी जिसको नेति-नेति कह कर चुप हो गये हैं, उस ब्रह्मानन्द नद में उसका हृदय एक मत्स्य के समान डूब जाता है। यही शब्द एक साहित्य साधक के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। ठीक इसी प्रकार एक साहित्यकार साहित्य का अध्ययन, तपस्या और दान करते हुये जब उसी की एकान्त निष्ठा में मग्न होता है तब वह साहित्य का वास्तविक स्वरूप अपने उदार हृदय में देखता है। युग की सभी चेतनायें उसमें आत्म-भूत होती हैं और उसकी मर्मस्पर्शी ज्वाला की किरणें वर्तमान को पार करती हुई भविष्य के शून्य कोनों को आशा से प्रोज्वल और मनोरम बनाने में सफल होती हैं।

निस्संदेह साहित्य की धारा एक प्रचंड धारा है, उसमें बहने वाला रुकता नहीं है, वह रोका नहीं जा सकता। उसकी साधना महान साधना है। वह योगियों की तपस्या, दानियों के दान और व्रतियों के दृढ़ व्रत से किसी प्रकार कम नहीं है।

'साहित्य रचना एक महान साधना है।'

साहित्यकार ! जगत का विधाता—जिनके ऊपर ईश्वर की कृपा होती है वे कवि होते हैं, लेखक होते हैं, चित्रकार होते हैं, पत्रकार होते हैं, और क्या क्या नहीं होते। यही हमारे साहित्य निर्माता हैं—साहित्यकार हैं। साहित्यकार साहित्य का ही विधाता नहीं, वह इस जगत का भी विधाता है। साहित्यकार सृष्टिकर्ता की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यशाली है, क्योंकि ईश्वर प्राणियों के कर्मानुसार दण्ड देने को बाधित है, परन्तु साहित्यकार कर्मानुसार शब्द से बंधा हुआ नहीं। वह चाहे जिस प्रकार का लिख कर साहित्य को चाहे जिस पथ पर दौड़ा सकता है परन्तु उसका आधार जीवन और जनता होना चाहिये, पुस्तकें नहीं।

साहित्यिक तू राष्ट्र-निर्माता है। तू अपने देश का गौरव है; लेकिन तेरी साहित्यिकता उसी में है कि तू पीढ़ियों की यादों में से, पुस्तकालयों में से, मूर्तियों में से, चित्रों में से, पत्रों में से, पुस्तकों में से, खंडहरों में से और यहाँ तक कि प्रत्येक स्थान से पुकारता रहे कि रास्ता यहीं से, इसी ऊँचे पर से और इसी स्थान में से है—चले आओ।

साहित्य का दायित्व—हम दूसरों के ग्रहण को अपने ऊपर रक्खे हुये हैं, इसको न मानकर हम अकृतज्ञ होंगे। हमें उऋण होने के लिये उतना अवश्य दे देना चाहिये, जितना कि हम ले चुके हैं। इस प्रकार हमें कवियों, लेखकों, पत्रकार इत्यादि तथा प्रेरणादान करने वालों का आभार मानना चाहिए।

क्या हमारा महत्व इसी में है कि हमारी उपयोग की हुई भाषा को लोग समझ न सकें और हमारा साहित्य गतिशील न होकर किसी विशेष धरातल पर आरूढ़ हो जाय। क्या हम मुट्ठीभर कालेज के लड़कों की शोध और विनोद के लिये भाषा ढाल रहे हैं। हम लिखें वह जो बड़े-से बड़े साहित्यकार से लगाकर श्रमिकों के जीवन का साथी साहित्य कहला सके।

हम वह बेतुका साहित्य न लिखें, जिसमें एक सूझ का जोड़ दूसरी सूझ से न बैठे। जिसमें धारा का प्रवाह न हो, किन्तु हम लिखें वह जो नवीन से नवीन प्रतिमा से पूर्ण और पूर्ण विश्लेष्णात्मक रीति से लिखे जाने के कारण महाकाल में भी क्षीण न होने वाली शक्ति को अपने में आबद्ध रख सके।

हमारे साहित्य में जो लोग अपने किसी विशेष अभाव के होते हुये भी लिखते हैं वे अपना विष समाज के गले के नीचे उतारते हैं, वह चाहे जिस श्रेणी का क्यों न हो जिसको न देने में ही उनका गौरव था! हम कम से कम लिखें, किन्तु लिखें वह जो साहित्य की उच्च से उच्च श्रेणी में निस्संकोच रखा जा सके।

आलोचना के क्षेत्र में हम जो कुछ भी लिखें उसको विश्लेष्णात्मक रूप से व्यक्तिगत आक्षेप और पक्षपात पूर्ण बातों तथा आँखों के लिहाज को छोड़ कर अपना मन्तव्य प्रकाशित करें जिसमें संशय के लिये स्थान ही न हो।

काव्य और कला—

काव्य में कला का महत्वपूर्ण स्थान है, काव्य स्वयं एक कला है। किन्तु यह भ्रम भी न होना चाहिए कि काव्य में कला ही सर्वप्रमुख वस्तु है और कला की ही साधना काव्य का उच्चतम लक्ष्य है या काव्य अपनी कलात्मकता से ही समादृत होता है। प्रायः इसी भ्रम के कारण कुछ प्रतिभासम्पन्न कवियों के काव्य में भी शुद्ध भावना और अनुभूति के स्थान में हम शब्दाडम्बर और बाह्य सौन्दर्य का प्राधान्य पाते हैं। वस्तुतः काव्य में कला की इस रूप में अवतारणा सीमित दृष्टिकोण का द्योतक है। विशुद्ध काव्य को ऐसी कला का जामा पहना कर उसके स्वरूप को विकृत करने से क्या लाभ। वास्तविक कवि को ऐसी मनोवृत्ति से सदा विमुख रहना चाहिए। कविता अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही सुन्दर और श्रेष्ठ मानी जाती है; उसके लिए शृंगार की आवश्यकता नहीं। काव्य के लिए 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त विशेष महत्व नहीं रखता। केवल कला के लिए कला की सृष्टि तो अन्य साहित्यिक माध्यमों द्वारा भी हो सकती है। काव्य के लिए जनसमाज का रञ्जन गौण है; मौलिक आनन्दवाद काव्य का चरम उद्देश्य नहीं। उच्चकला की सौन्दर्यानुभूति काव्य में अवश्य अपेक्षित है।

सच्चे काव्य में कला की बाह्य स्थापना की आवश्यकता नहीं होती। सफल कलाकार वही है जिसके काव्य के मौलिक स्वरूप में कला का अंश सम्मिश्रित हो। काव्य में कला इस प्रकार से समाहित होनी चाहिए कि उससे निस्संग काव्य का कोई स्वरूप ही न ज्ञात हो। यदि किसी काव्य-अंश में काव्य-भाग और कला-भाग का पृथक्करण सम्भव है तो वह काव्य सफल नहीं कहा जा सकता। काव्य का उद्देश्य भी किसी सीमा तक रञ्जनात्मक है, किन्तु वास्तविक रञ्जन तो मानसिक रञ्जन या तुष्टि है जो इसी प्रकार के उच्च काव्य और कला के मिश्रित रूप से सम्भव है। यदि कोई भौतिक रञ्जन के लिए काव्य की सृष्टि करने का प्रयास करता है तो निश्चय ही वह काव्य को उच्च और पुनीत धरातल से खींचकर निकृष्ट भूमि पर लाने का प्रयत्न करता है। इस प्रवृत्ति का कारण होती है तथाकथित कवियों की अविकसित बुद्धि जो उच्चकाव्य के सृजन में असमर्थ होती है। इस प्रकार के उच्च काव्य के अतिरिक्त एक इससे भी महत्वपूर्ण काव्य है जो भौतिक सीमाओं का उल्लंघन कर प्राणिमात्र के लिए आनन्द एवं रञ्जन की वस्तु होता है। यही कला का पूर्ण विकसित स्वरूप है। यही काव्य सर्वदेशीय और सार्वजनीन है।

—सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

हिन्दी समीक्षा किधर ?

श्री चन्द्रचूड़

यों तो आज कल हिन्दी के इस छायावादी क्षेत्र में, जो अपने को अब प्रगतिवादी भी कहने लगा है, झींगुरों की झनकार में प्राणों की अभिनव तन्त्री और तार के खम्भों में वेदना का भान करने वाले बरसाती मेंढकों की भी कमी नहीं है और न ऐसे विलायती उलूकों का ही अभाव दिखाई पड़ता है जो केवल आपेरा-डान्स तथा लव का स्वाँग भर भरना जानते हैं—'नारी-निर्जन, शराब और कबाब पर कविता लिखने वाले' क्या कवि और क्या प्रेम का मुफ्त सौदा करने वाले दमड़ी के कहानी-लेखक; आए दिन विलायती-संस्कृति में रंगे, आर्ट और 'टेकनीन की विवेचना करने वाले, तथा प्रायः हर बात में कहीं इब्सनऔर कहीं शा तो कहीं मैटरलिंक के नाम पर अपना रंग जमाने वाले किसी दुखिया माता के जुआड़ी पुत्रों की भाँति इन समीक्षकों की भी शृंखला टूट पड़ी है। साहित्य के इन आलोचकों से भाषा पनाह माँगती है। खेद एवं आश्चर्य का विषय है कि जहाँ एक ओर हमारी भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से निरन्तर विकास के पथ पर है वहाँ सिद्धाँतों और आदर्श में किस प्रकार लड़खड़ाती हुई पश्चिम की चेरी बनती चली जा रही है ? क्या यह पतन की ओर इंगित नहीं करता ? जिस भाषा में अपनी कोई मौलिकता नहीं और जिसके साहित्य में स्वकीय आदर्शों के आकलन और संकलन की कोई प्रवृत्ति नहीं वह भी क्या जीने की अधिकारिणी है ? हिन्दी-जगत के सामने मुख्यतः यही दो प्रश्न हैं जो वास्तव में एक ही प्रश्न के दो रूप हैं। उत्तरदायी कौन है इसका 'निर्णय' तो शायद कोई कर ही नहीं सकता, हाँ 'विचार' के लिए मैं विचारशील पाठकों को आमन्त्रित करता हूँ।

द्विवेदी-काल में जिस समीक्षा का शिलान्यास हुआ था और अपने क्रमिक स्तरों में विकास करती हुई जिसने आचार्य शुक्ल के हाथों में सीमा-दर्शन किया था, आज अपने अभिभावक आचार्यों को खोकर जिस निष्ठुर अभाव का अनुभव कर रही है और वादों (Isms) के जिस वात्याचक्र में आ पड़ी है वह यथार्थतः हिन्दी का पतझड़ है। इस पतझड़ में भी भविष्य के लिए हमें एक आशा थी, किन्तु आज की गति-विधियों से वह आशा संदिग्ध ही जान पड़ती है। साहित्य की शृंखला समालोचकों के कठोर हाथों में होती है, पर आज के समालोचकों के हाथ भी कुछ कोमल हो चले हैं और उनका यह छायावादी संस्करण कुछ 'सस्ता' और 'नीलामी' हो गया है। आधुनिक आलोचकों का एक सच्चा स्वरूप आपको शुक्ल जी के साहित्य के इतिहास में ही मिल जायगा। 'ठीक ठिकाने से चलने वाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असम्बद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँग्रेजी के अथवा बँगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य ला-ला कर खड़ी की जाती है। कहीं-कहीं तो किसी अँग्रेजी कवि के सम्बन्ध में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों का त्यों उठा कर किसी हिन्दी कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ता है कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हुए हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिये तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय और भाव कुछ और है, आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं। कवि के मानसिक विकास का एक आरोपित इतिहास तक—किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर—वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पच्चीस-तीस पद्यों

का भी ठीक तात्पर्य उन्होंने समझा है। ऐसे आलोचकों के शिकार कुछ कवि ही अभी हो रहे हैं। नूतन शाखा के एक अच्छे कवि हाल ही में मुझसे मिले जो ऐसे कदर-दानों से पनाह माँगते थे। अब सुनने में आ रहा है कि इस ढंग के ऊँचे हौसले वाले दो-एक आलोचक तुलसी और सूर के चारों ओर भी ऐसा ही चमकता वाग्जाल बिछाने वाले हैं।'*

क्या यही वाग्जाल बिछाने वाले समालोचक हिन्दी के जानसन और आर्नल्ड बनने का दावा रखते हैं? जिन 'अनिर्णीत, धुँधली और लिपी-पुती' धारणाओं का वे प्रतिपादन करते हैं उनसे तो जन्म भर कोई साहित्य सशक्त और सुन्दर नहीं हो सकता। सस्ती-भावुकता से भरे हुए गीत गाने वाले कवियों के समान अपने 'संतुलित विवेक' एवं 'स्वस्थ-भावनाओं' का झूठा दम भरने वाले ये अबोध आलोचक भी महान् भ्रम में पड़े हुए हैं। जिस प्रकार 'स्वर्णिम', 'दुकूल', 'अजान' और कुछ 'कलमल-टलमल' शब्दों को याद भर कर लेने वाले Polished 'जन्तु' आजकल कवि बन जाते हैं और दूसरे गुदड़ी से किसी अन्य भाषा के जीर्ण ग्रन्थकार की कृतियों में कुछ नाम आदि सम्बन्धी इधर-उधर का कुछ हेर-फेर कर कहानीकार और उपन्यासकार कहलाने लगते हैं उसी प्रकार का एक अमोघ नुस्खा इन समालोचकों ने भी अख्तियार कर रखा है जिसमें अन्तर्दृष्टि गति अनुपात और ऐक्य आदि किसी विशेष तूलताल की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; केवल कुछ टकसाली शब्दों और से ही काम बन जाता है। अपना उल्लू सीधा करने का यह भी एक जरिया है। इसी के सहारे मेरे एक मित्र आलोचक तो बिना नवीन कृति के दर्शन के ही उसके और लेखक के नाम मात्र पर पत्रों में उसकी विस्तृत 'रिव्यू' लेकर पहुँच जाया करते हैं। भले आदमी यह भी नहीं सोचते कि समालोचना के लिए कृतियों का गहन अध्ययन और विशेषज्ञता भी अपेक्षित है जो विशेषता अमित उपासना का वरदान है। भावी विशेषज्ञ प्रारम्भ से ही उपासक होता है। मनोवृत्ति के अनुकूल अभीष्ट विषय का अनुसन्धान उसकी उपासना का प्रारम्भिक स्वरूप है। विषय प्राप्ति के पश्चात् उसके अध्ययन-सम्बन्धी उपादानों का संग्रह उपासना की दूसरी अवस्था का कार्य है। वास्तविक उपासना का प्रारम्भ तीसरी अवस्था से होता है। कालान्तर में सफलता और ध्येय की प्राप्ति का समय आता है और तब जाकर कहीं प्रत्येक परिस्थिति का सफल निर्वाह करने वाला साधक समाज के लिए एक कल्याणकारी संदेश देकर अमर विभूति बन पाता है।[1] वैसे तो ऐरे-गैरे सभी किसी न किसी रूप में अपना असन्तोष प्रकट कर जीवन का दुखड़ा रो लेते हैं। पर क्या साहित्यिकों की आलोचना जीवन का दुखड़ा रो लेने तक ही सीमित है।

तब तो हमारी समीक्षा का माप-दण्ड ही अत्यन्त गिर जायगा और हम अपनी कच्ची आलोचना को ही सब कुछ मान बैठेंगे।

जिस आलोचना की यह दशा होगी उसका साहित्य भी क्या ही मनोरञ्जन एवं कुतूहल का विषय बन जायगा। पश्चिम के कुछ साहित्यिक-आन्दोलन इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर काव्य-क्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए व्याकुलता-मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता, केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए-नए ढंग की उच्छृङ्खलता, वक्रता, असम्बद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे हैं। थोड़े से ही सच्ची भावना वाले कवि प्रकृत मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी हवाई ढंग की होने लगी है। हिन्दी के क्षेत्र में भी आजकल किंचित इसी प्रकार की उच्छृङ्खलता और अनर्गलता का प्रदर्शन जोर पर है। एक श्रेष्ठ आलोचक महाशय को मैं

* हि० सा० इ०, पृष्ठ ६७८।

कई महीनों से इसी चेष्टा में देख रहा हूँ कि शुक्लजी ने जो कुछ लिखा है यदि उसका किसी तरह खण्डन हो जाय तो वे भी पाँचों सवारों में अपना नाम दर्ज करा लें। जब तक आचार्य हमारे बीच थे तब तक तो उनकी वाणी नितान्त मौन एवं गूँगी ही रही—अब वे भी उछालें मार रहे हैं। क्या यह लेखक का वैयक्तिक-दोष नहीं है?

ऐसी अवस्था में हमें अपने साहित्य की ओर, प्रधानतः समीक्षा की ओर, विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—क्योंकि समीक्षा में मुर्दा साहित्य में भी जीवन डालने की भी अपूर्व क्षमता होती है और उसकी चेतना में अपेक्षाकृत बल भी अधिक रहता है। पर इस समीक्षा के लिए समालोचक को ऊँचे उद्देश्यों को ही लेकर प्रवृत्त होना चाहिए। कभी-कभी समालोचक का ऊँचा उद्देश्य होते हुए भी वह अपनी अयोग्यता के कारण लेखक के प्रति अन्याय कर सकता है। इसलिए जब तक अपने कार्य में दक्षता न हो, समालोचक को किसी की समालोचना भी करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अनावश्यक समालोचकों की इस बाढ़ को ही रोकने में हमारा क्षेम है। और उस क्षेम तक पहुँचने के लिए हिन्दी के साहित्य-सेवियों से भी हमारा एक अनुनय है—वे जब कुछ लिखने बैठें तो इस बात को सच्चे हृदय से कह और अनुभव कर सकें कि 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्ववेद)। 'यह भूमि माता है मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।' अर्थात् वे अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से क्यों न प्राप्त करने की चेष्टा करें, विलायती विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही बाहर उँडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर जीवन नहीं पा सकता।

एक बात और—लिखते समय इसका सतत् ध्यान रहे कि लेखक की शुभ-लेखनी से जो कुछ निकले वह कम से कम 'वादों' के आवर्त से बाहर की वस्तु हो। यद्यपि हिन्दी का किसी वाद-विशेष से विरोध नहीं है। जैसे नदी में अनेक सोते आकर मिलते हैं और उसे परिपुष्ट करते हैं, उसी प्रकार साहित्य की धारा भी अनेक प्रवृत्तियों से परिपुष्ट होती है। पर यदि कोई प्रवृत्ति अमरता की अभिलाषिणी है तो उसे सामयिक वस्तु को चिरन्तनता का रूप देना चाहिए। काव्य के क्षेत्र में केवल किसी वाद का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है। और कुछ दिनों में लोग कविता न लिख कर 'वाद' लिखने लगते हैं। इस सत्य का स्पष्टीकरण कलाकार और समीक्षक दोनों का पारस्परिक समझौता है। हम तो ऐसी कला या साहित्य के उपासक हैं जिसमें उच्च चिन्तन, स्वाधीनता का भाव तथा सौन्दर्य का सार हो, जो जीवन की सचाइयों पर प्रकाश डालता हो और जिसमें गति एवं संघर्ष के साथ-साथ सृजन की आत्मा हो। इसी प्रकार हम ऐसी समीक्षा के पक्षपाती हैं जिसका आधार 'मनमाना वर्गीकरण अथवा 'असत् आदर्श' नहीं, शुद्ध 'विवेक' और सत्य का कलात्मक आभास तथा 'विश्लेषण' हो—जिसमें मौलिक चिन्तना के साथ-साथ आकर्षक और सुबोध व्याख्या हो, भाव-पक्ष और बुद्धि-पक्ष के सामञ्जस्य का जहाँ अभाव न हो, निरीक्षण-शक्ति और मननशीलता के साथ-साथ सूक्ष्म मनोभावों के मूल खोजने की वृत्ति हो। हिन्दी के लिए भी साहित्य और मनोविज्ञान सम्बन्धी यही स्पष्टीकरण अपेक्षित है। है ऐसी आशा?

———

शृङ्गार रस और करुण रस

श्री रतनलाल परमार

साहित्यिक विद्वानों ने शृङ्गार-रस को रस-राजकी उपाधि से विभूषित किया है। किन्तु, जब अनुभूतियों की दृष्टि से हम सोचने लगते हैं तो हृदय इस बात की स्वीकृति नहीं देता। मस्तिष्क द्वारा मान्य बातें साहित्यिक जगत (काव्य) में कुछ विशेष उपयोगी नहीं होतीं; क्योंकि हृदय उन वास्तविक तथ्यों को स्वीकार करता है, जिनसे मानव-समाज चिर सुख, शान्ति, सन्तोष और आनन्द प्राप्त कर सकता है।

आचार्यों के द्वारा शृङ्गार-रस के दो विभाग किये गये हैं—१ वियोग शृङ्गार और २ संयोग शृङ्गार; अर्थात् एक प्रकार की शृङ्गार रस की भावनाएँ संयोग अथवा मिलन काल के लिए एवं दूसरे प्रकार की भावनाएँ वियोग वेला के हेतु। संयोग शृंगार के आधार-आलम्बन--तो प्रत्यक्ष ही विद्यमान रहते हैं; किन्तु, ऐसी अवस्था प्राप्त हुए भी वहाँ विशेष प्रकार की ललित भावनाओं का उद्दीपन नहीं होता—जो स्थायित्व प्राप्त कर सकें। मानवीय मनोविकार वहाँ परितृप्त होते रहते हैं। साहित्य के शृंगार रस की अनुभूति की अपेक्षा वहाँ व्यभिचारी भावों के सञ्चार की ही विपुलता रहती है। साहित्य की ललित एवं मंजुलतम भावनाएँ वहाँ विकृत होकर सामयिक वातावरण को दूषित करती हैं;--जबकि साहित्य का लक्ष्य, उद्देश्य एवं ध्येय सदैव ही एक मात्र सत्य, शिव और सुन्दर की उपलब्धि करना है। ऐसा सत्य, शिव एवं सुन्दर नहीं जो सूक्ष्म गूढ़ और पारिभाषिक कल्पनाओं में उलझा रहे; अपितु, जो विश्वास और ईमानदारी के साथ विश्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सुख, शांति, आनन्द प्रदान करे और साथ ही साथ कल्याण भी कर सके। साहित्य के मूल उद्देश्य को विस्मरण करके ही कतिपय प्राचीन रसवादी-रीतिवादी कवियों ने अपने मनोविकारों का अधिकांश आश्रय लेकर आदर्श की ओट में काव्य-क्षेत्र में विचार-व्यभिचार किया है।

शृंगार सौन्दर्य के लिए किया जाता है; अतः शृंगार में सौन्दर्य नहीं है। शृंगार तो केवल सौन्दर्य का आडम्बर है--विडम्बना है। जब वियोग शृंगार की पारी आती है तो वे मोहक आभूषण जो शृङ्गार की मुख्य सामग्री हैं--भार स्वरूप सिद्ध होते हैं। उस समय सादगी ही हृदय को विशेष भाती है और विकार का तो नामचिन्ह भी नहीं रहता। जब एक ही रस की दो अवस्थाओं में एक ही वस्तु परस्पर विपरीत फल प्रकट करती है तो वह सत्य नहीं हो सकती। जहाँ संयोग में हृदय बोझिल प्रतीत होता है, वहाँ वियोगावस्था प्राप्त होने पर वह आँसुओं के द्वारा भार-मुक्त हो जाता है। हृदय में प्रथम तो वे भाव उद्दीप्त होते रहते हैं जो मनोविकारों के साथ पुष्ट हो चुके थे। शनैः शनैः यह अवस्था दूर होती जाती है और हृदय विकारों की व्यर्थता अनुभव करता जाता है। हृदय यह वर्द्धमान विमल अवस्था ही आगे चलकर काव्य को जन्म देती है जिसको करुणा कहते हैं। एक संस्कृत के प्राचीन कवि सिरह की विरदता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं:—

"सङ्गम्-विरहे विकल्पे वरमपि
विरहो न सङ्गमस्तस्या:।
संगे सैव तथैका त्रिभुवन
मयी तन्मय विरहे॥"

संगम (शृंगार) और विरह (करुणा) दोनों में विरह ही श्रेष्ठ है। संगम में प्रेम पात्र केवल एक ही रहता है; परन्तु विरह में तो वह त्रिभुवन के कण-कण में समाविष्ट हो जाता है।

हृदय की नितान्त निर्मल अवस्था ही चाहे वह कैसे भी प्राप्त हुई हो, सौन्दर्य (प्रेम-सत्य, शिव और सुन्दर की ओर सात्विक प्रवृत्ति) बोध की क्षमता प्राप्त कर सकती है जो ललित कलाओं (काव्यादि) का प्राण है। प्रेम में वृद्धि, दृढता, बिमलता और रहस्यमयी नम्रता वियोगावस्था में ही होती है किन्तु, वियोग के लिये यह कोई आवश्यक शर्त नहीं हो सकती कि, वह संयोगावस्था के अनुभव रखता है अथवा नहीं ? अयोग वियोग ही तो है। जो भी व्यवहार एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में संयोगान्तर वियोग को ही वियोग मानते हों। वियोग में वेदना का वार्द्धक्य एक विशेष वृत्ति उत्पन्न कर देता है जो मीठी २ कसक के साथ हृदय में रस की अनुभूति कराता है। वाणी के साहचर्य से अन्तर जगत से बाह्य जगत में जो वेदना फूट पड़ती है वही तो काव्य है। तभी तो हमारे प्रख्यात कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त एक स्थल पर कह उठते हैं।

"वियोगी होगा पहला कवि;
आह से उपजा होगा ज्ञान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।।'

इस को लोकोत्तर आनन्द कहा है।

लोकोत्तर सुख को अतीन्द्रिय सुख भी कहते हैं और उसकी अनुभूति सात्विक, शुद्ध, पवित्र एवं विकार हीन होती है। सुख का सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं है। उसका अनुभव तो हृदय से ही होता है और इसीलिये आत्यन्तिक (रस) सुख की अनुभूति बुद्धि और इन्द्रियों से परे है— "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।" चाहे वह गद्य काव्य हो अथवा पद्य काव्य।

रसों का सब से अधिक समावेश साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा काव्य में अधिक है। चाहे वह गद्य काव्य हो चाहे पद्य काव्य। सभी रसों का यों तो अपने २ स्थान पर पर्याप्त मूल्य है, (हास्य के स्थान पर रौद्र उपयुक्त नहीं हो सकता) फिर भी रसों का उद्गम जिस आदि शक्ति करुणा से हुआ है, वही करुण रस रस-राज हो सकता है। रस (प्रेम) को धोखा देने वाला शृंगार नहीं। क्रौञ्चवध से उठे हुए शोक ने ही वाल्मीकि के द्वारा काव्य का आविर्भाव करा दिया। उनके मुख से विवशता से निकल पड़ा:—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधी काम मोहितम्।।

हे निषाद ? तुझे अनन्त काल तक प्रतिष्ठा प्राप्त न होगी; क्योंकि तूने काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को मार डाला है।

बधिक ने दयनीय अवस्था उपस्थित कर दी थी; कवि द्रवित हो गया और हृदय के करुणामय सन्देश को जगती के सम्मुख शब्द चित्रों में रख दिया। क्रौञ्च पक्षी का मिलन कविता को जन्म नहीं दे सका था। पक्षी की फड़-फड़ाहट मची वेदना करुणा ने काव्य को मूर्त रूप दे दिया। पक्षी की व्याकुलता से कवि को यहाँ तक सहानुभूति हो गई कि वे अनन्त काल के लिये निषाद को यश से वंचित रहने का जीवन का अभिशाप दे बैठे। इसी एक मनोवैज्ञानिक पहलू के आधार पर सत्य के प्रति आस्था और सहानुभूति तथा अन्याय एवं अत्याचार के प्रति घृणा मूलक भावनाएं पैदा हो जाती हैं।

रीति काल में शृंगार को रस-राज करार दे दिया गया, किन्तु जब देखा कि काव्य के मूल (करुणा-वियोग की करुणा) को ही इसमें सम्मिलित न करेंगे तो यह रस राज कैसे होगा ? इसलिये विप्रलंभ को भी शृङ्गार में सम्मिलित करना पड़ा। हमारी पतनावस्था का यही मूल था, क्योंकि हम अपने भोग विलासों को आदर्श एवं त्याग का जामा पहिनाने को तैयार हो गये थे। भोगों के प्रसाद स्वरूप पराधीनता, देश की सत्वृत्तियों का नाश एवं जीवन जाति की विशृङ्खलता हमारे यहाँ जड़ जमा बैठी। हजारों जातियाँ बन गईं। व्यर्थ ही फूट के बीज पैदा कर आपस में लड़ते रहे। ऐसी अवस्था में रचनात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्ति कैसे होती ? हम तो स्वयं ही नष्ट होकर राष्ट्र को भी रसातल में भेज रहे थे। आज हम भूतकाल का सम्बल लेकर करुणा के द्वारा वर्त्तमान की हीनावस्था से आगे बढ़ रहे हैं। महाकवि भवभूति संसार को एक विभूति प्रदान कर गये हैं। उन्होंने कहा है—"एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्"

उत्तर रामचरित अंक ३ श्लोक ४७। रस तो एक ही है—करुण, किन्तु, निमित्त भेद (आलम्बन) और पृथक्-पृथक् आश्रयों के कारण वह भिन्न २ रसों में परिवर्तित कर दिया जाता है।

ईश्वर प्रेम (करुणा) से प्राप्त होता है तभी हम उसको करुणा सिन्धु और करुणावतार के रूप में जानते हैं शृङ्गार के प्रतीक के रूप में नहीं। कामदेव के अतिरिक्त और किसी भी देवता ने शृङ्गार का प्रतिनिधि बनना स्वीकार नहीं किया। करुणा का अवतार ही हमारा कल्याण कर सकता है, तभी तो हम अपने दुःख निवारण के लिये प्रभु से प्रार्थना कर बैठते हैं:—"कर्पूर गौरं करुणावतारम्"

करुण रस के आलम्बन वे प्राणी होते हैं जो सच्चे हैं, दीन हैं, निर्मल हृदय के हैं, निष्पाप हैं, आदर्श हैं, और जगती की सहानुभूति के पात्र हैं। करुण के चरित्र-नायक शृङ्गार की भाँति भोगी, मायावी, आडम्बर युक्त, पूँजीपति एवं बोझिल हृदय के वे प्राणी नहीं होते जिनको संसार का कोई सत्य ज्ञान नहीं। शृङ्गार और करुण रस की तुलना नहीं हो सकती। यदि शृंगार योगमय जगत है तो करुण त्यागमय विमल स्वर्ग। शृङ्गार आडम्बर है तो करुण निश्छलता। शृङ्गार जितना ही निम्न, करुण उतना ही उच्च। (शृंगार में भी त्याग हो सकता है। —सं०)

पाश्चात्य जातियों की अभिरुचि के अनुसार भी काव्य का सर्वस्व करुण रस ही है Our sweetest songs are those, that tell of saddest throught शैली। हमारे मधुरतम गीत वे ही हैं जो गम्भीर करुणा के विचारों की अभिव्यञ्जना करते हैं।

करुण रस की उत्पत्ति केवल शोक से ही नहीं होती; फिर भी काव्य में तो दुःख के कारणों से भी सुख ही मिलता है, तभी तो मीठी पीड़ा, मधुर कसक, मृदु वेदना आदि शब्द काव्य में एक विशेष स्थान रखते हैं। मानव-हृदय की आन्तरिक सत्य एवं मृदु वृत्ति कुछ ऐसे ही शब्दों द्वारा प्रकट होती है। ऐसे भाव जिनको प्रकट करने के लिये कोई शब्द नहीं होते, जहाँ बुद्धि विवश हो जाती है, जिन भावों की कोई परिभाषा नहीं वे मानव-मन से इसी प्रकार उद्भूत होकर हृदय की तारतम्य वेदना शक्ति का सहानुभूति पूर्ण आदान-प्रदान करते हैं। दुख-प्रदर्शन की एक अवस्था ऐसी भी होती है जहाँ कभी तो उमड़ते एवं सिसकते हुए हृदय से अश्रु-धारा बहती है और कभी शुष्क हृदय की तीव्र शोकाग्नि मुख पटल पर झलकती रहती है। जहाँ कहीं अत्याचार एवं अन्याय होता है वहाँ हम तुरन्त दुखियों का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं यह भी हृदय की एक निर्मल एवं स्वाभाविक वृत्ति है।

ईसा के जन्म से लगभग ३५० वर्ष पूर्व विख्यात दार्शनिक कवि अरस्तू ने यूनान के काव्य शास्त्रियों को यह बतलाया था कि "दुखान्त नाटक ही काव्य रचना का सर्वोत्कृष्ट रूप है।"

हमारा भक्त-समाज भोग-जन्य सुख को तिलाञ्जलि देकर दुख का बरदान माँगता है—

सुख के माथे सिलि परो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी बा दुख की जो पल-पल नाम रटाय॥

पीड़ा स्मृति बनकर मस्तिष्क में संकलित होती रहती है, बाद में वह हृदय में कसकने लगती है और समय आने पर वह आँसू के द्वारा अथवा वाणी के द्वारा काव्य के रूप में फूट निकलती है; अतः सबसे उत्तम कोटि का काव्य है वही जो मानव-हृदय को रुला दे।

दुख-जन्य काव्य में कृत्रिमता शब्दों का आडम्बर नहीं होता। उसमें प्रसाद गुण होता है, भाषा सीधी और मर्म-स्पर्शी होती है, किन्तु इन सब बातों का अनुभव उदार और निर्मल हृदय ही कर सकते हैं। जैसे प्रकाश की किरणें सभी अंगो का स्पर्श करती हैं, परन्तु उनका बोध तो केवल नेत्रों को ही होता है। कवि की छबि उसकी आँखों में बसती है जिसका सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है। कवि जहाँ कहीं देखता है हृदय से देखता है।

करुण रस शोषित, दीन एवं पतितों का साथ देता है तो शृंगार विलास-प्रिय, शोषक एवं अत्याचारियों का। और यही कारण है कि राज्याश्रय में रहने वाले अधिकांश कवियों ने शृंगार रस की ही रचना की। स्वतन्त्र कवियों

ने तो करुणाश्रय ही लिया। जहाँ शृंगार में चपलता, आकुलता और असन्तोष उत्पन्न होता है—ऐसा असन्तोष जो किसी का सर्वनाश किये बिना नहीं मानता—वहाँ करुणा में स्थिरता, डटकर मुकाबला करना (सत्याग्रह) सन्तोष, आत्माभिमान और कर्तृत्व शक्ति पैदा होती है जो प्रकृति के भी अनुकूल है। करुणा का अर्थ नैराश्य अथवा निकम्मापन कदापि नहीं है।

शृंगार मदिर है, करुण प्रमाद पैदा नहीं करता। शृंगार में कोई ठोस रचनात्मक कार्य नहीं होते (बल्कि व्यर्थ के ही काम होते हैं) भगवान भी तो करुणा सिन्धु ही हैं, तभी तो सुदामा की दीन-दशा पर 'करुणा करिके करुणानिधि रोये' और दो लोक का निधि अर्पण करदी। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में क्या गाया? भला कौन ऐसा है जो अपने आपको नीच कह सके, इतने बड़े संसार में अपनी तुच्छ स्थिति का भान कराने वाला कौन है? करुण रस ही तो। तुलसीदासजी गा उठे—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

करुणा का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसकी एक सीमा भी है, किन्तु, आज कल्पना ने उसका मूल्य घटा दिया है। करुणा का प्रकट एवं प्रच्छन्न रूप तो विद्यमान है ही, केवल स्वीकृति नहीं मिलने से किसी का अस्तित्व नहीं मिट जाता। करुणा का जीवन के साथ सामञ्जस्य है और जब मानव को कहीं सहारा नहीं मिलता तो आश्रय का यही एक स्थान बच जाता है। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद ने कहा था—"जीवन से सामञ्जस्य बनाये रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ घटती-बढ़ती रहती है।"

करुण रस के कारण हमारी प्रवृत्ति सत् की ओर उन्मुख हो उठती है और असत् की ओर घृणामूलक भावनाएँ। हम नितान्त गम्भीर भावों से अभिभूत हो जाते हैं और अपने आप को भूल जाते हैं जब कि हम करुणा-सागर में गोते लगाते हैं। हम कह सकते हैं कि भवभूति के काल में देश और साहित्य की वैसी बुरी अवस्था नहीं रही होगी जैसी कि, रीति-काल (शृंगार) में। हमें यदि युग-निर्माण की महत्वाकांक्षा है तो, करुणा, सत्य अहिंसा को प्रधानता देनी ही होगी। भोग-प्रधान (भौतिकवादी) यूरोप यदि शृंगार को रस-राज ठहराता तो एक बात अलग थी; किन्तु त्याग-प्रधान संस्कृत राष्ट्र (भारत) शृङ्गार को रस-राज ठहराता—क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? यहाँ तो ऋषि-मुनि और साधारण जनता तक का उद्देश्य 'सादा जीवन और ऊँचे विचार' रहा है। यूरोप की भाँति शृंगार को जीवन में प्रधानता देकर हम जगती को भोगाभिमुख क्यों करें? भोगों की प्रधानता के कारण ही तो आज यह विश्व-युद्ध हो रहा है। हमें वीर रस का वह रूप भी जगत के सामने खड़ा नहीं करना है जिसमें एक-दूसरे को हेय समझ कर संघर्ष के बीज वपन किये जाते हैं। सत् की ओर प्रवृत्त होने के लिये साहस-बुद्धि अभीष्ट हो सकती है; किन्तु वीभत्स को प्रोत्साहन देकर हमें संसार के हृदय पर भय का सिक्का थोड़े ही जमाना है। भयानक रस का हम क्यों प्रयोग करें? यह तो कायरों का शस्त्र है। शान्त को लेकर भी हम कहाँ जाएँगे—जब कि हम गुलाम, नंगे-भूखे और शोषित हैं। हमें तो दुनिया को ईसा, बुद्ध, मुहम्मद और गान्धी की भाँति करुणा का वह सन्देश सुनाना है जिससे जगत परम पावन हो जाए और जगद्गुरु का हमारा प्राचीन स्थान हमें फिर से प्राप्त हो जाए।

सन्त-साहित्य का युग

प्रो० धर्मेन्द्र एम० ए०, पटना कालिज

[भाषा और शैली पर विचार करने से यह लेख शिथिल, और रेडियो की हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दुस्तानी एकेडेमी की हिन्दुस्तानी की ओर अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके निर्णय ठीक हैं। राजनैतिक स्थिति पर इसमें काफी प्रकाश डाला गया है; पर तत्कालीन, सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर बहुत ही कम प्रकाश डाला गया है। सन्त-साहित्य के, युग का सम्बन्ध धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के अत्यधिक निकट है। 'अकबर की कीर्ति प्रेम और विश्वास की भित्ति पर खड़ी थी' यह वाक्य ऐतिहासिक तथ्यों के सर्वथा विरुद्ध है। इस लेख में कहीं-कहीं पर अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है। —सम्पादक]

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में 'निर्गुण' भक्ति धारा के प्रमुख प्रवर्तकों में निम्नलिखित उल्लेख्य हैं—

संख्या	प्रवर्तक	पंथ	प्रचार-काल (ई० स०)	प्रचार-क्षेत्र
१	कबीर	कबीर पन्थ	१४५०	पूर्वीय यू० पी०
२	नानक	सिख पन्थ	१५७०	पंजाब
३	दादू	दादू पन्थ	१६८०	राजस्थान और गुजरात
४	जगजीवन	सतनामी पन्थ	१६२५	दिल्ली
५	बाबालाल	बाबा लाली पन्थ	१६५०	पंजाब
६	दरियासाहब (बिहार वाले)	दरिया पन्थ	१७००	बिहार
७	शिवनारायण	शिवनारायणी पन्थ	१७२५	पूर्वीय यू० पी०
८	भीखा	भीखा पन्थ	१७५०	पूर्वीय.यू० पी०
९	पलटू	पलटूदासी पन्थ	१७७५	पश्चिमीय यू० पी०
१०	तुलसी	आवापन्थ	१८२५-५०	पश्चिमीय यू० पी०

उपरिलिखित तालिका के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

१—संतमत की प्रचार-भूमि मुख्यतः यू० पी० रही है; किन्तु बिहार, दिल्ली, पंजाब और राजस्थान में भी इस मत के प्रवर्त्तकों को उपयुक्त क्षेत्र मिला।

२—संतमत के विकास का क्रम ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चलता रहा—लगभग चार शताब्दियों तक।

इसके बाद स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारकों का आविर्भाव हुआ। यद्यपि इनके सुधारवादी विचारों की भी मूलभूत प्रेरणाएँ लगभग वे ही थीं, जिन्होंने कबीर आदि संतों के हृदय प्रदेश में क्रान्ति की चिनगारियाँ सुलगाई थीं, फिर भी इन्हें उन सन्तों की कोटि में नहीं रखा जायगा, क्योंकि ये मध्य युग की सीमा को पार कर चुके थे और वे मध्य युग की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते थे।

प्रस्तुत लेख में सन्तकाल के राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठाधार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्ष्य है। सन्त साहित्य के युग की चार शताब्दियों पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं तो जो बात सर्व प्रथम ध्यान में आती है वह यह है कि यह युग तुर्क-अफगान राज्य के सूर्यास्त से आरम्भ होता है और मुगल सल्तनत के सूर्यास्त के समय में अन्त होता है; अथवा, दूसरे शब्दों में, मुगल राज्य के सूर्योदय से शुरू होकर ब्रिटिश राज्य के सूर्योदय के समय खत्म हो जाता है। तात्पर्य यह कि सन्त साहित्य के क्रमविकास के साथ भारतीय राजनैतिक इतिहास का भी एक महत्वपूर्ण पन्ना जुड़ा हुआ है। अब देखना यह है कि सन्तसाहित्य की यह राजनैतिक पृष्ठभूमि कैसी थी और इस साहित्य पर इस पृष्ठभूमि का कैसा प्रतिफलन पड़ा।

सन्तयुग भारत के लिए, मुख्यतः उत्तरीय भारत के लिये, संघर्ष का युग था। भारत में जब इस्लाम ने प्रवेश करना चाहा तो आरम्भ से ही उसके हाथ में तलवार थी। किसी ने हास्य से 'धर्म' की व्युत्पत्ति की थी—'धर मारय-तीति धर्मः'। इस्लाम यदि आरम्भ के आक्रमणकारियों के लिए धर्म था तो इसी अर्थ में। सन् ७१२ ई०में मुहम्मद-बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया, ६६० ई० के लगभग सुबुक्तगीन ने चढ़ाई की; और सन् १००० में महमूद गजनी ने जब १८ बार भारत पर आक्रमण किये और मनमाने लूटखसोट; अत्याचार और लोमहर्षक रक्तपात किये तो अहिंसाप्रिय 'सभ्य' भारत थर्रा गया। पौने दो सौ वर्षों बाद मुहम्मदी गोरी ने सन् ११७६ से सन् ११६३—लगभग बीस वर्षों तक मुल्तान, गुजरात, लाहौर, थानेश्वर आदि अनेकानेक स्थानों को ध्वस्त-विध्वस्त किया। पृथ्वीराज ने हिन्दुओं की ओर से लोहा लेना जरूर चाहा और एक बार विजयी भी हुआ, किन्तु दुबारा, अर्थात् ११६३ ई० में, वह पराजित हुआ। पृथ्वीराज की हार ही वस्तुतः वह विन्दु है, जहाँ से मुसलमानी सल्तनत का सूत्रपात होता है; क्योंकि गोरी ने भारत से लौटते वक्त अपने गुलाम कुतुबुद्दीन को यहाँ के विजित प्रदेश सौंप दिए। इसी गुलाम ने मध्य युग में हिन्दुस्तान को बाआन्तः गुलाम बनाया और तुर्क-अफगान बादशाहत का पहला अध्याय गुलाम-वंश के द्वारा लिखा गया।

तुर्क-अफगान-युग हिन्दुओं के लिए महान् संकट का युग था, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में बर्बता का बाजार गर्म था। अपने राज्यकाल में हिन्दू राजकन्याओं अथवा रानियों के प्रति जिस कामुक वृत्ति का परिचय दिया था उसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में अभी भी वह चिता धू-धू करती जलती हुई दीख रही है जिसकी ज्वाला को पद्मावती सहित सहस्राधिक चित्तौरगढ़ की ललनाओं ने हँसते-हँसते चूम लिया और सती होगईं। लगभग सौ वर्षों बाद अर्थात् सन् १३६८ में लंगड़े तातार खूँखार तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

अपने कैदियों की संख्या जब उसे एक लाख से भी बढ़ती नजर आई तब उसने हुक्म दिया कि पन्द्रह वर्ष से अधिक उम्र वाले सभी कैदी कत्ल कर दिये जायँ।

क्रमशः तुर्क-अफगान-राज्य का सितारा डूबा और सन् १५२६ में, पानीपत की पहली लड़ाई के फलस्वरूप, बाबर के हाथों मुगल-साम्राज्य की नींव पड़ी। मुगलों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना होगा कि वे हिन्दू-प्रजा पर राज्य करना चाहते थे, केवल पाशविक अत्याचार नहीं। बल्कि अकबर की नीति तो परस्पर प्रेम और विश्वास की ही भित्ति पर खड़ी थी, स्वयं अकबर का अम्बेर की राजकन्या से विवाह, कुमार सलीम का जोधपुर की राजकुमारी के साथ परिणय, राजा मानसिंह की बंगाल की अध्यक्षता, धार्मिक क्षेत्र में 'दीनइलाही' की कल्पना आदि—ये बातें अकबर की लोकप्रियता और उदारता का असंदिग्ध परिचय देती हैं। मुगल राज्य का पतन वस्तुतः औरङ्गजेब के राजत्वकाल से आरम्भ होता है। १६५६ से १७०१ तक लगभग पचास वर्षों में धर्मान्ध औरंगजेब ने हिन्दुओं का सद्भाव बिल्कुल खो डाला; हिन्दू होने के नाते टैक्स, काफिर होने के नाते अत्याचार, मूर्तिपूजक होने के नाते देवालय भञ्जन, इस्लाम नहीं ग्रहण करने के लिये प्राणदण्ड, ये सब ही यातनाएँ हिन्दुओं को सहनी पड़ीं। फलतः महाराष्ट्र, पञ्जाब, बुन्देलखंड, राजस्थान सर्वत्र विप्लव की दाहामि

भड़क उठी। निर्गुण मतवाद की दृष्टि से नारनौल के सतनामियों का विप्लव भी औरङ्गजेब के राज्यकाल को कलंकित करता है।XXX क्रमशः मुगलसाम्राज्य की श्मशान-भूमि ब्रिटिश साम्राज्य की जन्मभूमि और क्रीड़ाभूमि साबित हुई। पश्चिमीय सभ्यता और शासन की किरणें भारत की पूर्वीय क्षितिज पर फूट पड़ीं। सन् १७५७ ई० में सिराजुद्दौला पलासी की लड़ाई में पराजित हुआ और अंगरेजी राज्य की विजय वैजयन्ती सोल्लास फहराने लगी। धीरे-धीरे बंगाल, बिहार, उड़ीसा—तीनों की दीवानी ईस्ट-इंडिया कम्पनी के हाथों आगई। फिर तो भारत के अन्य भाग भी निसर्ग भाग मान कर मिला लिए गये। ठीक सौ वर्षों के बाद सन् १८५७ ई० में भारत में वह राजनैतिक भूकम्प हुआ जो 'सत्तावन का गदर' के नाम से मशहूर है। इस घटना से ब्रिटिश साम्राज्य को एक जोर का धक्का लगा; लेकिन धक्का खाकर ऊँघता हुआ शेर जागरूक होगया और अकड़ कर बैठ गया। सन् १८५७ ई० को हम वह सीमान्त रेखा मान सकते हैं जो न कि राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी। हम उसे वह विभाजक लकीर समझें, जो 'मध्ययुग' का अन्त करती है और नवयुग का शंखाह्वान करती है। प्रस्तुत निबन्ध की दृष्टि से हम उसे सन्त-साहित्य के विस्तार का अन्तिम छोर मानेंगे, क्योंकि उसका स्रोत वहाँ चल कर सूख-सा जाता है।

सन्त मत के विस्तारकाल की चार शताब्दियों के इस ऐतिहासिक सिंहावलोकन से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण भावधारा के प्रसार का युग संघर्ष का युग था। राजनीतिक क्षेत्र में यह संघर्ष त्रैकोणिक था—पठानों का मुगलों से मुगलों का अंगरेजों से, हिन्दुओं का अहिन्दुओं (पठान, मुगल, अंगरेज) से। धार्मिक क्षेत्र में भी एक दूसरा त्रैकोणिक द्वन्द चल रहा था—मुसलमान मुसलमान (शिया-सुन्नी) से, मुसलमान हिन्दू से, और हिन्दू हिन्दू (शैव-वैष्णव, निर्गुण-सगुण आदि) से झगड़ रहे थे, सामाजिक क्षेत्र में भी यही हालत थी—मुसलमान मुसलमान (कुलीन, अकुलीन) से, हिन्दू मुसलमान से और हिन्दू हिन्दू (उच्च वर्ण-नीच वर्ण) से—

राजनीतिक क्षेत्र में—पठान मुगल
मुगल-अंगरेज, हिन्दू-अहिन्दू।
धार्मिक क्षेत्र में—मुसलमान-मुसलमान
मुसलमान-हिन्दू, हिन्दू-हिन्दू।
सामाजिक क्षेत्र में—मुसलमान मुसलमान,
मुसलमान हिन्दू, हिन्दू-हिन्दू।

संघर्ष के इस विषमय वातावरण में सब से अधिक आवश्यकता थी ऐसे संतों की जो सार्वभौम प्रेम का संगीत सुनावें; भ्रातृ-भावना का अलख जगावें और प्रेम की पयस्विनी को प्रवाहित करें। यही था युग का तकाजा और इसी तकाजे को सुनकर कबीर, नानक, दादू, मलूक, भीखा, पलटू, जग-जीवन, दरिया, तुलसी—सबों ने अपना प्रधान लक्ष्य बनाया धार्मिक विद्वेष भावना का निराकरण, हिन्दू-मुसलमानों की एकता, और उनके उपास्य देवों राम और रहीम की अभिन्नता। इस लक्ष्य के बाधक जो पाखंड-जात-पाँत, तीर्थ-व्रत, रोजा-एकादशी, आदि सामाजिक अथवा धार्मिक ढकोसले—उन्हें प्रतीत हुए उन सबों के विरुद्ध इन संतों ने अपनी आवाज उठाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही होना भी था। बिहार, यू. पी., पंजाब, और राजस्थान—ये प्रदेश संतमत के लिए उपयुक्त क्षेत्र इसी कारण बने कि जिस संघर्ष की रूप रेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है उसने इन्हीं में अपना उग्रतर रूप धारण किया। उसके तांडव-नृत्य यहीं हुए। अतः इस संघर्ष को सम्पर्क में रूपान्तरित करने के लक्ष्य से कबीर ने घोषित किया—

"ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सु पंडित होय।"

कबीर आदि संतों की चर्चा करते हुए हम कुतुबन, मंझन और जायसी को भी भूल नहीं सकते। जिस प्रेम के अमर संदेश को कबीर, दादू और दरिया ने बुद्धि के स्तर पर सुनाया उसको गाया जायसी ने भी, किन्तु भावुकता के स्तर पर, दृष्टि एक ही थी, कोण अलग थे; युग का प्रतिनिधित्व दोनों कोटि के कवियों ने समान रूप से गाया।

बच्चन : कल, आज और कल

श्री सुधीन्द्र एम० ए०

मैं थिर होकर कैसे बैठूँ
जब हो उठते हैं पाँव चपल,
मैं मौन खड़ी किस भांति रमी
जब हैं बज उठते पग-पायल।
जब मधु घट के आधार बने
कर क्यों न झुके, झूमें, घूमें,
किस भाँति रहूँ मैं मुख मूँदे
जब उड़ उड़ जाता है अंचल।
मैं नाच रही मदिरालय में
मैं और नहीं कुछ कर सकती।
है आज गया कोई मेरे,
तन में प्राणों में यौवन भर,
है आज भरा जीवन मुझ में
है आज भरी मेरी गागर!
—(मधु कलश)

बच्चन की इन पंक्तियों में बच्चन के काव्य की मूल प्रेरणा ही बोल रही है। ईरान के ज्योतिर्विद कवि उमर-खैयाम की मस्ती भरी रुबाइयों ने 'बच्चन' पर ऐसा मदिर प्रभाव डाला है कि उनकी कविता पूरी तन्मयता के साथ उसी के रूप (रुबाई-पद्धति) और रङ्ग (मस्ती की भावना) में डूब गई। और जब कवि हिन्दी जगत् में 'मधुशाला' सजाकर आया तो एक प्रभात में 'बच्चन' ने देखा कि मैं प्रसिद्ध हो गया हूँ।

उमरखैयाम ने शराब, साकी, सागिर, मीना, पैमाना (प्याला) और मस्ती के प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक मदिरा (प्रेम) की अनूठी व्यंजना की थी। वह एक मर्मी सूफी था। उसका इश्क 'इश्क हकीकी' था, उसकी मदिरा आध्यात्मिक प्रेम की मदिरा थी—जिसका पान सूफी सन्तों ने किया है। उनकी रुबाइयाँ विश्व के अमर काव्यों में गिनी जाती हैं, ऐसे काव्य देश की सीमा पार कर सार्वभौम हो जाते हैं। अँग्रेज कवि फ़िट्ज जिराल्ड ने उसे अँग्रेजी भाषा के प्याले में उंड़ेला, मैथिलीशरण गुप्त और केशवप्रसाद पाठक ने हिन्दी-भारती के कलश में। पंडित गिरधर शर्मा 'नवरत्न' ने तो उसे देव-वाणी (संस्कृत) और राष्ट्रवाणी (हिन्दी) दोनों में अवतरित किया। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'मादक प्याला' और श्री रघुवंशलाल गुप्त ने 'उमरखैयाम की रुबाइयाँ' नाम से अनुवाद किया है। सुना है बँगला और उर्दू में भी इसके अनुवाद हो चुके हैं। बच्चन ने भी इसे अपने काव्य चषक में भर दिया।

फिट्ज जिराल्ड की कविता ने तो उमरखयाम को पूर्व से भी अधिक पश्चिम में प्रसिद्ध किया है। मैथिली बाबू का छन्द धीर गंभर गति से बहनेवाला 'वीर' (यातोटक) है, केशवप्रसाद पाठक तथा रघुवंशलाल गुप्त के भी छन्द यही हैं—वही एक-सी एक राग (Monotonous) तान। गुप्त का अनुवाद तो हम समझते हैं व्यर्थ ही हुआ, गुप्तजी का अनुवाद श्रेष्ठ है, कहीं-कहीं पाठकजी का अनुवाद श्रेष्ठ तर हो गया है। 'बच्चन' और इन दूसरों के अनुवादों में श्रेष्ठता का निर्णय करना कठिन है। 'बच्चन' के छन्द में गीतिमय गति और चपल तरलता है; परन्तु, भाव व्यंजना में कहीं-कहीं पाठक और गुप्तजी ही आगे हैं। खैयाम की एक प्रसिद्ध रुबाई 'बच्चन' के काव्य में इस प्रकार ढली है।

घनी सिर पर तरुवर की डाल,
हरी पाँवों के नीचे घास।
बगल में मधु-मदिरा का पात्र,
सामने रोटी के दो ग्रास।
सरस कविता की पुस्तक हाथ,
और सबके ऊपर तुम प्राण!

गा रही छेड़ सुरीली तान,
मुझे अब मरु, नन्दन उद्यान।[1]

इसका रचना काल १६३३ ई० है।

'मधुशाला' (१६३३-३४ ई०)

परन्तु 'बच्चन' हिन्दी में अनुवादक के रूप में ही नहीं अपनी 'मधुशाला' के मालिक के रूप में भी आये। राष्ट्र-वाणी के चौराहे पर बैठ कर जब उन्होंने पुकार लगाई—

भावुकता अंगूरलता से
खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साक़ी आया
भर कर कविता का प्याला,
कभी न कण भर खाली होगा
लाख पियें, दो लाख पियें!
पाठकगण हैं पीने वाले
पुस्तक मेरी मधुशाला।

तो लोग आ-आकर चारों ओर जमा हो गए और बच्चन के साथ झूमने लगे। उन दिनों जब 'बच्चन' अपनी 'मधुशाला' सुनाया करते थे, तब पानी से भरा गिलास हाथ में लेकर किसी काल्पनिक छाया रूपिणी साक़ी की ओर मदिर पुतलियों और उद्भ्रान्त मुद्रा से निहारते हुए मदोमत्त मद्यपी की भाँति झूमने का अभिनय भी किया करते थे। अपनी उस हाला के रंग में जो उन्हें 'उमर' से मिली थी—

['मय' को करके शुद्ध दिया है
नाम गया उसको 'हाला',
'मीना' को 'मधुपात्र' दिया,
'सागर' को नाम दिया प्याला,
× × ×
'मय-महफिल' अब अपनाली है
मैंने करके 'मधुशाला']

वे भीतर और बाहर रंगे हुए थे (और आज जब सुनते हैं कि उस समय तक तो अंगूरों से खींची हुई सुरा का स्वाद भी उन्होंने नहीं लिया था, तो अचरज होता है!) स्पष्ट है कि मधुशाला के हाला, और प्याला, सुराही (कलश) साक़ीवाला आदि दूसरे उपकरण सांकेतिक थे, प्रतीकात्मक थे। फिर भी हाला (शराब) के साथ जो विशिष्ट (अर्थात् अनिष्ट) संस्कृति जुड़ी हुई है—उस विदेशी संस्कृति को अपनी हिन्दी कविता में भी अधिकार जमाते देख कर भारतीय संस्कृति के उपासकों ने भृकुटि भंग किया। बेचारे बच्चन को गालियाँ भी सुननी पड़ीं और स्वाभाविक मस्ती की भावधारा को तोड़ कर जैसे अपने गले की फांसी छुड़ाने के लिए ही कहना पड़ा—

वह हाला कर शान्त सके जो
मेरे अन्तर की ज्वाला।
जिसकी मैं विंवित प्रतिविम्बित
प्रतिपल मेरा वह प्याला।
मधुशाला वह नहीं जहाँ पर,
मदिरा बेची जाती है।
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती
मेरी तो वह मधुशाला।

हाला को मधु की मधुर संज्ञा देकर उन्होंने जिस अर्थ की व्यञ्जना उसमें भर दी और फिर मधुशाला के अन्तराल में जो नाटकीय दृश्य भर दिये उससे पहले और शीघ्र ही मधुशाला ने हिन्दी में जादू कर दिया। मधुशाला घर-घर में गाई जाने लगी, बच्चन घर-घर के कवि बन गये।

१—श्री मैथिलीशरण गुप्त का अनुवाद—

इस तरु तले कहीं खाने को
रोटी का टुकड़ा हो एक।
पीने को मधु पात्र पूर्ण हो
करने को हो काव्य-विवेक।
तिस पर इस सन्नाटे में तुम
बैठ बगल में गाती हो।
तो मेरे इस विजन विपिन में
स्वर्ग-राज्य का हो अभिषेक!

श्री फिजरल्ड का अनुवाद—

"Here with a loaf of bread beneath the bough,
with a flask of wine, a Book of verse & thou,
Singing in the wilderness
and wildness is Paradise enow!

मधुशाला का जादू सब के सिर पर ऐसा चढ़कर बोला कि 'मधुशाला' के रूप (भाषा), रंग (भाव) और रेखा (भावव्यञ्जना) चुराकर उनकी अनुकृतियाँ (जिसमें विरोध और मौन स्वीकृति दोनों थे) दीशाला (रजन), विजयाशाला ( ), मदशाला (कृष्णचन्द्र), मधुशाला (चच्चन), बधशाला (विकल) और 'चरबीशाला' (शीला) और नई से नई कृति को भी गिन लें तो 'लठशाला' (एक राजस्थानी कवि) की प्रकट हुईं। 'बच्चन' नाम के तुक पर 'रजन' 'चच्चन' का अवतार हुआ। पर

'मधुबाला' '३४-३५

लिख कर कवि ने

मधु घट ले जब करती नर्तन,
मेरे नूपुर की छूम छनन
में लय होता जग का क्रन्दन—
भूला करता मानव जीवन
का क्षण क्षण बन कर मतवाला।

को यथार्थता दी। कवि मधु के रंग में ओत-प्रोत हो गया। प्रशंसकों से प्रोत्साहन पाकर वह मधुशाला के अंगों और अवयवों को खोलने-खिलाने लगा। मधुबाला की 'छून-छनन', 'ला-ला मदिरा, मदिरा ला-ला!' का शोर, प्यालों की कल-कल छल-छल, और 'भरो भरो, पियो पियो जियो जियो' की बोलियाँ सुनाई देने लगीं। मस्ती भरी ये कवितायें (या गीत) अपनी लय की नवीनता, भावों की व्यंजना के अनुरूप छन्द-सृष्टि और नाटकीय चित्र भाषा से काव्य में संगीत और संगीत में काव्य हैं। 'मधुशाला' के मधु, मधुपात्र, मधु-विक्रेता, मधुकलश और मधुबाला सभी प्रतीक 'मधुबाला' में सजीव होकर मुखरित और चपल हो रहे हैं। 'मधुबाला' का प्रत्येक पृष्ठ कवि के अनुपम जीवन का उल्लास-चपल, उन्माद-तरल चित्र है। लोगों की आपत्तियों पर कवि ने मधुशाला के रूपकों को स्पष्ट किया—

१—सृष्टि या पृथ्वी कवि की विराट मधुशाला है

था एक समय थी मधुशाला,
था मिट्टी का घट, था प्याला
थी किन्तु नहीं साकी बाला,
था बैठाठाला विक्रेता दे बंद कपाटों पर ताला,

तब उस घर के तम, भय और भ्रम मातम और ग़म को दूर करने ऊषा का दीप लिये सुषमा की मधुबाला उजियाला करती आई।

२—मृण्मय मानवशरीर (मिट्टी का तन,
मस्ती का मन वाला) प्याला है।

३—जीवन ही (उल्लास चपल,
उन्माद तरल) हाला है।

'पगध्वनि' में सुषमा की ओर संकेत है। बुलबुल तो कवि ही है—

क्रान्ति की जिह्वा बनकर आज
रही बुलबुल डालों पर डोल।

मधुशाला में कवि जितना अधिक स्पष्ट बना, उतना ही संशय का केन्द्र रहा। 'मधुबाला' में वह जितना ही गूढ़ रहा, उतना ही काव्य की ओर बढ़ा। संकेतात्मकता ही कविता है। काव्य का रस गूढ़ता में है। कवि के खुलने में पाठक को रस नहीं मिलता, गूढ़ रहने में आता है। तभी 'मधुशाला' में पाठकों ने उसे नहीं पहचाना 'मधुबाला' में उसे पहचाना। आनन्द या मस्ती जब कवि में होती है तो वह अपने जी की गाँठ नहीं खोल पाता—गूढ़ ही रहता है पर अनुभूतिगम्य हो जाता है। काव्य ब्रह्म की लीला विचित्र है।

'मधुशाला' का कैशोर मधुबाला में यौवन ग्रहण कर रहा है। 'मधुबाला' काल बच्चन को इन पंक्तियों में गा रहा है—

जिसको सुनकर जग झूम झुके लहराये
मैं मस्ती का सन्देश लिये फिरता हूँ।
अपना मस्ती का सन्देश

'मधुकलश'

में लिये कवि चल पड़ा; पर मित्र-शत्रु कहते ही गये—तुम्हारी कविता में वासना का पुट है। कवि ने उत्तर गाया—

सृष्टि के आरम्भ में मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्य वाले दीप्त भाल विशाल चूमे,

प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग चूमकर कैसे सुलाये,
तारिका कलि से सुसज्जित नव निशा के बाल चूमे
× × × ×
मृत्तिका की पुतलियों में
आज क्या अभिसार मेरा !
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

दुनियां को सन्तोष नहीं हुआ। उसने पूछा—कवि तुम रोने के गीत क्यों गाते हो ? कवि मानो फूट पड़ा—

क्या किया मैंने नहीं जो
कर चुका संसार अब तक ?
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छल रहित व्यवहार मेरा ?

कवि सुषमा का पुजारी है और उसके लिए सुषमा प्रकाश प्रेरक नहीं, उन्मादक नहीं, आत्मसात् करने वाली नहीं, आनन्द सञ्चारिणी शक्ति है। इस सुषमा निकुञ्ज में बैठे हुए कवि ने ललकारा—

मूढ़ो, मैंने अब तक उसको कभी नहीं सुषमा समझा,
जिसके निकट पहुंचते ही आनन्द नहीं मैंने पाया।

आनन्द ही मानों सुषमा की अंतिम परिभाषा है क्योंकि प्रकाश, उन्माद और आत्मविस्मृति अंततः 'आनन्द' में ही पर्यवसित होते हैं।

जीवन की निर्मम यथार्थताओं से लड़ने में पराजित मानव की निराशा को कवि ने स्वीकार किया—

किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीष पर मैं सह न पाया,
'आज-कल' अध्याय दो में पूर्ण लघु आख्यान मेरा !
—'मधुकलश' (कवि की निराशा)

विश्व की पीड़ा से परिचय पाने और पिघलने के लिए ही कवि स्वप्न लोकों के मधुर प्रलोभन छोड़ कर इस विश्व जीवन के सागर में डूबने के लिए आ गया है।

विश्व-पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघलने,
त्याग कर आया यहाँ कवि
स्वप्न-लोकों के प्रलोभन ?
तीर पर कैसे रुकूं मैं आज लहरों में निमंत्रण !
(लहरों का निमंत्रण)

आशा उसकी अजेय है, विश्वास उसका अमर है :

सिंधु के इस तीव्र हाहाकार ने, विश्वास मेरा,
है छिपा रक्खा कहीं पर एक रस परिपूर्ण गायन !

तम-पटल के पार कवि को रत्न-सीपी से निर्मित प्रासाद दिखाई देता है, जहाँ सिन्धु-बालाओं का अर्थ भरा गायन और नर्तन छिड़ा है, जिसे स्तब्ध गन्धर्व सुन रहे हैं, वाद्य-यन्त्र निस्पन्द है, अप्सराओं के भी पाँव अचल, देव-राज इन्द्र और उनकी देव-सभा उत्कर्ण और उन्नयन है ! देव बालाएँ ऊपर से फूल बरसा रही हैं। एक अद्भुत और अविचल चित्र !

कल्पना में जो स्वप्न स्वप्न ही रह जाते हैं, कवि उन्हें वस्तु-जीवन के सागर में डूब कर यथार्थ करना चाहता है, फिर 'उस पार' चाहे विभा मिले चाहे न मिले। 'उस पार' का वह संदेह अब 'बच्चन' में नहीं रह गया है—

इस पार प्रिये तुम हो, मधु है,
उस पार न जाने क्या होगा ?

हृदय में भीषण द्वन्द्व है, भीषण मन्थन है, आलोड़न है, विलोड़न है, निराशा और पराजय आशा और विजय का ज्वार-भाटा है; पीछे स्वजन रोकते हैं आगे लहरों का निमंत्रण है और इस डूबने वाले कवि की आशा अमर है।

डूबता मैं किन्तु उतराता सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबे भले ही है कभी डूबा न यौवन !

कितनी सहज स्वाभाविकता से ये अमर पंक्तियाँ फूट पड़ी हैं। इस लहरों के निमंत्रण में कवि ने मानव-हृदय को जीवन—जग-जीवन में उतरने का शाश्वत संदेश दिया है। ऐसी पंक्तियों में कवि 'बच्चन' अमर है।

कवि को लोगों ने 'हालावाद' में बांध दिया था, परन्तु उसका व्यक्तित्व हालावाद के घेरे से बाहर निकल आया है और वह अपनी शत-शत अनुभूतियों को वाणी देता हुआ निरन्तर अग्रसर है।

इन्हीं दिनों जब कवि 'मधुकलश' भर रहा था, कवि-पत्नी का महा प्रयाण हो गया और कवि ने अपने 'मधु-कलश' को 'दिवङ्गता देवी श्यामा की स्मृति में विशाल विश्व वृक्ष की डाल में चिरकाल तक बँधा' रहने के लिए लटका दिया और पत्नी की चिता के पास—ऐसा जान पड़ता है—धूनी रमाकर बैठे हुए कवि ने निशा को निमंत्रण दिया !

निशा-निमन्त्रण

के रूप में ही कवि के अतीत के शब्द—

राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधु गीत मैंने हो खड़े जीवन—समर में।

अभी अपनी यथार्थता खोज रहे थे। 'निशा निमन्त्रण' का 'विज्ञापन' कहता है—'अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक 'बच्चन' ने कुछ भी नहीं लिखा।' तब यों कहें कि एक आलोक-पुंज के डूब जाने के बाद कवि इन्द्र-धनुषी सन्ध्या के रंगों में अपने मन को भुलाता हुआ। एकाकीपन, सूनेपन की भावना को पीता रहा और वही कवि हृदय के रासायनिक की प्रक्रिया से आँसुओं के आसव में प्रकट होकर निकली। 'बच्चन' की इस नई शोक-नीति (rlegy) ने उसके 'हालावाद' का नाम शेष कर दिया !

'निशा निमन्त्रण' में कवि के मानस की शतशत वेदना की लहरें छोटी-छोटी गीतियों में फूट पड़ी हैं। दिन जीवन के कर्म क्षेत्र में खड़े होने की और अड़ने की प्रेरणा देता है, रात्रि हमें थक कर बैठ जाने के लिए आश्रय देती है। दिन भावना को वहिर्मुख करता है। रात्रि अन्तर्मुख रात्रि का पूर्वार्ध है सन्ध्या और पहले प्रहर—सिंहावलोकन के क्षण हैं, पिछले प्रहर नव जागरण के। दिन मानस को कर्मोन्मुख करता है, रात्रि मर्मोन्मुख। कल्पना कीजिए उस गायक की जो धूनी रमाये किसी की स्मृति की सन्ध्या में अपने एकतारे पर कविता की विहागरागिनी गा रहा हो। निशा-निमंत्रण के कवि का यह सच्चा चित्र होगा। आंखों के आगे अभी मनोरम क्षितिज की लाली है। एक गहरी कथा की छाया सी चारों ओर घिरती आ रही है—वह तूफ़ान से कम नहीं है। इसी में उसकी भावना की आँखों के आगे से एक 'छाया' भागती दिखाई देती है—

जग के विस्तृत अन्धकार में
जीवन के शत-शत विचार में,
हमें छोड़ कर चली गई लो,
दिन की मौन संगिनी छाया।

चारों ओर का सूनापन, जकड़ता हुआ निबिड़ अन्धकार, उसमें टिमटिमाते अंबर के तारों और दूर पर जलते हुए दीपक से हृदय में तिमिर अवसाद भरता जाता है। किसी का आश्वासन स्वर उसे नहीं भाता—

मौन रहो, मुख से मत बोलो,
अपना वह मधु-कोष न खोलो।
भय है कहीं हृदय के मेरे घाव न ये भर जाएँ।

एकान्त संगीत

(१९३८–३९ ई०)

'एकान्त संगीत' एकान्त में बजता हुआ इकतारा है। 'एकान्त संगीत' में संसार (७९, ८०, ९४) पक्षियों (१२, ५९), तारों (६०), रात (६१), बादल (६७), स्वर्गता पत्नी (४३), अपनी भूतपूर्व 'प्रेयसी' (१४), सम्भाव्य संगिनी (६५) को संबोधित गीतों को छोड़ कर शेष ९० गीत स्वगत ही हैं। इसीलिए 'एकान्त संगीत' 'अपने को ही समर्पित है। संघर्षों के थपेड़े खाकर जिसका जीवन ज्वार-भाटे सह रहा हो, जो चक्की पर चक्कर खाते-खाते जर्जर हो गया हो—ऐसे मर्त्य की नियति-प्रेरित सूनी घड़ियों की आगमनी बजाता हुआ कवि का इकतारा चल रहा है—

'इस चक्की पर खाते चक्कर
मेरा तन मन जीवन जर्जर,
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को
और न अब हैरान करो !'

अभाव ने कवि जीवन में जो अवसाद भर दिया है, वह यौवन की, जीवन की भूख बन कर चीखने लगा है। एक निबिड़ अतृप्ति से क्रन्दन हृदय में पीड़ा की तरह उठ कर मरोर खाकर, घुमड़कर, गूँजकर, मौन हो जाता है।

क्या मेरे उर के अन्दर ही
गूँज मिटा उर क्रन्दन मेरा ?
व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा ?

सारे तन पर जैसे किसी ने कफ़न-सा उढ़ा दिया हो और अपने ही हाथों आशाओं की चिता सँजोयी जा रही हो—

अपने पर मैं ही रोता हूँ
मैं अपनी चिता सँजोता हूँ,
जल जाऊँगा अपने कर से
रख अपने ऊपर अंगारे !

कवि अपने ही कोमल नीड़ों का सुख खोकर उड़ भागने वाले विरह की तरह है। वह मधु-पात्र मधुबाला और हाला भरे जीवन में भी अतृप्त हृदय ही है। निशा निमंत्रणों का स्वर कहीं-कहीं एकान्त स्वर में करुणतर हो गया है—

चाहता वह गीत गाना
सुन जिसे हो ख़ुश ज़माना,
किन्तु मेरे गीत मुझको ही रुला जाते निरन्तर !

क्योंकि उसकी आग अबुझ रह गई, जी अधीर रह गया। उर का प्याला प्यासा ही रह गया—

अपनी ही आग बुझा लेता
तो जी को धैर्य बँधा देता,
मधु का सागर लहराता था
लघु प्याला भी मैं भर न सका !

निशानिमंत्रण में कवि की विषाद की धारा Centripetal केन्द्राभिमुख हो गई थी, वह परिधि बन गया था जिसमें सृष्टि समागई थी। 'एकांत संगीत' में वह केन्द्रस्थ हो गया है अब उसे न कुछ दिखाई देता है, न उसे देखना है; भीतर ही भीतर अतीत की स्मृतियों में विह्वल हो जाता है। निशा-निमंत्रण में वह गा तो सकता था, एकांत संगीत नाम में संगीत होकर भी 'रुदन' अधिक है, उसमें अपना गान दूसरे के प्राणों तक पहुँचाने की प्रेरणा नहीं है, स्वयं ही चुपचाप सिसकने 'सिहरने' रोने और बिलखने की है। इस प्रकार यह शत रागिनियों का संगीत अपनी ही ज़िन्दगी का मर्सिया है। निशा-निमंत्रण में वह रोया था—एकांत संगीत की कविताएँ जैसे सुबकियाँ हों—बीच-बीच में ठंडी ठंडी लम्बी-लम्बी आहें भी आ जाती हैं—आँसू सूख चले हैं; आँसू पोंछकर जैसे कवि ने हुंकार भरा हो—

क्षत शीश मगर नतशीश नहीं !
चोटों से घबराऊँगा कब ?
दुनियां से भी जाना है जब—
निज हाथ हथौड़े से मैंने
निज वक्षस्थल पर चोट सही !

कवि लोहे के चने चबाने को भी तैयार हैं—

मधुबाला का राग नहीं अब,
अंगूरों का बाग नहीं अब,
अब लोहे के चने मिलेंगे दांतों को अजमाओ,

मधु के बदले विषपायी भी बनने को वह तैयार है—

मधु पीने वाले बहुतेरे,
और सुधा के भक्त घनेरे,
गज भर की छाती वाला ही,
विष को अपनाता है।

देखते-देखते प्रार्थना न करने का प्रण लेकर युद्धक्षेत्र में भुजबल दिखाने भी आ गया है—

झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
बंधे हाथ नत निष्प्रभ लोचन !
यह मनुष्य का चित्र नहीं है,
पशु का है 'रे कायर !
प्रार्थना मतकर, मतकर मतकर !

इस प्रकार कवि की विषाद की धारा पुनः परिधि की ओर बढ़ रही है।

आकुल अन्तर

में कवि Centrifugal परिधि-स्पर्शी हो गया है। मानव बहिर्मुख होकर अन्तर्मुख होता है और अन्तर्मुख होकर भी अपने को निरालम्ब पाकर अपने अन्तर के अवसाद को शेष सृष्टि को अवसाद में पर्यवसित कर देता है। 'आकुल अन्तर' का कवि इसी प्रगति की प्रक्रिया में है।

मधुबाला-मधुकलश के बच्चन की कविता उल्लास-

चपल, उन्माद तरल थी—पार्वतीय निर्झर की भाँति उसमें उद्दामवेग था, वासंतिक बात की भाँति मदिर उसकी भावना थी, 'निशा-निमंत्रण' में भी एको रसः करुणमेव' की स्थापना के अनुसार रस-दान वह करती है—'एकांत संगीत' से ही वह भावुकता का उत्संग छोड़ कर वस्तुवाद की कठोर भूमि पर पद-संचरण करने लगी है। जब पाँवों के आगे शिलाखण्ड आते हैं तो अदम्य वेग के साथ उछल पड़ती है जब समतल भूमि आती है तो धार गम्भीर गति से चलने लगती है, तब उसमें कंकड़ डालने से ही लहरी उठती है—धारा उसकी अन्तःशीला हो गई है : 'आकुल अन्तर' में आते-आते कवि चिन्तनोन्मुख हो गया है—हो नहीं गया है, परिस्थितियों के कठोर आघातों ने उसकी भावुकता छीन ली है। कभी वह गर्जन तर्जन करता है। कभी दैन्य प्रकट करता है, आँसू छलकाता है, कभी सिसकता है, कभी फिर भृकुटी-भंग करता है, कभी अपने को कोसता है, जीवन की विषमता से जीवन के प्रति सहज सरल विश्वास लुट गया है। लहरों से लड़ते-लड़ते बाहुएँ थक गई हैं किनारा खोज रही हैं, तूफानी झोंकों से जिसके पंख जर्जर हो गये हों उस आहत पक्षी की भांति नीड़ की ओर भगा रहा है वह। शरणास्थल खोज रहा है वह—

जीवन एक समर है सचमुच
पर इसके अतिरिक्त बहुत कुछ
योद्धा भी खोजा करता है—
कुछ पल को वह ठौर
युद्ध की प्रतिध्वनि नहीं जहाँ!

'आकुल अन्तर' के काव्य में रस-दान करनेकी क्षमता नहीं है। कवि जब गम्भीर और चिन्तनाभिमुख हो जाता है तो काव्य की रसात्मकता भ्रष्ट हो जाती है। और काव्य में एक मात्र भावुकता ही प्रधान उपकरण नहीं है। एक मात्र भावना ही सब कुछ नहीं है, उसमें उक्ति वैचित्र्य वक्रोक्ति भी होना आवश्यक है। मुझे 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कुंतक की यह स्थापना 'रसात्मकं वाक्य' काव्यम्' से बढ़ कर नहीं तो उन्नीस भी नहीं जान पड़ती। वक्रोक्ति (जिसमें सांकेतिकता Suggestiveness), लाक्षणिक व्यंजना, चित्रभाषा मयता, ध्वन्यार्थव्यञ्जना समन्वित हैं) और रसात्मकता (भावना के स्तर को छूकर मग्न कर देने की क्षमता) ये दोनों काव्य के प्राण और आत्मा (यदि दोनों भिन्न हैं तो) हैं। 'आकुल अन्तर' को पढ़ कर मधुबाला और 'मधुकलश' का नहीं तो 'निशा-निमंत्रण' का बच्चन अवश्य बार-बार याद आता है। इसका कारण यह लगता है कि जब 'बच्चन' में अत्यधिक वियोग, विकलता, विद्रोह होता है तब उसकी कविता उन्मत्त नर्तन करती है जब हृदय में अपेक्षाकृत शांति होती है तब कविता गद्यात्मक बन जाती है—न जाने क्यों 'आकुल-अन्तर' में हमें 'काव्यत्व' का अभाव लगता है--

बचन की भावी दिशा

'बच्चन'—ऐसा प्रतीत होता है 'गीति-काव्य' ही सफलता से लिख सकते हैं। साथ ही 'बच्चन' तभी श्रेष्ठ कविता कर सकते हैं जब उनका व्यक्तित्व-सूक्ष्म नहीं स्थूल भी--जीवन की यथार्थता से प्रभावित होता हो। वे तो अंगूर की लता हैं जिसके दबने से ही रस निकलता है—'आकुल अन्तर' से यद्यपि संकेत मिलता है कि—

यदि न सके दे ऐसे गायन,
बहले जिनको सुन मानव-मन,
शब्द करे ऐसे उच्चारण,
जिनके अन्दर से इस जग के
शापित मानव का स्वर बोले।
जब-जब मेरी जिह्वा डोले।

परन्तु यह मेरी भविष्यद्वाणी है कि जब जब यह कवि स्वानुभूत अनुभूतियों को ही वाणी देगा तब-तब ही कविता देगा—जब वह अनुभूति उधार ली होगी तब वह असफल रहेगा। 'विकल विश्व' देखें क्या देता है!

पेम-प्रकाश*

श्री पं० हरिशङ्कर जी शर्मा

हिन्दी में मुसलमान कवि कई हुए हैं। रसखान, रहीम आदि से तो सब ही परिचित हैं परन्तु पेमी कवि को बहुत कम लोग जानते हैं। पेमी का पूरा नाम शाह सैयद बरकतुल्ला था। ये १६६० ई० में अवध के सिरी नगर नामक स्थान में पैदा हुए और १७२६ ई० में इनका देहान्त हुआ। अपने जीवन में इन्होंने औरंगजेब, बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फ़र्रुखसियर, मुहम्मदशाह, आसिफ़जाह आदि अनेक बादशाहों का युग देखा। पेमी ने फ़ारसी में तो कितनी ही पुस्तकें लिखीं परन्तु हिन्दी में 'पेम प्रकाश' की ही रचना की। 'पेम-प्रकाश' पेमी कवि ने १६९८ ई० में ३८ साल की उम्र में लिखा है। ये अपनी जन्म-भूमि सिरीनगर (बिलग्राम) से मारहरा (एटा) आ गये थे, और आजन्म यहीं रहे। बीच बीच में आवश्यकता पड़ने पर यात्रा भी करते रहे 'पेम प्रकाश' तीन खण्डों में लिखा गया है। पहले भाग में दोहे हैं, जिनकी संख्या २०२ है। दूसरे भाग में पद, कवित्त तथा सवैये आदि हैं और तीसरे भाग में रेखता दिये गये हैं। पेमी जो 'रहस्यवादी' कवि थे। इनकी कविता पर श्रीमद्भागवत का बहुत बड़ा प्रभाव है। पेम-प्रकाश' में स्थान स्थान पर श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम और विरह का विशद वर्णन किया गया है। इसी प्रेम के मिस पेमी ने अपनी रहस्यवाद सम्बन्धिनी भावना का प्रकाश किया है। पेमी हिन्दू और मुसलमान दोनों को सम दृष्टि से देखते हैं। उनके यहाँ साम्प्रदायिक भेद-भावना के लिए कोई स्थान नहीं है। वे मनुष्य मात्र को एक मान कर प्रेम और एकता का सन्देश देते हैं।

पेमी को फ़ारसी और हिन्दी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त है। उन्होंने गम्भीर दार्शनिक भावों को हिन्दी कविता में बड़ी सुन्दरता और सरलता से व्यक्त किया है। पेमी शब्दों के बादशाह हैं, उन्हें शब्द खोजने नहीं पड़ते बल्कि वे स्वयम् हाथ बाँध कर उनके आगे आ खड़े होते हैं। भावों का तो कहना भी क्या? पेमी की भाषा ओजस्विनी है, और भाव हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। पेमी कवि ही नहीं सन्त के रूप में भी संसार के सामने प्रकट होते हैं। उनकी कविता हृदय पर असर किये बिना नहीं रहती।

पेमी हिन्दू तुरक में, हरदम रह्यो समाय।
देवता और मसीह में, दीप एक ही भाय॥

उपर्युक्त पंक्तियों से पेमी कवि का हिन्दू मुसलमानों में अभेद भाव सिद्ध होता है। वे इन दोनों जातियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं समझते यहाँ तक कि मन्दिर और मस्जिद दोनों को ही एक परमात्मा का उपासना-स्थान मानकर उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। एक स्थान पर पेमीजी कहते हैं—

जो काया तुम सब लखो, तामें काया और।
ये अबला अति छीन है, वाके बल है कौर॥

निर्बल काया के भीतर रहने वाली सबल काया की ओर कैसा सुन्दर संकेत किया है। भौतिक शरीर तो नष्ट हो जाने वाला पदार्थ है असली सार वस्तु तो आत्मा है जो अजर तथा अमर है; और जिसकी शक्तिमत्ता का अनुमान तक नहीं किया जा सकता। पेमीजी ने बारहमासी भी बड़ी सफलता पूर्वक लिखी है। आप फर्माते हैं—

आयो चैत सुहावनों, तनको छूटत मैल।
मन को मैल न ए सखी, छाँड़त मोहन छैल॥

चैत्र के आने से जाड़ों की इतिश्री हो गई, तनका मैल छूटने लगा, परन्तु अभी मोहन ने मन का मैल नहीं त्यागा, वह अब भी दिल में बराबर 'बुग़ज-कीना' रक्खे हुए हैं। इससे अधिक आश्चर्य और दुःख की बात क्या होगी।

*लेखक—शाह सैयद बरकतुल्ला पेमी, सम्पादक महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मीधर शास्त्री, मिशन कालिज देहली। प्रकाशक—फ्रैंक ब्रदर्स चाँदनी चौक, देहली। मूल्य ४)

हम को दुइ बैसाख है, लये कहत हों, साख,
एक तपन बैसाख की, विरह तपन है लाख।

विरह की ज्वलंत ज्वाला ही शरीर को तपाने के लिए काफ़ी थी अब कम्बख्त (बैसाख) ने और आकर जले पर नमक छिड़क दिया। भला ठिकाना है, इस हृदय हीनता और क्रूरता का।

उत सावन इत नैन हैं, उत गरजन इत आह।
उतहि कूक, इत हूक हैं सको तो लेहु निवाह॥

पावस का कैसा सुन्दर रूपक है। उधर बादल से पानी बरस रहा है इधर आँखों से आँसू बह रहे हैं। एक और बादलों की गरज है, दूसरी ओर हृदय की धड़कन और आह की आवाज़। वहाँ कोयल की कूक है, यहाँ विरह-वेदना पूर्ण हृदय की हूक। कैसा सुन्दर सामंजस्य और कितनी अद्भुत समानता है। मानों वियोग-जन्य परिताप ने पावस को पछाड़ने की चुनौती दे रखी है। मेह तो बरस बरसा कर बन्द भी हो जायगा, परन्तु वियोगनी के अश्रु-वर्षा का अन्त कभी न आयेगा।

जटा रखाई सीस पर, उलटी कीन्हीं बाँह।
तिषना ना करि ऊलटी, कैसे बहिएँ नाँह॥

अरे भाई, जटा रखाने और बाँह ऊपर किये रहने से भगवान् के दर्शन नहीं होंगे, इस झमेले में पड़ कर क्यों जीवन बर्बाद कर रहे हो। अगर वस्तुतः परमात्मा की ओर प्रगति करनी है तो इस तृष्णा तरुणी के मुँह को मोड़ो। इस राक्षस की गति को उल्टा करो। तब तुम्हारा कल्याण और त्राण होगा। समझे।

मोह कोह मन में भरे, पेम पन्थ को जाय।
चली बिलाई हज्ज को नौ सौ चूहे खाय॥

हज़रत, मन में तो भरी हुई है, मोह की मदिरा और कोह (क्रोध) का तारकोल और आप जा रहे हैं, प्रेम-मार्ग को। भला इस अन्धेर का भी कुछ ठिकाना है। कभी कुटकी या चिरायते के साथ भी मिसरी या कन्द का मेल-मिलाप हुआ है। फिर मन में 'मोह' और 'कोह' भर कर आप ही को प्रेम का प्याला मुँह से लगाने की असम्भाव्य भावना ने क्यों दबा रखा है।

निसदिन झर लायो चखन, समयो भयो अनूप।
बूँद-बूँद में झिलमिले, पेमी पिय को रूप॥

भला 'प्रिय' परमात्मा का रूप किसी स्थान विशेष में खोजने की चीज है। अरे वह तो बूँद-बूँद में झिलमिला रहा है और कण-कण तथा परमाणु-परमाणु में उसके दर्शन हो रहे हैं। आँखें चाहिए उसके देखने के लिए आँखें। वह भौतिक दृष्टि से नहीं देखा जाता, उसके देखने के लिए दिव्य चक्षुओं (ज्ञान) की आवश्यकता है। पेमीजी के कुछ दोहे और देखिए—

मन पंछी तन पींजरा, पानप भरो अमोल।
चारो पूरो कर दियो, तुहीं तुहीं नित बोल॥

× × × ×

सिख साखा अरु दिख अति, मन कीनों नहिं संत।
माया काया छाँड़ के, आपहि चले महन्त॥

× × × ×

गोरी होरी तन कियो, विरह अनल दौं लाय।
प्यारे न्यारे जनि फिरौ, कौतुक देखो आय॥

× × × ×

तुम सूरज हम दीप निसि, अजुगत कहे सुनाय।
बिन देखे नहिं रह सको, देखें रह्यो न जाय॥

उपर्युक्त दोहों को पढ़कर पाठक जान सकते हैं कि उनमें कैसी स्वाभाविकता और कितनी सुन्दरता है। 'प्रकाश' के जिस दोहे को पढ़िये उसी में एक अद्भुत आनन्द आएगा, ऐसा मालूम देगा कि सचमुच दोहे का रचयिता कोई सिद्धहस्त कवि है—ऐसा कवि जिसमें कला और कल्पना का समुचित मेल बड़ी ही सुन्दर रीति से हुआ है। 'पेम-प्रकाश' का एक पद भी देखिए, भाषा कैसी मँजी हुई और भावना कितनी सुन्दर तथा स्वाभाविक है—

हमारे हरि बिन और न कोय।
मन मनसा निहचैं कर जान्यों,
मोह कोह सब धोय॥१॥
पाप पुन्न को पंथ न भावत,
लाज काज दिय खोय।
एकै पीत-मीर मन भायी,
होना होय सु होय॥२॥

देखौ एक कहो नित एकै,
सुनियो हरिजन लोय।
'पेमी' सो जन मुकुत न पावै,
जिनकर जाने दोय ॥३॥

अद्वैतवाद की कैसी विशद व्याख्या है। जिसने एक को दो समझा है उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए। और देखिए –

हरि बिन कबहुँ न चैन परी।
कहियो पथिक सँदेश अवसिकर
बिरहा अधिक करी ॥१॥
सूर मन्त्र कछु ओट न लावत,
सीरी होत खरी।
काल रूप ससि जोन्ह सतावत,
तातें निपट जरी ॥२॥
'पेमी' बिकल कुसल नहिं दीसत,
गिन-गिन अवध टरी।
आबहु बेग रावरे नातरु,
अब कै सुनो मरी ॥३॥

हरि-वियोग से व्यथित होकर गोपियों की जो दुर्दशा हो रही है, उसका करुण चित्र इस पद में अङ्कित किया गया है। जहाँ शरद चाँदनी जलाने और भूनने का काम कर रही हो, वहाँ की विरहाग्नि का कुछ ठिकाना है?

पुस्तक में कुछ घनाक्षरी और सवैया भी हैं, परन्तु अधिकांश छन्दों में 'यतिभंग' दोष है। चाहे तो यह दोष मूल रचना में रह गया हो, चाहें फ़ारसी लिपि से नागरी-अक्षरों में आने के कारण हुआ हो। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि छन्दों में शब्द-योजना बड़ी सुन्दर है, भावों की महत्ता है, परन्तु छन्द सम्बन्धी प्रवाह-दोष अवश्य खटकता है। पढ़ने में धचोके लगते हैं और छन्द की दुर्गति सी जान पड़ती है। काश यह दोष किसी प्रकार दूर किया जा सकता। जिस पेमी ने दोहे तथा पद, (छन्द की दृष्टि से भी) बड़ी सफलता पूर्वक लिखे हैं, वह घनाक्षरी और सवैया लिखने में भूल करेगा, यह समझ में नहीं आता। फिर कई सवैया और घनाक्षरी तो बहुत ही शुद्धतापूर्वक लिखे गये हैं। उनमें छन्द सम्बन्धिनी कोई त्रुटि नहीं है। अस्तु, नीचे एक सवैया और कवित्त उद्धृत किया जाता है, जो यति-भंग दोष से मुक्त है—

काहे को ऊधो दुखारी भये तुम,
लाए हो मेखला जोग की बाकै।
न्याव न कीनों अनीत करै सो तो,
देन लगे अब आग बेदागै॥
ताहि कहा सुख देत हो 'पेमी',
तजे कुल-कान औ प्रान को त्यागै।
जा दिन श्याम बिछोह भयो हम,
ताहि दिना कह्यौ गोरख जागै॥

× × ×

बिमल अकास सोइ कागद प्रकास कीन्हों,
अन्धकार चोखी मसिया ही लै बनाई है।
मेघमाल लेखन सघन घन घनश्याम,
अच्छर बरन नीकी पंगत चुनाई है॥
खोलन झकोर मोर पर मानों पढ़ै बोल,
सुनि तिय दामनी-सी करो बेसुधाई है।
नीकै कै निहार 'पेमी' पावस न होय यहाँ,
सावन के हाथ स्याम पतिया पठाई है॥

यहाँ हम पुस्तक के विद्वान् सम्पादक महोदय की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने बड़े परिश्रम से इस दुर्लभ ग्रन्थ को साहित्य-संसार के सामने रखकर हिन्दी काव्य की श्री वृद्धि की है। इस सदुद्योग के लिए उन्हें जितना साधुवाद दिया जाय थोड़ा है। साथ ही पुस्तक के प्रकाशक फ्रैंक ब्रदर्स भी प्रशंसा के पात्र हैं। आशा है इस पुस्तक का हिन्दी जनता में समुचित आदर होगा।

विचार विमर्ष

वासुदेव शास्त्री तैलंग सा० र०

आजकल हिन्दी-साहित्य में एक नया दल अवतरित हो गया है, उसे हम स्वयं समालोचक कहेंगे। और वह दल अन्वेषण बिना ही अपनी सम्मति स्थिर कर देता है, चाहे वह सत्य हो, चाहे वह असत्य हो, भले उससे ऐतिहासिक सामग्री की हत्या होती हो। उदाहरणार्थ हम, पाठकों का ध्यान गोकुलनाथजी की वार्ता साहित्य पर आकृष्ट करेंगे। आज तक हिन्दी-साहित्य के कई एक छोटे-मोटे इतिहास मुद्रित हो चुके हैं। सभी समालोचकों की बुद्धि गोकुलनाथ-कृत गद्यवार्ता साहित्य पर भ्रमित हो जाती है। वे लेख दिया करते हैं कि वार्ता-साहित्य के कर्ता गोकुलनाथजी नहीं थे, यदि होते तो अनेक स्थानों पर 'गोकुलनाथजी कहते हैं' ऐसा प्रयोग क्यों करते। क्या अस्मद् शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते थे। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है, जो हमारे काँकरोली विद्या विभाग से अन्वेषण द्वारा निकल चुका है।

गोकुलनाथजी कथा प्रवचनों में वल्लभाचार्य, गुसाईंजी की निज वार्ता, बैठक वार्ता, घरू वार्ता और सेवकों से सम्बन्ध रखनेवाले चरित्र वर्णन करते थे। यही प्रारम्भिक समय है जब वार्ताएँ कथानक रूप में वैष्णवों के समक्ष उपस्थित हो गईं थी। इसी समय से वैष्णव-समाज में वार्ताएँ व्यापक रूपेण उपस्थित होने लगीं। गोकुलनाथजी अन्य ६ भाइयों की अपेक्षा अधिक समय तक विद्यमान रहे, और यही कारण है कि शु० सम्प्रदाय में आचार्य पद आपको अधिक समय तक मिल गया। किन्तु अब वार्ताओं की संरक्षण की आवश्यकता आ पड़ी थी और उसे उन्हीं के प्रिय शिष्य हरिराम ने व्यवस्थित रूप से निभाया। इस प्रकार वार्ता के रचियता गोकुलनाथजी हुए। गोकुलनाथ के समय वार्ता का जो रूप था वह थोड़े परिवर्तन के साथ रचनाकाल के थोड़े समय बाद की प्रतिलिपि से मिल जाता है। इसी प्रकार मूल वार्ताओं का मौखिक प्रवचन समय सं० १६४२ से १६४५ तक है। जब गुसाईं जी का तिरोधान हो गया, तब की गोकुलनाथ जी के समय की प्राचीन प्रति गोकुल से मिली है, और गोकुलनाथ के तिरोधान के १६ मास पूर्व की है। यह पुस्तक विद्या-विभाग, सरस्वती-भण्डार काँकरोली में है जो गोकुल से आई है। अतः कह सकते हैं कि १६६७ तक वार्ता की पुस्तकों का लिपिबद्ध संस्करण हो चुका था और पर्याप्त मात्रा में उपस्थित थीं। इन वार्ताओं के आन्तरिक रहस्य को प्रकाश में लाने का श्रेय हरिरामजी को है जिनका समय १६४७ से १७७२ का है। हरिराम दीर्घजीवी सम्प्रदाय के अन्यतम भक्त एवं विद्वान् थे। आपने वार्ता पर, भाव-प्रकाश टिप्पणी लिखी है, इससे शंकाओं का निराकरण हो जाता है और यही कारण है कि फिर वार्ताएँ एक रूप में मिलती हैं। अतः वार्ताओं के ३ संस्करण हुए हैं। इसी को श्री कण्ठमणि शास्त्री विद्या-विभाग ने इस प्रकार लिखा है। यद्यपि शास्त्रीजी ने अभी तक उदासीनता ही रखी थी, अन्यथा सभी इतिहासों में ऐसी भूलें क्यों होतीं और इस भ्रम भंजन निवारणार्थ बड़ी-बड़ी धार्मिक साम्प्रदायिक पीठाधीश्वरों की संस्थाओं ने भी कुछ चेष्टा नहीं की। उन्हें विलासिता के स्वप्नों से भी तो छुटकारा नहीं मिला। अस्तु प्रथम संस्करण—गोकुलनाथजी कथा प्रवचनों पर मूल रूप जो बचनामृत में प्राप्त होता है। तब न तो ८४–२५२ का वर्गीकरण और न सभी वैष्णवों की ही वार्ताएँ इसमें मिलती हैं। इसे हम संग्रहात्मक वार्ता साहित्य कहेंगे। इसकी प्रति काँकरोली में विद्यमान है। जिसे देखना हो पत्र-व्यवहार से निर्णय करें। उसमें समय १६४५ से १६६० है।

द्वितीय संस्करण—गोकुलनाथजी के समय और हरिराम के तत्वावधान में हुआ। इस समय वार्ताओं का वर्गीकरण करते हुए ८४–२५२ संख्या का क्रम हुआ। इस समय

वार्ताओं में प्रसंग आने पर गोकुलनाथजी नाम निर्देश, जो हरिरामजी ने अपनी ओर से सान्नोविष्ट किया है, और यही कारण है कि इतिहास कारों को भ्रम हो गया है कि यदि वार्ता गोकुलनाथजी रचित होती तो नाम पर अस्मद् शब्द का प्रयोग करते। इसका समय १६६४ से १७३५ तक है। इस समय हरिरामजी की अवस्था ४३ की थी जो प्रौढ़ता द्योतक है।

३—संस्करण—गोकुलनाथ के अनन्तर और हरिराम समय संकलन हुआ। इसी समय हरिराम ने अपना भाव प्रकाश टिप्पड़ लिखा। समय १७३५ से १७८० है। इससे ३ संस्करणों में वार्ताओं में उत्तरोत्तर वाक्य विकास होता गया। हरिराम ने अनेक यात्रा की ओर जहाँ ८४-२५२ वैष्णवों के स्थान थे वहाँ अन्वेषण किया। इससे हम कह सकते हैं कि गोकुलनाथ और हरिराम ने मिलकर वार्ताओं का सम्पादन, संगठन किया।

इस प्रकार दोनों आचार्य संस्कृत, गुजराती, व्रजभाषा के भक्तिमार्गीय गद्य पद्यात्मक साहित्य के रचयिता विवरण कर्त्ता हैं।

क्रमशः

भविष्य में इस लेख के लेखक द्वारा हरिराम पर निम्नाङ्कित साहित्य निकलेगा, और वह, हिन्दी साहित्य के हितैषियों के उत्साह एवं सहयोग द्वारा।

हरिराम कालीन परिस्थिति
ग्रन्थ निर्माणकाल
हरिराम का ऐतिहासिक कार्य
हरिराम और बल्लभाचार्य
संगीतकला और कीर्तन महल
हरिराम का काव्य पक्ष आदि

पाठकों के पत्र

मान्यवर महोदय,

गत मास के अंक में मुझे आपकी सूचना मिली। मैं सन्देश का ग्राहक अवश्य रहूँगा। तथा यथासमय वार्षिक मूल्य आपकी सेवा में भेज दूँगा।

आपने पत्र में परिवर्तन सम्बन्धी मुझ से विचार पूछे इसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ तथा मति-अनुरूप कुछ पंक्तियाँ सेवा में अर्पित करता हूँ वे निम्नांकित हैं—

१—इस पत्र में विज्ञापन केवल साहित्यिक ही हों। मुझे विश्वास है कि आपका पत्र कोई व्यापारिक साधन नहीं है बल्कि उसका तो एक उद्देश्य विशेष है; और वह है जन-साधारण में साहित्यिक रुचि उत्पन्न करना तथा जिज्ञासुओं को कुछ ज्ञान देना। ऐसी दशा में इसमें विज्ञापन केवल साहित्यिक ही रहें तो अच्छा है जैसा कि पहले था।

२—इसमें समालोचना प्रत्येक पुस्तक की नहीं होनी चाहिए। आपका एक मानदण्ड होना चाहिए। उस पर जो-जो पुस्तकें खरी उतरें, उनकी ही आलोचना प्रकाशित की जावे तथा पाठकों एवं लेखकों से प्रार्थना की जावे कि वे उन पर अपनी-अपनी सम्मति दें।

३—लेखों में मेरा प्रस्ताव है कि आप प्रत्येक आगामी अंक के लिए कुछेक विषय प्रकाशित कर दिया करें और उनसे सम्बन्धित लेखों की प्रार्थना की जावे।

४—आजकल साहित्य में व्याकरणादि सम्बन्धी बहुत गड़बड़ी मची हुई है। इसको पूरा करना 'साहित्य सन्देश' का उत्तरदायित्व है। यदि वह इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाता है, तो अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता। आपको वर्त्तमान साहित्य-गद्य, पद्य दोनों ही पर नियन्त्रण करने का कार्य हाथ में लेना चाहिए। तथा स्वर्गीय द्विवेदीजी की प्रणाली पर कुछेक लेखकों की कटु आलोचना करनी चाहिए। आप मुझसे सहमत होंगे कि इस प्रकार के लेख आपके पत्र में एक सच्चे साहित्य-सेवी का कार्य कर सकेंगे।

राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
एम०ए०, बी० एस-सी०, साहित्य-रत्न
इलाहाबाद।

साहित्य-समीक्षा

कविता

वीर विलास—(द्रोणपर्व हिन्दी पद्यानुवाद)

लेखक—महाकवि दत्त। सम्पादक—पं० गौरीशङ्कर एम० ए०,बी० लिट। प्रकाशक—हिन्दी भवन, लाहौर पृष्ठ ३६०

पंजाब को हिन्दी साहित्य के अध्ययन और प्रचार का श्रेय तो यथोचित रूप से दिया जाता है किन्तु साहित्य-सृजन का श्रेय उतना नहीं मिला है जितना कि उसको प्राप्त है। दत्त कवि उन उपेक्षित कवियों में से थे जिनके अस्तित्व का पता केवल खोज–रिपोर्टों अथवा मिश्र-बन्धु-विनोद जैसे खोज-प्रधान ग्रन्थों में ही मिलता है। पंडित गौरीशंकरजी ने दत्तजी के वीर विलास का सम्पादन कर और हिन्दी-भवन ने ऐसी मँहगाई में उसका प्रकाशन कर अपनी साहित्यिक अभिरुचि का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हुआ है जिनमें एक स्वयं कवि की ही लिखी हुई है। इसका निर्माण काल है संवत् १८१८। दत्त कवि जम्बू राज्य के रहने वाले थे। यह इस बात का प्रमाण है कि काव्य भाषा के रूप में व्रजभाषा का साम्राज्य जम्बू तक फैला हुआ था। वहाँ उसके लिखने वाले ही नहीं थे वरन् उसके समझने वाले भी थे क्योंकि दत्तजी उस ग्रन्थ की कथा २२ वर्ष तक कहते रहे हैं।

दत्त कवि महाराज रणजीतदेव के आश्रित थे जिनका शासनकाल १७८२ से १८३८ तक है। वीर-विलास के अतिरिक्त दत्त कवि के बारह और ग्रन्थ हैं। पंडित गौरीशंकरजी ने अपनी भूमिका में द्रोण पर्व और वीर-विलास की तुलना करते हुए बतलाया है कि द्रोणपर्व के २०३ अध्याय और १०००२ छन्दों को दत्त कवि ने ६० अध्याय और ३३८७ छन्दों में आबद्ध किया है। इसमें कथा का संक्षेप नहीं किया गया है किन्तु बात यह है कि दोहादि छोटे छन्दों में तो प्रायः समश्लोकी अनुवाद है किन्तु सवैयों और छप्पयों में तीन-चार श्लोक एक छन्द में आगये हैं।

भूमिका में इस ग्रन्थ के पूरे छन्दों का विश्लेषण दिया हुआ है उससे पता चलता है कि इसमें दोहे सबसे अधिक संख्या में हैं। इसमें बारह प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण स्वरूप एक सवैया यहाँ उद्धृत किया जाता है—

> शंष सुनौ न अरज्जन को,
> बिन गांडिव घोष सुनै तन छीजै।
> केवल सेष सुन्यो यदुनाथ को,
> देवि बिना अब कैसे पतीजै॥
> दीन ह्वै माँगत हौं तुमसों,
> हमको ययुधान यहै बर दीजै।
> बूढ़त है कुरु सागर में,
> ताते बेग अरज्जन की सुधि लीजै॥

ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी सावधानी और वैज्ञानिक रुचि से हुआ है। किन्तु यदि पाद-टिप्पणियों में अरज्जन (अर्जुन) जैसे शब्दों का अर्थ दे दिया जाता और शेष संष आदि एक ही शब्द और भाषा का विश्लेषण और कुछ अधिक दिया जाता तो इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ जाती। कहीं-कहीं एक ही शब्द दो तरह से लिखा गया है जैसे शंष और संष इसकी भी व्याख्या हो जाना वाञ्छनीय था।

कहानी

सङ्गीनों का साया—लेखक-श्री० प्रभाकर माचवे

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मन्दिर (इन्दौर)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की युद्धकालीन कहानियों एवं स्केचों—(१) उगता सूरज डूबेगा (२) सिंगापुर की आत्म-कथा (३) राग्ना (४) आँरी (५) इल्का (६) फु-शी-फू (७) नादे जदा (८) वार्सा ने कहा (९) गुलामों की डायरी से (१०) बीज मुरझ और........का संकलन है। कहानियों की कथा-वस्तु विदेशी होने के कारण पढ़ने में प्रति क्षण ऐसा आभास मिलता है, मानों लेखक को कहानियों का प्लाट, भाषा और वातावरण चित्रित करने में फासिस्ट-विरोधी विदेशी अखबारों में युद्ध-कालीन प्रचारात्मक प्रकाशित होने वाली कहानियों से अधिक से अधिक सहायता मिली है। पृ०

एस० एस० आर० प्रचार-विभाग से इसी प्रकार की कहानियों में पेम्फलेट आकार में अनेक संग्रह निकल चुके हैं। जिस विचार-धारा को लेकर श्री माचवे ने इन कहानियों का सृजन किया है, उससे केवल अपने एकांगी सिद्धान्त-समर्थन का ही प्रचार बन सका है, कला जन्म नहीं पासकी है। कहानियाँ, कम्युनिस्टों की वर्तमान विचार-प्रणाली की प्रतीक हैं, एक भारतीय लेखक फासिस्ट-वाद के विरुद्ध कितनी घृणा प्रदर्शित कर सकता है, कितना सौजन्य आहत विदेशी बन्धुओं के प्रति दिखा सकता है, यह कहानियाँ उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक कहानी के पीछे एक मुख्य पात्र का आत्म बलिदान है।

—शम्भुनाथ सक्सेना

अपरिचिता—लेखक—कुँ० केशरीचन्द्र सेठिया। प्रकाशक—नवयुग ग्रन्थ-कुटीर। पृष्ठ संख्या ९६।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में उदीयमान लेखक की १२ कहानियाँ संग्रहीत हैं। लेखक महोदय भावुक प्रतीत होते हैं और उनके व्यक्तित्व की छाप कहानियों में स्पष्ट है। करीब-करीब सब कहानियाँ रोमांस की रंगीन ओढ़नी से सुसज्जित हैं। 'अपरिचिता' शीर्षक कहानी में कुमुद नामक व्यक्ति का लीला से (First sight love) हो जाता है, परन्तु दुर्भाग्य से पहली मुलाकात ही अन्तिम मुलाकात होती है और अधिक खोजने पर भी उसे लीला का मकान नहीं मिलता।

लेखक महोदय का टेकनीक अभी मँज नहीं पाया है। अस्वाभाविकता का दोष बहुलता से मिलता है, चरित्रों का विश्लेषण करीब-करीब सब कहानियों में अपूर्ण छोड़ दिया है। घटनाओं का अस्त-व्यस्त होना अखरता है, आशा है कि लेखक महोदय हिन्दी-साहित्य को और अधिक अच्छी कहानियाँ देने में सफल हो सकेंगे।

धूप की लहरें—रचयिता—श्री गोपीकृष्ण 'गोपेश', प्रकाशक—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। मूल्य १) पृष्ठ संख्या ८८।

'धूप की लहरें' श्री गोपीकृष्ण 'गोपेश' का पहला काव्य-संग्रह है। इस संग्रह की कविताओं में छायावाद और प्रगतिशीलता दोनों की मधुर गंगा-जमुना बहती है। गहरी अभिव्यक्ति गोपेशजी की विशेषता है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'मुझ से मेरा नाम न पूछो' में जीवन व यथार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है, यथा—

> तुमको अगणित चिन्ताएँ हैं,
> तुम दुनिया के चिन्तित मानव।
> सह न सकोगे दुर्बल जर्जर,
> मेरी अन्तर्ध्वनियों का रव।
> अपना उजड़ा सा घर देखो,
> मेरा उजड़ा गाँव न पूछो।
> मुझ से मेरा नाम न पूछो॥

गोपेशजी प्रगतिशील कविता लिखने में उतने ही सफल हुए हैं जितने छायावादी कविताएँ लिखने में। उनकी 'दूधवाली' शीर्षक कविता को देखिए—

> बालों में नौ मन धूल भरी,
> गरमी से आँखें लाल,
> वह दूध बेचने आती है,
> उस दूर गाँव से दीन बाल।

छन्दों के प्रयोग भी नए हैं, परन्तु भाषा के परिमार्जन की अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तव में गोपेशजी का यह संग्रह उनके उज्ज्वल भविष्य की कोमल किरण है। नवोदित कवियों में गोपेशजी का निश्चित उच्चस्थान है।

आर्थिक

उद्योगपतियों की आर्थिक योजना—लेखक—श्रीअमरनारायण अग्रवाल एम० ए०। प्रकाशक—साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ सं० ५८, मूल्य ॥=)

यह पुस्तक उस योजना की आलोचना है जो इस देश के आठ प्रमुख उद्योगपतियों ने सन् १९४४ के प्रारम्भ में प्रस्तुत की थी। लेखक महोदय ने उसके प्रत्येक पहलू पर यथा उद्योग और कृषि का पारस्परिक सम्बन्ध, व्यापार, यातायात, बैंकिङ्ग और बीमा सम्बन्धी योजना, कुशल व्यक्तियों का प्रश्न—अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं। अन्त में अपने व्यक्तिगत सुझाव दिये हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जैसे योजना के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने का सुझाव एवं कृषि की उन्नति की ओर अधिक ध्यान।

पुस्तक सामयिक है एवं मेहनत से लिखी गई है।

—बरसानेलाल चतुर्वेदी

श्री काशी विद्यापीठ के बहुमूल्य प्रकाशन

समाजवाद

लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द

जिसकी महात्मा गान्धी ने प्रशंसा की है तथा जिस पर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन से अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक होने के कारण बारह सौ रुपये का 'श्री मंगला प्रसाद' तथा पाँच सौ रुपये का 'मुरारका' पारितोषिक प्राप्त हुआ है।

संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण का मूल्य केवल २) दो रुपये।

अभिधर्मकोशः

ले:—श्री राहुल सांकृत्यायन

सुप्रसिद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का ग्रन्थ अभिधर्मकोश जो मूल संस्कृत में लुप्त हो गया था तिब्बती, चीनी और फ्रांसीसी भाषाओं की सहायता से फिर उद्धृत करके सरल संस्कृत व्याख्या, ऐतिहासिक भूमिका एवं अनेक नक्शों के साथ छपा है। बौद्ध सिद्धान्तों, योग और समाधि आदि के दार्शनिक विवेचन सहित पुस्तक का मूल्य ५)

गणेश

लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द

वेद, पुराण, तन्त्र, बौद्ध और जैन शास्त्रों में गणेशजी का क्या रूप है और भारत के बाहर चीन, जापान और जावा आदि देशों में उनकी किस प्रकार पूजा होती है जानने के लिये विद्वान लेखक की नयी रचना पढ़िये।

अनेक सुन्दर तिरंगे तथा एकरंगे चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य केवल २॥) दो रुपये आठ आने।

काशी विद्यापीठ पुस्तक भण्डार, विद्यापीठ रोड, बनारस छावनी।

हमारे यहाँ हिन्दी भाषा की सब पुस्तकें मिलती हैं।

मुफ्त सलाह

१—हिन्दी में किसी खास विषय पर कौन-कौन सी पुस्तकें हैं?

२—यात्रा, उपन्यास, कहानी, कविता की नई से नई और बढ़िया से बढ़िया पुस्तकें कौन-कौन सी हैं?

३—पाँच, दस, पन्द्रह रुपये के भीतर किन-किन विषयों की कौन-कौन पुस्तकें मँगाई जा सकती हैं?

४—बच्चों के लिये दिलचस्प और ज्ञान बढ़ाने वाली कौन-कौन सी पुस्तकें हैं?

५—स्त्रियों और लड़कियों को कैसी पुस्तकें और पत्रिकाएं पढ़नी चाहिए?

६—दो, तीन, चार, पाँच रुपये महीने की पुस्तकें खरीदना हो तो कौन-कौन-सी खरीदें?

यह सब प्रश्न हल हो सकते हैं। आप अपने प्रश्न छः पैसे के टिकट के साथ हमें लिख भेजिए। आपको फौरन जवाब मिलेगा। जिस बात को तलाश करने में हफ्तों और महीनों लग जाते हैं वह आपको फौरन मालूम हो जायगी। उत्तर के लिए कुछ भी नहीं लिया जाता है, न आपसे कोई शर्त की जाती है। आपको किसी तरह बाँधा नहीं जाता। हमारी सेवा से लाभ उठाइये।

आगरा पब्लिशिंग हाउस, आगरा।

जी० जी० सेल्स डिपो:—(१) किताब महल, होर्नबी रोड बम्बई। (२) चावड़ी बाजार देहली। (३) मून हाउस पी ४० मिशन रो एक्सटैन्शन, कलकत्ता। (४) मेसर्स गिरधरलाल वकील, दर्जी चौक बरेली। (५) मेसर्स गिरधरलाल वकील जनरलगंज, कानपुर।

Sahitya Sandesh, Agra. REGD, NO. A.263

स्वदेशी बीमा कम्पनी लि० आगरा
की
अपूर्व योजनायें

केवल २५) में १००० रु० का
जिन्दगी भर का बीमा

१—इस योजना द्वारा बीमेदार का जिन्दगी भर के लिये सिर्फ एक बार लगभग २५) रु० देने पर तमाम आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिये एक हजार रु० का बीमा हो जाता है।

२—चोट से या किसी बीमारी से पूर्ण अपाहिज होने पर आयन्दा किस्त दिये बिना साधारण जीवन बीमा पालिसी की रकम मिल जाती है।

३—हमारे यहाँ की एक मुश्ती वैवाहिक व जीवन प्रवेश पालिसी तथा वार्षिक वृति के नियम अत्यन्त उदार तथा सरल हैं।

४—यदि आप जीवन बीमा की जोखिम के साथ-साथ अपनी किस्तों की रकम २॥) प्रति शत प्रति वर्ष चक्रवृद्धि व्याज से बढ़ाना चाहते हैं तो हमारी 'गारण्टीड इन्टरेस्ट पालिसी' जो उक्त दोनों सुविधायें प्रदान करती है अवश्य खरीदिये।

५—बीमेदार की सुविधा के लिये पत्र-व्यवहार हिन्दी में किया जाता है तथा पालिसी भी हिन्दी में जारी की जाती है।

अपना रुपया सुरक्षित रखते हुये अधिक व्याज लेने के लिये हमारे यहाँ रुपया डिपोजिट कर निम्नलिखित व्याज की दर का लाभ उठाइये—

३ माह के डिपोज़िट पर	२)	प्रतिशत व्याज
६ ,, ,, ,,	२॥)	,, ,,
१ साल के ,, ,,	३)	,, ,,
२ ,, ,, ,,	३।)	,, ,,
३ ,, ,, ,,	३॥)	,, ,,

व्याज छमाही अदा किया जाता है। वेवाओं, अनाथ बच्चों तथा सार्वजनिक संस्थाओं को माहवार भी अदा किया जा सकता है।

आवश्यकता है

भारत के हिन्दी भाषी प्रान्तों में वेतन अथवा कमीशन पर एजेण्ट, चीफ एजेण्ट और आर्गनाइजरों की आवश्यकता है। पुश्तैनी रिन्युअल कमीशन की अपूर्व सुविधा है। अपने अनुभव सहित आवेदन पत्र भेजिये।

विशेष विवरण के लिये लिखियेः—

श्रीचन्द दौनेरिया, मेनेजिंग डायरेक्टर।

रामचरनलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।
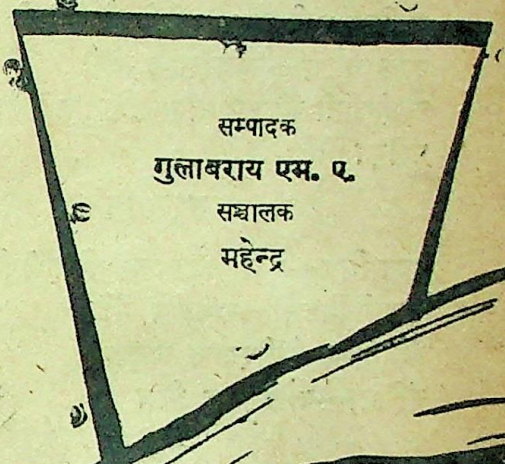
सम्पादक
गुलाबराय एम. ए.
सञ्चालक
महेन्द्र
जून, १९४५

हिन्दी की नई पुस्तकें

कविता

साहित्य पारिजात—शुकदेवबिहारी मिश्र ३)
अन्तर्ज्वाला—नटवरलाल स्नेही १)
हल्दीघाटी की एक रात—शिशुपालसिंह ।।।)
परीक्षा " २)

उपन्यास

पुष्य मित्र—राव राजा श्यामबिहारी मिश्र ३।)
चलती पिटारी—रामदीन पाँडे २)
रंगमहल—देवीदयाल चतुर्वेदी १।)
वंचिता—उमेशचन्द्र मिश्र ३।।)

दर्शन

प्रमाण वार्तिकम—राहुल जी ३०)
गणेश—सम्पूर्णानन्द २।।)
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—परदेशी १)
हिन्दी गीता—हरिभाऊ उपाध्याय ।।)
गीता-हृदय—भवानीप्रसाद तिवारी १)

स्फुट

मधुमक्खी पालन—शम्भूनाथ सक्सेना ।)
विन्ध्याटवी के अंचल में—प्रयागदत्त शुक्ल २)
कला : एक अध्ययन—मनोहरलाल ३)

कहानी

रँगे सियार—रूपनारायण पाँडे १।)
चिक का पर्दा—श्रीनिवास जोशी १)

राजनीति

हमारा साथी रूस—एल० एस० मिश्र ३)
विजय और भारत—पूरनचन्द्र जोशी
भावी नागरिकों से—भगवानदास केला

मनोविज्ञान

नवीन मनोविज्ञान और शिक्षा—लालजीराम शुक्ल
नवीन मनोविज्ञान— " "

विषय सूची

बालोपयोगी

गुलाबपरी—हैंस ऐंडर्सन ।।।≈)
रसगुल्ला—अशोक बी० ए० ।।।)
शिकारी— " " ।≈)
अजायबघर—नरसिंहराम शुक्ल ।)।।
हमारे वीर पुरखे— " " ।≈)
हमारा शरीर—गिरधारीलाल शर्मा ।≈)
कीड़े-मकोड़ों की कथा— " " ।≈)
मनुष्य की कथा— " " ।≈)
मौत के मुँह में— " " ।≈)
अनोखे मनुष्य— " " ।≈)
जंगली मनुष्य— " " ।≈)
अनोखे देश— " " ।≈)
पृथ्वी की कथा— " " ।≈)
अनोखे जीव-जन्तु— " " ।≈)
देशभक्तों का बाल काल— राममोहन १)
करेला रानी— लक्ष्मीनारायण टंडन ।।।)
मेंढकों की बस्ती— वीरेन्द्रकुमार ।।)
सुन्दर कहानियाँ— रामनाथ अय्यार ।)

भाग ७] आगरा, जून १९४५ [अङ्क ३

प्रतीक

श्री शिवनाथ एम० ए०, साहित्यरत्न

[व्यंङ्ग्यार्थ प्रधानता रहने के कारण प्रतीकों का—जिनको इँग्रेजी में symbols कहते हैं—साहित्य में विशेष महत्त्व रहता है। प्रतीकों में जो ध्वनि होती है वह भी प्रायः लक्षणामूला होती है। प्रतीकों का आधार साम्य ही होता है, किन्तु उनमें तथा साम्यमूलक अलङ्कारों और अध्यवसित रूपकों (Aligory) में भेद है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए विद्वान लेखक ने बतलाया है कि प्रतीक में एक पक्ष चाक्षुष प्रत्यक्ष का रहता है और दूसरा मानसिक पक्ष का। इसके अतिरिक्त प्रतीकों में परम्परा और एक विशेष देश-काल से सम्बद्ध सामूहिक चेतना का भी भाव रहता है। इस लेखके विद्वान् लेखक श्री शिवनाथ जी हिन्दू विश्व विद्यालय में रिसर्च करते हैं। —सम्पादक]

बात तो विशुद्ध साहित्य की ही कही जायगी, परन्तु इसका निर्देश तो किया ही जा सकता है कि प्रतीकों का प्रयोग धार्मिक साहित्य में भी प्रचुरतः मिलता है। पुराणों में प्रतीक भरे पड़े हैं। हां, पुराणों में इन (प्रतीकों) की पहचान के लिए साहित्यिक अभिरुचि की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी। कोरी धर्मान्ध और रूढ़िवादी अभिरुचि पहचान में गोता खा सकती है। विशुद्ध साहित्य के सभी अंगों में प्रतीकों के दर्शन मिल सकते हैं, परन्तु इनके दर्शन की सुगमता का प्रधान स्थल वस्तुतः काव्य ही है। साहित्य के अनेक अंगों में से अभी काव्य ही पूर्ण समृद्ध हो भी पाया है, और प्रतीकों की संस्थिति साहित्य के समृद्ध अंगो में ही हो भी सकती है।

सामान्यतः प्रतीक शब्द का प्रयोग हिन्दी तथा संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में भी चिह्न, प्रतिनिधि, प्रतिरूप, आदि अर्थों में चलता है। इस शब्द का संबंध संस्कृत के 'प्रति' उपसर्ग से अवश्य है, जो संज्ञा के साथ लग कर कभी असाम्यमूलक अर्थ देता है और कभी साम्यमूलक। हिंदी में प्रतीक सर्वत्र किसी न किसी रूप में साम्यमूलक अर्थों का ही बोध कराता है, यह तो स्पष्ट है। साम्यमूलक अर्थों की ओर संकेत करने के साथ ही साहित्य क्षेत्र में प्रतीक कुछ विशिष्ट अर्थ भी व्यक्त करता है। कोई भी शब्द साहित्य या विज्ञान के क्षेत्र में

आवश्यकतानुसार किसी विशेष लक्ष्य से गृहीत होकर कुछ विशिष्ट अर्थ देता ही है। शब्द के अर्थों की अवनति और उसके विकास की प्रक्रिया ऐसे ही मार्गों से चलती है। ऐसी अवस्था में शब्द के अर्थों में कभी विभिन्न तत्व जुड़ भी जाते हैं और कभी उनसे विभिन्न तत्व छूट भी जाते हैं। प्रतीक जब साहित्य-क्षेत्र में आया तब उसमें विशिष्टता की निहिति की गई और उसके अर्थों में कुछ तत्वों की वृद्धि हुई।

प्रतीक का मूलाधार साम्य है, इसका निर्देश हो चुका है। परन्तु साम्यमूलक अलंकारों के साम्य और प्रतीक के साम्य में अन्तर है। साम्य मूलक अलंकारों की समवस्तु, गुण और क्रिया का सम्बन्ध चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है। उनमें दृश्यमान वस्तु की समता दृश्यमान वस्तु से ही दी जाती है। बाहुल्य ऐसे ही साम्यों का होता है। यत्र-तत्र अपवाद भी मिल सकते हैं, परन्तु अति विरल। प्रतीक की सम वस्तु, गुण और क्रिया का सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष से होता है। साथ ही स्मरण यह भी रखना है कि प्रतीक का एक पक्ष दृश्यमान अवश्य रहता है। बिना दृश्यमान वस्तु, गुण और क्रिया के साहित्य का निर्माण भी सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में जब की वस्तु गुण और क्रिया का सन्बन्ध चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है। इसी प्रकार जब प्रतीक की वस्तु गुण और क्रिया का संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है तब प्रतीकेय वस्तु, गुण और क्रिया का सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष से। जैसे ऊषा, आनन्द, सौख्य आदि का प्रतीक मानी जाती है। इसमें प्रतीक ऊषा का संबंध तो चाक्षुष प्रत्यक्ष से है और प्रतीकेय आनन्द, सौख्य आदि का सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष से। ऐसे ही आशा प्रभात का प्रतीक मानी जाती है। इसमें प्रतीक आशा है और प्रभात प्रतीकेय। प्रथम का संबंध मानस प्रत्यक्ष से है और द्वितीय का चाक्षुष प्रत्यक्ष से। प्रतीक और प्रतीकेय दोनों का संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से ही अथवा मानस प्रत्यक्ष से ही हो, ऐसे उदाहरणों का अभाव है। दोनों का संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से ही हो, ऐसे उदाहरण तो असंभव ही हैं, और जब दोनों का संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से ही हो जाता है तब मार्मिकता की स्थिति असंभव हो जाती है। इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि प्रतीक का प्रधान तत्त्व है उसका मानस प्रत्यक्ष से संबद्ध होना। मानस प्रत्यक्ष से उसके संबंध का तात्पर्य है भावनाओं से उसका संबंध; और इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रतीकगत साम्य-स्थापना भावों की अनुभूति की तीव्रता की सर्जना करती है। उसका एक पक्ष भावना मानस प्रत्यक्ष से ही संबद्ध रहता है, इसे हम देख भी चुके हैं। प्रतीक की मार्मिकता की प्रक्रिया का पक्ष भी विचारणीय है। इस प्रक्रिया का संबंध अभिव्यंजना से है, जिसका क्षेत्र बड़ा व्यापक है, जिसके अन्तर्गत कला-पक्ष की सारी सामग्री आ जाती है, और हम पर विदित है कि साहित्य में अभिव्यंजना वा कला-पक्ष का कुछ कम महत्त्व नहीं है। प्रतीक की मार्मिकता की प्रक्रिया का प्रधान कारण है रचयिता द्वारा प्रतीक तथा प्रातीकेय की उपयुक्त साम्य-कल्पना। ऊषा और आनन्द वा सौख्य की उपयुक्त साम्य-कल्पना श्रोता व पाठक के हृदय को वैसे ही चमत्कृत करती है जैसे उपमान और उपमेय की उपयुक्त साम्य-कल्पना। प्रतीक की मार्मिकता की प्रक्रिया का एक कारण यह भी है कि उसके एक पक्ष का संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है। अमूर्त के लिए मूर्त की तथा मूर्त के लिए अमूर्त की कल्पना पर हृदय चमत्कृत होता ही है। इसका अनुभव हम साम्यमूलक अलंकारों में भी करते हैं।

उपर्युक्त मीमांसा से साम्यमूलक अलंकार और प्रतीक के संबंध की बात कुछ स्पष्ट हुई होगी। प्रतीक और अध्यवसित रूपक (एलेगरी) के संबंध की बात भी देख लेनी चाहिए। अध्यवसित रूपक का संबंध किसी पूरी कथा वा रचना से होता है। पद्मावत और कामायनी अध्यवसित रूपक है। परन्तु अध्यवसित रूपक की, कथा को पूर्ण करने वाले तत्त्वों में प्रतीक का प्राधान्य होता है, अर्थात् अध्यवसित रूपक की कथा प्रतीक के सहारे चलती है। प्रतीक के मार्ग से चल कर ही अध्यवसित रूपक की कथा पूर्णता प्राप्त करती है। 'पद्मावत' पद्मावती में ब्रह्म का प्रतीक है और रत्नसेन सच्चे साधक का। जायसी ने स्वतः इसे स्वीकार किया है। इसी प्रकार 'कामायनी' में 'श्रद्धा' कोमल भावनाओं की प्रतीक है और 'इड़ा' परुष भावनाओं वा बुद्धिवाद की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

प्रतीक की नींव पर अध्यवसित रूपक खड़ा होता है, जिसका संबंध पूरी कथा वा रचना से है। प्रतीक अङ्ग है और अध्यवसित रूपक अंगी। अध्यवसित रूपक को दृष्टिपथ में रखकर विचार करने पर यह भी लक्षित होता है कि उसकी (अध्यवसित रूपक की) अपेक्षा प्रतीक का क्षेत्र छोटा है, वह उसका अङ्ग मात्र है ही। यहीं एक और बात पर दृष्टि जाती है। वह इस पर कि अध्यवसित रूपक के प्रतीक का संबंध किसी पात्र अथवा प्रासंगिक वा आधिकारिक कथा से होता है, अतः स्वतन्त्र प्रतीक, जैसे, ऊषा, से उसका क्षेत्र बड़ा है। स्वतन्त्र प्रतीक अपने में ही परिमित है और अध्यवसित रूपक के प्रतीक को कुछ दूर तक चलना पड़ता है। स्वतन्त्र प्रतीक के रूप में गृहीत 'ऊषा' में जितनी व्यंजना भरी है उतनी 'कामायनी' के अध्यवसित रूपक में आए 'श्रद्धा' में नहीं। इसका कारण यह है कि अध्यवसित रूपक के प्रतीक को रचयिता द्वारा प्रेरित क्रिया-कलापों वा प्रवृत्तियों को पूरा करना रहता है। ऐसी परिस्थिति में उसमें व्यंजना वा मार्मिकता की निहिति नहीं हो पाती; प्रसंगात् कभी होती भी है तो अत्यल्प। अध्यवसित रूपक के प्रतीक के विषय में एक और बात यह कहनी है कि उसका संबंध चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है, अर्थात् वह मूर्त ही रहता है और उसका प्रतीकेय अमूर्त, जिसका संबंध मानस प्रत्यक्ष से होता है।

प्रतीक से परम्परा का तत्व भी मिला है। परम्परा पूर्व काल में स्थित अधिक और आप्त जन स्वीकृत तथा पालित विचारों और क्रियाओं के प्रति आस्था और विश्वास तथा आवश्यकतानुसार उनका पालन भी है। कभी-कभी प्रतीक के लिए ऐसी ही वस्तु, गुण और क्रिया का ग्रहण होता है जिनका सम्बन्ध परम्परा से रहता है। जैसे, चातक सच्चे तथा निष्काम प्रेम के प्रतीक के रूप में दीर्घ काल से स्वीकृत होता चला आ रहा है। ऐसे प्रतीकों के व्यवहार से बोधगम्यता में सुगमता होती है। श्रोता व पाठक उन्हें सरलता तथा शीघ्रतापूर्वक समझ कर आनन्द मग्न होता है। कारण यह है कि इस प्रकार के प्रतीकों से उसका हृदय परिचित रहता है। वह उनके रूप, गुण, क्रिया आदि को भली भाँति जानता है। और रसानुभूति में परिचिति अत्यावश्यक तत्व है। यह तो परम्परित प्रतीकों की चर्चा हुई, जिनमें अवश्य ही बड़ी शक्ति और मार्मिकता होती है तथा जो अति दीर्घ काल तक प्रयुक्त होते चले जाते हैं। ध्यान इसे भी रखना है कि ऐसे प्रतीक कम होते भी हैं।

कुछ प्रतीक ऐसे भी दिखाई पड़ते हैं जिनकी परम्परा अधिक काल तक नहीं चलती। उनका सम्बन्ध साहित्य के किसी विशिष्ट युग से ही होता है। वे उसी युग में निर्मित होकर अवसित भी हो जाते हैं। छायावाद रहस्यवाद-युग में ऐसे अनेक प्रतीकों का निर्माण हुआ, जिनका प्रयोग उसी युग में बहुलतापूर्वक होता रहा अब वे अधिक नहीं दिखाई पड़ते। मधुमास, ऊषा, पतझड़ आदि उस युग के अति प्रचलित प्रतीक हैं, जिनका तात्पर्य क्रमशः आनन्दावस्था, सौख्य, परिवर्तनकाल से है। कुछ प्रतीक ऐसे भी मिलते हैं जिनका प्रयोग विशिष्ट रचयिता ही करता है। ऐसे प्रतीक व्यष्टि तक ही सीमित रहते हैं। जैसे, श्रीपन्त ने सर्पल छाया को माया के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार श्री निरालाजी ने मधु को प्रेम के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। ऐसे और भी व्यक्तिगत प्रतीक मिलते हैं। इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि परम्परा की दृष्टि से प्रतीकों की सीमा-रेखा विस्तृत भी है और संकुचित भी। एक प्रतीक सुदीर्घकाल तक व्यवहृत होता चलता है, दूसरा किसी विशिष्ट युग तक और तीसरे का सम्बन्ध व्यक्ति से ही होता है। प्रथम प्रकार के प्रतीक तो परंपरित होते ही हैं, इनके विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रकार के प्रतीक का सम्बन्ध भी परम्परा से है। यह बात दूसरी है कि यह परम्परा कुछ सीमित काल तक ही चलती है। एक ही प्रकार के विचार, गुण, क्रिया आदि के प्रति अनेकों की आस्था और तदनुसार उनका प्रयोग इस प्रकार के प्रतीक में भी देखा ही जाता है। तीसरे प्रकार के प्रतीक का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है। इसकी सीमा संकुचित है। ऐसे प्रतीक भी यदा-कदा परंपरित रूप में चल सकते हैं, यदि प्रतीककार अपना दल कायम कर अपने प्रचार का झण्डा उठाए। ऐसा करने में तनिक प्रपंच फैलाना पड़ेगा। हाँ, उसके प्रतीकों में

विशिष्टता के कारण दूसरे लोगों द्वारा उनका स्वेच्छापूर्वक ग्रहण भी हो सकता है। परन्तु ऐसी अवस्था कम ही आती है, क्योंकि व्यक्तिगत प्रतीक एक तो अत्यल्प होते हैं दूसरे समर्थ रचयिता दूसरों की नकल कर नहीं चलना चाहता। कुछ छोटे-मोटे लोग ऐसा कर सकते हैं। अध्यवसित रूपकगत प्रतीकों के लिए परम्परा का कोई प्रश्न नहीं उठता। वे अपने में ही परिमित होते हैं।

प्रतीक के विवेचन में देश और काल की दृष्टि से उसकी बँधी सीमा पर विचार भी आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतीक एकदेशीय होते हैं। प्रत्येक देश के साहित्य में प्रचलित प्रतीकों में भिन्नता है। बहुत ही थोड़े प्रतीक ऐसे मिलेंगे जिनका प्रयोग दो-चार देशों में समान अर्थ में चलता है। प्रत्येक देश के साहित्य में प्रचलित प्रतीकों की भिन्नता का भी कारण है; और वह कारण है प्रत्येक देश की संस्कृति में भिन्नता, जिसके (संस्कृति के) अन्तर्गत किसी देश की बाह्य तथा आन्तरिक सभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। अभिप्राय यह कि प्रतीकों की रूप-रेखा का निर्माण संस्कृति के आधार पर होता है, और क्योंकि प्रत्येक देश की संस्कृति में भिन्नता होती है, अतः प्रतीक भी भिन्न होते हैं। इसी कारण कहा गया कि प्रतीक एकदेशीय होते हैं। परदेशीय प्रतीकों का यदि कभी कोई प्रयोग भी करता है तो वह फबता नहीं, और उसकी बोधगम्यता में भी सरलता नहीं होती। केवल एक ही अवस्था में परदेशीय प्रतीकों के ग्रहण की कुछ गुञ्जाइश निकल सकती है; और वह अवस्था यह है कि जिस देश के साहित्य से प्रतीक ग्रहण किए जायँ और जिस देश के साहित्य में ग्रहण किए जायँ, उनकी संस्कृतियाँ अच्छी तरह घुलमिल गई हों, यद्यपि इनके घुलने-मिलने पर भी इनकी कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं, जो अपना अलग अस्तित्व रखती हैं। इसी कारण स्मरण यह रखना है कि इस अवस्था में भी ऐसे देशों के सभी प्रतीकों का आदान-प्रदान न हो सकेगा, कुछ का ही होगा और जिनका आदान-प्रदान होगा वे विदेशीय तो अवश्य ही प्रतीत होंगे, अतः उनमें खटक भी होगी।

काल की दृष्टि से भी प्रतीक सीमाबद्ध हैं। कुछ ही प्रतीक ऐसे हैं जो सुदीर्घ काल तक चलते हैं, अन्यथा नए-नए प्रतीक समय-समय पर निर्मित होते रहते हैं। प्रतीक और परम्परा पर जो विचार ऊपर हुआ है, उससे यह स्पष्ट है। यहीं यह प्रश्न भी आता है कि नए-नए प्रतीकों का निर्माण कैसे काल वा युग में होता है। जो प्रतीक अपनी मार्मिकता के कारण सुदीर्घ काल तक व्यवहृत होते रहते हैं उनकी तो बात ही न्यारी है, अन्यथा नवीन प्रतीकों का निर्माण प्रायः साहित्य के नवीन उत्थान काल वा युग में देखा जाता है। जब-जब किसी साहित्य का उत्थान हुआ है और जब-जब उसमें नवीन प्रवृत्तियाँ आई हैं तब-तब नवीन प्रतीकों के दर्शन भी उसमें हुए हैं। साहित्य के नवीन उत्थान में देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्था का प्रभाव भी प्रायः देखा जाता है, अतः प्रतीकों के निर्माण में ये अवस्थाएँ भी सहायिका होती हैं। आजकल हमारे साहित्य में 'परिवर्तन काल' के लिए 'पतझड़' के प्रतीक रूप में ग्रहण होने का कारण यही है कि हमारा देश (वा सारा विश्व) संक्रांति काल से होकर चल रहा है। यहाँ हमारी दृष्टि इस पर भी जाती है कि नवीन प्रतीकों का निर्माण साहित्य के समृद्ध कालों वा युगों में ही संभव है। इसको इस रूप में भी कहा जा सकता है कि नवीन प्रतीकों का निर्माण किसी साहित्य के उसी काल वा युग में देखा जा सकता है, जिस काल वा युग में प्रतिभा-सम्पन्न मौलिक साहित्यकार विद्यमान हों।

साहित्य में प्रतीक का बड़ा महत्त्व है, इस कारण कि इसमें व्यंजना की पूर्ण स्थापना रहती है। एक के द्वारा अनेक की व्यंजना का यह समृद्ध साधन है। इसके द्वारा एक वस्तु, गुण, क्रिया आदि के संमुख आने पर अनेक वस्तु, गुण, क्रिया आदि का प्रत्यक्ष होता है। प्रतीक रूप में गृहीत चातक द्वारा प्रिय के प्रति प्रेमी की अनन्य निष्ठा, प्रिय की रुष्टता पर भी उसमें एकांत प्रेम, प्रिय के वियोग में अनेक सुख-सामग्री की उपस्थिति में भी उस पर दृष्टि न डालना, मृत्यु पश्चात् भी प्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की चाहना का न रहना आदि अनेक भाव और विचार दृष्टि के सम्मुख आ जाते हैं। इस प्रकार विदित यह होता है कि प्रतीक गागर में सागर की स्थिति का स्वतः प्रतीक है।

काव्य में प्रगतिवाद

श्री उदयसिंह भटानगर एम० ए०

[प्रस्तुत लेखक ने प्रगतिवाद का वह रूप लिया है जो चाहे पूर्णतया प्रामाणिक न हो किन्तु स्पष्ट है और जिसकी झलक हमको साहित्यमात्र में और कम से कम भारतेन्दु काल से अब तक के साहित्य में अवश्य मिलती है। यह मूलधारा है उत्पीड़ित—के प्रति सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया। लेखक महोदय ने इस प्रतिक्रिया का विश्लेषण भी किया है। वे संवेदन (Feeling) और विचार के संतुलन में ही साहित्य का कल्याण मानते हैं। यह तो ठीक है ही किन्तु साहित्य को उत्पीड़ित की सहानुभूति की प्रतिक्रिया में ही सीमित कर देना उचित नहीं। वह रागात्मक सम्बन्ध का एक आवश्यक रूप है किन्तु एकमात्र रूप नहीं। —सम्पादक]

उत्पीड़क के विविध आयोजनों द्वारा पीड़ित और विकृत समाज की करुणा प्रतिक्रिया के रूप में जिन भावों और मनोविकारों की सृष्टि करता है वह सृष्टि चेतन रूप होकर शेष सृष्टि के साथ संवेदनात्मक स्पन्दन करती चलती है, जिससे हृदय की रागात्मक वृत्तियाँ जाग्रत होकर विकृति में संस्कृति की चेतना प्रस्फुटित कर देती है।

भाव-क्षेत्र में यह चेतना तीन प्रकार से प्रस्फुटित होती है—

१—उत्पीड़क के द्वारा किये गये अन्याय और अत्याचारों से उत्पन्न करुणा भाव लेकर।

२—उत्पीड़क के प्रति विरोध तथा उसके नाश की योजना और उत्पीड़ित के हित का चिन्तन लेकर; और

३—पूर्ण मंगल की कामना में उत्पीड़क के विविध व्यापारों (अन्यायों और अत्याचारों) के बीच सोत्साह आघात सहने और आवश्यकता पड़ने पर प्राण देने की तत्परता लिये हुए।

भावक की प्रवृत्तियों के अनुसार यह चेतना इन सर्गों के बीच उत्पीड़क व्यापारों की गति के साथ उत्तेजित और उग्र होती चलती है।

हिन्दी काव्य ने चेतना के इन तीन सर्गों के बीच युग-युग की परिस्थितियों से अनुरंजित अपनी प्रगतिशील आत्मा को व्यक्त किया है। इस प्रकार हिन्दी काव्य की आत्मा एक हजार वर्षों के अनुभूत उत्पीड़न की प्रगतिशील अनुभूति है।

भाव-क्षेत्र में संवेदनात्मक स्पन्दन करती हुई यह चेतना जब चिन्तन क्षेत्र में पहुँच कर मनन को स्फुरित करती है तो उत्पीड़ित में उसकी प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रिया की जागृति होती है। उत्पीड़क की यह प्रतिक्रिया ही प्रगति है, जो काव्य में भावनाओं की अनेक रूपात्मकता लेकर प्रकट होती है। अतः यह चेतना ही मनुष्य को प्रगति की ओर अग्रसर करती है। अपने यथार्थ को प्राप्त होना ही इस प्रगति का प्रधान उद्देश्य है। उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग प्रवृत्ति के अनुसार सदा भिन्न रहते हैं, परन्तु वे सदा उपर्युक्त तीन सर्गों में सीमित रहते हैं।

काव्य में प्रगति का इससे अतिरिक्त उद्देश्य सोचना अनिष्ट का हित सोचना है। काव्य अन्तर्जगत और बहिर्जगत की वह अभिव्यक्ति है जो शेष सृष्टि की रागात्मक वृत्तियाँ स्पन्दित कर उसको लीन होने में सहायक होती है। प्रगति की यह चेतना इस प्रकार काव्य के आदर्श में तो कोई परिवर्तन नहीं चाहती, परन्तु उस आदर्श के अभाव में प्राप्ति की लालसा ही उसके रूपों में परिवर्तन कर देती है। इस परिवर्तित रूप में कवि जो बिम्ब प्रस्तुत करता है, यह उसके ग्राहकों के लिए नवीन शैली का होता है, जिससे वे अपरिचित होते हैं। यदि हम मान लें कि काव्य का उद्देश्य सौन्दर्य का बिम्ब प्रस्तुत करना है और सौन्दर्य का बिम्ब काव्य की दृष्टि से ऐसा होना चाहिये जो देश-काल की परिस्थिति और ग्राहक-समाज की भावना के अनुकूल हो, तो कालिदास कृत 'शाकुन्तल' को हम उस युग की

यथार्थ अनुभूति मानेंगे। आज यदि कवि वैसा ही चित्रण करने बैठे तो कहाँ से वह वैसा बिम्ब ग्रहण कर प्रस्तुत करेगा। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' में चित्रित सीता तुलसी कालीन सभ्यता की कुल-वधू है और 'साकेत' में चित्रित लक्ष्मण और सीता आज के देवर-भोजाई हैं। केवल रूपों में अन्तर है, आदर्श में नहीं। हाँ, काव्य में व्यक्त बिम्ब को उसी रूप में ग्रहण करने के लिये अनुकूल भावों की शिक्षा का अभाव उत्पादक की सक्रिय चेष्टाओं के कारण सदा बना रहता है। कवि उसको प्रतिक्रिया के रूप में अपने युग की भावना से अनुरंजित बिम्ब ग्रहण कर प्रस्तुत करता रहता है। उसकी प्रतिक्रिया की व्यंजना-शैली उसकी प्रवृत्ति पर निर्भर है।

कवि के सम्मुख भावना प्रधान है, व्यक्ति नहीं, अर्थात् सौन्दर्य उसके लिए प्रधान है, व्यक्ति गौण। व्यक्ति उसके लिये सौन्दर्य निरूपण का मूर्त आधार मात्र है। जिस प्रकार मूर्तिकार श्वेत पत्थर में सौन्दर्य निर्माण कर सकता है, उसी प्रकार श्याम पत्थर में भी। पत्थर उसके लिये साधन है। पात्र (व्यक्ति) की उच्चता या हीनता में स्वयं सौन्दर्य नहीं है, उनको व्यक्त करने के ढंग में सौन्दर्य है। कवि-समाज की विकृति को हमारे सम्मुख रखना चाहता है। सुरूप के नष्ट हो जाने पर कवि कुरूप को अपने चित्रण के लिए चुनता है। कुरूप का चित्रण कवि इसी-लिये करता है कि वह उसमें सुरूप चाहता है। यही उसके अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का यथार्थ है जिसके चित्रण के द्वारा वह विकृति में संस्कृति की आकांक्षा करता हुए सौन्दर्य का निरूपण करता है। हमारे समाज की विकृति ही यथार्थ है, संस्कृति नहीं। संस्कृति हमारी उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति की लालसा ने हमें इस ओर अग्रसर किया है, किसी पलायन-वृत्ति ने नहीं। जग के उत्पीड़क व्यापारों से पीड़ित मन को अनंत की ओर ले जाने वाली रहस्यमयी या छाया-मयी भावना एक प्रयोगमात्र कहा जा सकता है, जिसके उद्गमका कारण पलायन वृत्ति नहीं, समाज की विकृति से उत्पन्न वही करुणा है जिसने अब हमें स्पष्ट रूप से प्रति-क्रिया की ओर अग्रसर कर दिया है। आज का कवि अपनी पलायन वृत्ति के कारण प्रगति की ओर अग्रसर नहीं हुआ है, वह समाज के उस ऐक्य के लिये लालायित है जिससे वह काव्य के यथार्थ रूप को प्रकट कर सके। उसकी दृष्टि में वह भी सौन्दर्य-निरूपण का साधन है, जो घृणित, दलित और पतित है। एक व्यभिचारी शोषक से कहीं अधिक सौन्दर्य उसको उस शोषित में दृष्टिगोचर होता है, जो शोषक की पूर्ति का साधन हो रहा है। उसको उसकी घृणा के प्रति राग नहीं, उसका राग है उसको सह-जाने की उस शक्ति के प्रति जो सत्य है और पावन है— यही उसका सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य को प्रगट करने को लालायित करने वाली मन की वह विचलित परिस्थिति है जिसने कवि की करुणा को जाग्रत कर दिया है। शोषक की प्रबलता के कारण शोषित की घृणित दशा में जीवन व्यतीत करने की विवशता को देख कर कवि की यह करुणा जब अपने सामान्य रूप में प्रकट होती है तो एक असीम दुःख की अभिव्यञ्जना होती है जिसमें शोक और निराशा की अनुभूति होती है।

जब यह करुणा पीड़ित के हित का चिन्तन लिए हुए विचलित कर देने वाले रूप में प्रकट होती है तो उसमें एक आवेगपूर्ण रोष की व्यञ्जना होती है, जिसमें पीड़क के प्रति विरोध, विद्रोह और क्रांति की अनुभूति हमें उस सीमा तक ले जाती है जहाँ पीड़क के नाश के अतिरिक्त साम्य की कोई सम्भावना नहीं। और जब यह करुणा पूर्ण मंगल की कामना का रूप लेकर चलती है तो एक सन्तुलित समता, सत्साहस, और साफल्य सम्भावना की व्यञ्जना होती है, जिसमें आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान की अनुभूति होती है।

प्रगति की यह चेतना अपनी आरम्भिक दशा में उत्पी-ड़क के द्वारा उत्पातों अन्यायों और अत्याचारों के मार्मिक चित्रण द्वारा हृदय में करुणा भावना का बीज अंकुरित करती है। यही करुणा विकसित होकर परिस्थितियों के अनुकूल सुख और दुःख की अनुभूति के आधार पर कवि में आशा और निराशा जाग्रत करती है। यह आशा और निराशा प्रेषक या भावक की उद्धार वृत्तियों के द्वारा

विविध भावों या मनोविकारों के रूप में प्रकट होकर ग्राहक में उन्हीं रागात्मक वृत्तियों को जाग्रत करती रहती है।

आज का प्रगतिवादी कवि करुणा के इसी बीज भाव के आधार पर अपने भावों की जो सृष्टि कर रहा है वह इतनी नवीन नहीं कि उसे हम दो-तीन वर्षों की कह दें, न हम उसे विदेशी ही मान सकते हैं। जिस रूप में आज हम में प्रगतिवादी भावना वर्तमान है वह एक दम उत्पन्न नहीं हुई, उसका क्रमिक विकास हुआ है। किसी भावना का रूप निश्चित होने पर ही उसका क्रमयुक्त नामकरण होता है। आज प्रगतिवाद का एक निश्चित रूप और मार्ग है। वह अपने प्रतिक्रियात्मक रूप को लेकर विकृति से संस्कृति की ओर बढ़ रहा है। हमारे विचार से भारतेन्दु काल से ही इसका आरंभ हो जाता है। अपने विकासोन्मुखी मार्ग की ओर बढ़ते-बढ़ते प्रगतिवाद ने अपनी जागृति और शिक्षा के कारण कुछ विदेशी तत्त्वों से भी साम्य ठहरा लिया—इससे वह विदेशी नहीं हो गया, क्योंकि उसकी अपनी समस्याएँ हैं, अपनी उलझनें हैं, जो सतत् देशी रही हैं। भारतेन्दु काल से आरम्भ होकर काव्य का क्षेत्र रहस्यवाद-छायावाद युग में इतना विस्तृत हो गया जिसके कारण प्रगति की यह भावना उसका एक अंग हो गई।

राष्ट्रीयता और मानवता आज प्रगतिवाद के प्रधान विषय हो गए। हमारी राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का आरम्भ में देशभक्ति के रूप में उद्गम हुआ। मानव-हित का चिन्तन लोकहित और समाज-सुधार की भावना से विकसित हुआ। हमारी निष्क्रियता ने ही समाज-सुधार की भावना को मानवता के रूप में परिवर्तित कर चिन्तन के क्षेत्र में डाल दिया है। 'भारतेन्दु नरकृति के कवि थे।' इससे यह सिद्ध है कि वे काव्य में राष्ट्रीयता और मानवता की प्रधानता देश के हित में आवश्यक समझते थे। जिस क्षोभ, व्यथा, पीड़ा और अवसाद ने भारतेन्दु की चेतना को इस प्रगति की ओर प्रेरित किया, वह क्षोभ, व्यथा, पीड़ा और अवसाद आज अपने प्रबल और विकसित रूप में हमारी विकसित प्रगति के मूल में बीज भाव हैं। इस क्षोभ व्यथा, पीड़ा और अवसाद के वे कारण भी आज अपने प्रबल रूप में वर्त्तमान हैं जिनके बीजारोपण पर भारतेन्दु ने आँसू बहा कर विवशता प्रकट की है। भारतेन्दु की देश-भक्ति, लोक-हित तथा समाज-सुधार और मातृ-भाषा की भावना ही आज के प्रगतिवादी काव्य के मूल विषय हैं। केवल मात्रा का अन्तर हो गया है।

अतीत गौरव के अभाव और वर्तमान ध्वंस ने काव्य का विषय बनकर उस काल के कवि की आत्मा को रुलाया। उत्पीड़न, अन्याय और अत्याचार ने उस युग के कवि-हृदय को कभी प्राचीन गौरव से टकराया तो कभी वर्तमान ध्वंस से। इससे जो रागात्मक स्पन्दन हुआ वही देश प्रेम या देशभक्ति के रूप में विकसित हुआ। आज उसने राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया है। स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीयता का विकास देश-पतन की करुण कहानी को लेकर देश-भक्ति के रूप में आरम्भ हुआ। देश की शासनसत्ता विदेशियों के हस्तगत होना ही इस भावना के उद्गम का कारण है। हमारा सामाजिक ध्वंस ही हमारी शासनसत्ता को विदेशियों को हस्तगत करने में सहायक हुआ। हमारी संस्कृति को विकृत करने में यह शासनसत्ता ही अधिक सचेष्ट रही। इस विकृति का प्रधान कारण अँग्रेजी शिक्षा था। अतः देश-भक्ति, सामाजिक अवस्था, शासन नीति, मातृ-भाषा आदि हमारे प्रगतिवादी काव्य के उक्त समय प्रधान विषय बने, जिनको क्षोभ, व्यथा, पीड़ा अवसाद (रोष, द्वेष) आदि भावनाओं से रंजित कर कभी यथार्थ रूप में, तो कभी व्यंग्य और उपहास रूप में व्यंजित किया गया।

मानवता से सम्बन्धित विविध विषय, जो आधुनिक प्रगतिवादी काव्य ने चुने हैं, उनका आधार लोकहित और समाज-सुधार है। भारतेन्दु-काल में समाज को इस हीन अवस्था में डाल देने के जो प्रयत्न आरम्भ हुए, वे ही रूप आज पूर्ण रूप से विकसित हो चुके हैं। अतः भारतेन्दु-काल में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जो भावनाएँ आरम्भ हुईं वे ही आज उग्र होती जा रही हैं। इस क्षेत्र में पहले काव्य लोकहित और समाज-सुधार विषयों को लेकर चला। परन्तु जब अँग्रेजी शिक्षा के कारण हमारी सक्रियता नष्ट हो गई और समाज-सुधार में कोई सफलता न

मिली तो यह भावना समस्या रूप होकर चिन्तन का विषय हो गई।

प्रगतिवाद की आरम्भिक अवस्था में केवल हृदय की प्रधानता रही। उस समय हृदय पर विदेशी प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना बुद्धि पर। अतः हृदय के अनुरूप बुद्धि का विकास न हो सकने के कारण संवेदन और मनन का सन्तुलन न हो पाया जिससे कवि-क्रिया में वेग न आसका। आगे चल कर बुद्धि ने जो विकास किया वह हृदय से हट कर, अतः भावना और चिन्तन का यहाँ भी सन्तुलन न हो सका जिससे काव्य में कभी भावों की उग्रता आने लगी और कभी विचारों की। भावों और विचारों की उग्रता के बीच हमारी चेतना एक मध्यम मार्ग बनाती चली है जहाँ संवेदन और मनन दोनों सन्तुलित रहे हैं। हृदय और बुद्धि का यह संयोग उत्पीड़ित की प्रतिक्रियात्मक प्रगति में सहायक हुआ है जिसके द्वारा समष्टि की रागात्मक वृत्तियाँ मनन करती और प्रगति की ओर अग्रसर होती रही हैं। यह चेतना इस जाग्रत रूप में हमें निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहने की स्फूर्ति को सदा स्वस्थ और चञ्चल बनाए रखती है और आवश्यकता पड़ने पर मङ्गल कामना में अत्याचारों-अन्यायों के बीच साहसपूर्ण आत्मोत्सर्ग की उमङ्ग भर देती है।

व्रज-भाषा-साहित्य में गद्य

श्री रामचन्द्र तिवारी

[व्रज-भाषा में वार्ता साहित्य को छोड़ कर गद्य के अभाव की बात प्रायः सभी जानते हैं, किन्तु उसके कारण पर बहुत कम विचार हुआ है। लेखक महोदय ने अपने इस लेख में इसी प्रश्न पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। वे इस कमी के दो कारण बतलाते हैं, एक तो यह कि गम्भीर विचारों की भाषा संस्कृत रही और व्रजभाषा भावों की भाषा रही। इसके अतिरिक्त उस समय का जन-जीवन निर्बल और अस्वस्थ था। उसमें विचारपूर्ण साहित्य की जो गद्य ही द्वारा अभिव्यक्त होता है न माँग थी और न पनपने की गुञ्जाइश। यह बात तो नहीं कि व्रज-भाषा में विचारपूर्ण साहित्य की क्षमता नहीं, किन्तु मैं लेखक की इस बात से सहमत नहीं कि उस कमी की इस युग में पूर्ति की जाय।—सम्पादक]

अर्थ शास्त्र ने कहा कि वस्तु की खपत है तो उपज भी होगी। मानव-मस्तिष्क जब तर्क के प्रति विशेष चैतन्य हो गया तो विज्ञान ने बताया कि आवश्यकता में से आविष्कार प्रस्फुटित होते हैं। दर्शन ने सहस्रों वर्ष पहले पा लिया था कि कार्य के पीछे कारण की सत्ता अनिवार्य है। संसार में किसी स्थान पर जो हो चुका है, जो हो रहा है, अथवा जो होगा वह सब एक शृंखला-सूत्र में ग्रथित है। किसी घटना के किसी अंश के अध्ययनार्थ उसके इतिहास की समीक्षा अपेक्षित है।

उत्पत्ति में वैयक्तिक होने पर भी साहित्य या वाङ्मय सामाजिक संस्था है। व्यक्ति से वह रूप पाता है। उसके प्राणों का स्पन्दन समाज की शक्तियों की क्रियाओं से बल प्राप्त करता है, और जन्म के पश्चात् उसका समस्त जीवन समाज का हो जाता है। रचयिता प्रायः नाममात्र रह जाता है।

काव्य (पद्य) और गद्य के मध्य में भाव एवं रूप की दृष्टि जितनी विभिन्न प्रकार रचनायें सम्भव हैं उनमें से कौन सी किसी काल में प्रोत्साहन पाती है और कौनसी क्षीणांग रह जाती है, इसका कारण सूक्ष्मरूप से उस काल के रचयिताओं में और रचयिताओं का अध्ययन करते हुए व्यापक रूप से उस काल के समाज में खोजना होगा।

मनुष्य की अधिकांश आवश्यकतायें सामाजिक राग से उत्पन्न होती हैं। केवल भोजन की आवश्यकता ही उसकी

अपनी एक वचनीय आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जितनी आवश्यकतायें हैं उनकी सृष्टि के बीज उसमें होने पर भी वे प्रायः पूर्णतया बाह्य उत्तेजनों पर निर्भर हैं।

किसी काल में साहित्य या वाङ्मय का प्रधान रूप क्या हो, इसका निर्णय प्रतिभाशाली भाषा-कलाकारों में तत्कालीन सामाजिक आचार विचारों की प्रतिक्रिया से हो जाता है।

व्रज-भाषा साहित्य संस्कृत साहित्य परम्परा का एक अंग है। जिस जाति का साहित्य संस्कृत में है उसकी सामाजिक स्थिति पर कुछ विचार आवश्यक हैं।

प्रगैतिहासिक काल के आर्य (भारतीय) निस्सन्देह आज की भाँति सुगठित समाज के रूप में नहीं थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य आपेक्षिक रूप से अत्यधिक प्राचीन न होने पर भी बताता है कि उस काल के समाज में व्यक्ति के अधिकार महान् थे। नर-नारी समान अधिकारों का उपभोग करते थे। राजनीति में व्यक्तियों की सम्मति अनिवार्य थी। प्रमुख बात यह थी कि किसी सीमांत से परे विदेशी जातियों से उनका सम्पर्क-सम्बन्ध सीधा था। वह जाति संसार के उन समाजों में से थी जिनका व्यक्तित्व दृढ़ था। समय आया कि संस्कृत साहित्य वाले हिन्दुओं का सम्पर्क निकट-वर्ती समाजों से सीधा न रहा। शकों ने, मुसलमानों ने और पीछे अँग्रेजों ने उस समाज को संसार के अन्य जीवित समाज एवं देशों से काट कर भारत की सीमा में बन्द कर दिया। हिन्दू समाज यदि किसी अन्य जीवित समाज के सम्पर्क में आया तो केवल अपने विजेता समाजों के, इस सम्पर्क से उसमें आत्महीनता की भावना का उदित होना अनिवार्य था।

उस समाज के राजनैतिक इतिहास की इस दिशा ने उसके वाङ्मय पर महान् प्रभाव डाला है। उसने केवल भावनाएँ ही नहीं साहित्य का आकार-प्रकार भी निश्चित किया है। जो सरिता थी और रहनी चाहिये थी, वह झील बन गई और झील के मध्य में स्थान-स्थान पर भूमि निकल आने से खण्डित होकर वह छोटे-छोटे ताल-तलैयों में परिवर्तित हो गई।

नदी अपने तटों की आकृति की ओर ध्यान नहीं देती। उनकी वक्रता में सौन्दर्य जीवन की तरलता द्वारा स्वतः ही सृजित होता है। यह तो नहर ही है जिसके तट बनाने संभारने होते हैं और सदा जिसमें से रेत खोद कर जल के लिए मार्ग बनाना पड़ता है। यदि जीवन में गति है, गति में ओज है तो वह आकार और रूप की चिन्ता नहीं करता। जीवन की प्रतिभा उसे जिस रूप में अभिव्यक्त करती है वही सुन्दर हो उठता है।

हमारा प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय अन्त्यनुप्रास के बन्धन की सृष्टि नहीं करता। जीवन उन्मुक्त दशा में बन्धन स्वीकार ही कैसे करेगा! यह तो जब जीवन गति-क्षीण हो जाता है, स्थैर्य पर आ जाता है, तभी वह कला और सौन्दर्य के स्थिर आकारों को स्वीकार करता है। कला क्षेत्र की नियामक रेखा गतिवान् समाज में कब तक स्थिर रह सकती है?

अन्त्यनुप्रासमय कविता की सर्वाङ्ग सुन्दर रचना भावातिरेक और संगीत के मिलने से हुई। जाति के कलाकारों ने इस क्षेत्र में महान् सृष्टि की जो ताजमहल से सत गुनी प्राचीन होने पर भी उससे अधिक उज्ज्वलता और लालित्य प्रदर्शन कर रही है।

जीवन में भाव-क्षेत्र के अतिरिक्त एक और भी क्षेत्र है। कदाचित् वह जीवन सुविधा के नाते अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह है विचार-क्षेत्र। विचार और भाव दोनों स्वस्थ साधारण जीवन के परस्पर पूरक अंग हैं। पर हमारा इतिहास संकेत करता है कि तुर्कों, फ्रांसीसियों, जापानियों और अंग्रेजों की भांति हमारी जाति का जीवन पिछले डेढ़ सहस्र वर्षों में स्वस्थ और साधारण नहीं रहा है। जब तक समाज अपना मार्ग निश्चित करने को स्वतंत्र था, तब तक समाज ने साहसी विचारकों को जन्म दिया। बाह्य सम्पर्क की प्रतिक्रिया उस पर स्वस्थ हुई।

पद्य, कहा जाता है कि, हृदय की भाषा है। यह भाषा सरल है, सीधी है। पर मस्तिष्क की भाषा-विचार—इतनी सरल नहीं होती। मस्तिष्क अनुभव से जानता है कि प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक तल पर एक भी ऐसा वाक्य नहीं कहा जा सकता जिसमें विशेषण अथवा क्रियाविशेषण की आवश्यकता न हो। वह मानता है कि संसार में शुद्ध सत्य उसे दिखाई नहीं पड़ता।

इस प्रकार की तर्क-वितर्कपूर्ण अभिव्यक्ति का आधर पद्य नहीं हो सकता। पद्य की सीमा इसका भार नहीं सहन कर सकतीं। जब वह उसे अपने में भरना चाहती है तो लगता है कि वह आत्मघात कर रही है।

हिन्दुओं की ऐतिहासिक स्थिति और गद्य का विचारमय रूप; इन दोनों की सहायता से हमें व्रजभाषा में गद्य के प्रायः अभाव को समझ लेने में सरलता हो सकती है। व्रजभाषा में विशाल पद्य-साहित्य होते हुए भी गद्य क्षेत्र में वैष्णवों की वार्तायें ही जीव विन्दु के सदृश नग्न पड़ी हुई हैं। उनके अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय प्रयत्न उस भाषा में उस काल में नहीं हुआ। लल्लूलाल की भाषा वास्तव में खड़ी बोली के प्रथमलिखित रूपों में से एक रूप है। इस गद्य के पीछे की प्रेरणा व्रजभाषा-साहित्य-सृजक प्रेरणा से बिल्कुल भिन्न है।

उपर्युक्त विवेचन से हम एक मोटे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी काल में यदि किसी भाषा में गद्य का अभाव है तो यह प्रायः निश्चित है कि वह भाषा उस काल में जाति के विचार-लेखन की भाषा नहीं थीं। विचारों की प्रकृति एवं उनके अभाव के विषय में तत्कालीन जातीय इतिहास से प्रकाश माँगना चाहिये।

हमें ज्ञात है कि व्रजभाषा के समानान्तर हिन्दू-साहित्य की एक धारा संस्कृत में भी प्रवाहित हो रही थी। तत्कालीन विद्वानों के विचार उस भाषा में अभिव्यक्ति पा रहे थे। व्रजभाषा विचार की भाषा थी ही नहीं। जब गद्य रूपी शरीर की आत्मा संस्कृत में रम रही थी तो व्रजभाषा का गद्य अनुप्राणित कैसे होता? वह केवल भाव की भाषा बनी रही। यदि व्रजभाषा भावों के साथ विचारों की भी भाषा होती तो खड़ी बोली का वर्तमान रूप इतनी सरलता से मान्यता प्राप्त करने में समर्थ न होता। संस्कृत अभाषित होने के कारण इस प्रतिद्वन्द्विता में भाग ही नहीं ले सकती थी। पिछले युग के हिन्दू-वाङ्मय के ज्ञान प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति विभिन्न प्राकृत साहित्यों के साथ-साथ तत्कालीन संस्कृत साहित्य का भी अध्ययन करे इस अध्ययन के अभाव में उसका ज्ञान निश्चय ही अंग-क्षीण होगा।

व्रजभाषा काल में जो विचार संस्कृत माध्यम द्वारा व्यक्त किये गये वे परिमाण में अधिक नहीं है। उनकी प्रकृति विस्तारोन्मुखी न होकर संकीर्णता की ओर गमन करती है। उसमें उत्फुल्ल जीवन के स्वास्थ्य का अभाव है। उनके लिये संसार में जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण कहने-सुनने को है ही नहीं। यह सब चिह्न जाति की तत्कालीन जीवन-धारा की क्षीणता के परिचायक हैं।

हिन्दी छन्दों के विषय में मात्रादि का नियम आज जितना कठोर है उतना व्रजभाषा काल में नहीं था। यह कठोरता विशेष सौन्दर्य के साथ जड़त्व की भी बोधक है, यदि जीवन में गति है तो वह इन नियमों द्वारा बँधे सरोवर के बाहिर स्वच्छन्द रीति से बह सकता है। जीवन के उन्मुख प्रवाह की इस प्रकृति ने वर्तमान काल में केवल अतुकांत ही नहीं वरन् कविता के उस रूप को जन्म दिया है जिसे प्राचीन सरोवरों के अभिभावक रबड़ छन्द की संज्ञा देते है।

व्रजभाषा में गद्य के अभाव का कारण प्रेस, कागज शान्ति, अवकाश आदि अनेकों अभावों में खोजा जाता है, पर वास्तविक कारण जातीय दुर्बलता-जन्य जातीय जड़ता है। जाति में स्वस्थ जीवन की क्षीणता है। ऐसा लगता है कि उस काल के जीवन को स्वच्छ वायु की आवश्यकता थी।

व्रजभाषा में गद्य का अभाव हमारे जातीय इतिहास की एक महान् घटना है। वह एक अकाट्य जीवन-सत्य की ओर संकेत करता है। वह घटना जितनी महान् है इस संकेत का मूल्य भी उतना ही महान् है।

जाति के इतिहास में व्रजभाषा परिच्छेद समाप्त हुआ जान पड़ता है, सत्रहवीं शताब्दी के व्रजभाषा-गद्य हमारे पास वार्ताओं में है। बीच में यदाकदा कुछ प्राप्य है। वर्तमान काल में यदि कोई व्रजवासी विद्वान् दो-ढाई सौ पृष्ठ जीवित व्रजभाषा गद्य के प्रस्तुत कर सके तो वे उस भाषा के इतिहास को महत्त्वपूर्ण योग दान करेंगे। विचार है कि व्रज-साहित्य मंडल इस कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता तो सुन्दर होता। व्रजभाषा ने जाति के सांस्कृतिक इतिहास में जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया है उसके नाते जाति के ऊपर उसका इतना अधिकार असंगत नहीं कहा जा सकता।

लहर : एक अवगाहन

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०
तथा उनके अनुज श्री नागरमल सहल एम० ए०

छायावाद की भावना में वस्तुओं के बाह्य रूप का स्वतः कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। बाह्य पदार्थ अधिकतर कवि की आभ्यन्तर विचार-धारा की छाया अथवा प्रतीक के रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। पन्तजी की प्रसिद्ध कविता 'छाया' बाह्यार्थनिरूपिणी नहीं है, उसे बहुतांश में कवि की मानसिक विचारधारा का प्रतीक ही समझिये। छायावाद में प्रतीक-पद्धति की प्रधानता होने के कारण कोई-कोई छायावाद को प्रतीकवाद भी कह दिया करते हैं। छायावाद और प्रतीकवाद के तारतम्य का विवेचन यहाँ अभिप्रेत नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि छायावादी रचनाओं में प्रतीक-विधान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बहुत-सी रचनाओं का नामकरण भी प्रतीक-पद्धति को लेकर किया गया है।

प्रसादजी की 'लहर' के लिए भी हम यही बात कह सकते हैं। लहर का आकार-प्रकार, उसका बाह्य रूप कवि का प्रकृत विषय नहीं हैं, आनन्द की वह लहर ही कवि का एकमात्र तथ्य है जो मनुष्य के मानस-समुद्र में उठा करती है और उसके जीवन को सरस, शीतल और स्निग्ध बनाती रहती हैं। 'लहर' में २६ छोटी तथा चार बड़ी कविताएँ संगृहीत हैं। सबसे पहले लहर पर ही एक कविता है जिसको लेकर पुस्तक का नामकरण किया गया है। जीवन में शुष्कता आती हुई देख कर लौटती हुई आनन्द की भावनाओं से ठहरने के लिये कवि अनुनय-विनय सी करता है। उसके कुछ गीतों का विश्लेषण नीचे दिया जाता है।

'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे'

यह कविता रहस्य-भावना से समन्वित है। प्रसाद एकसाथ ही कवि और दार्शनिक दोनों हैं। कोलरिज ने कहा है—No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound philosopher. अर्थात् बिना गम्भीर दार्शनिक हुए अभी तक कोई महान् कवि नहीं हो सका है। इस गीत में प्रेमी अपनी प्रेमिका को देखने की इच्छा करता है और वह बालों के अन्धकार में छिपने की विफल चेष्टा करती है। बालों से आच्छादित मुख को तो देखने की इच्छा और भी बढ़ जाती है, इससे तो कुतूहल और भी सजग हो जाता है। उस प्रियतम के चरण इतने सुकुमार हैं कि आहट न सुनाई पड़ने के लिए जब वह दबे पाँव आता है ! (आती है) तो दबा-दबा कर चलने से एड़ियों में खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई ऊषा की लालिमा के रूप में झलकती है। तुम यही तो चाहती हो कि मैं तुम्हारा रूप न देखलूँ—चलो, यही सही, मैं अपना सिर नीचे किये लेता हूँ, तुम भरपूर आँखमिचौनी का खेल खेललो, किन्तु तुम छिप ही कैसे सकती हो ! छिपने की चेष्टा करने के पहले अपनी हँसी तो रोको—हँस कर तुम अपने आप को व्यक्त कर ही दोगी। चरम सौन्दर्य का रहस्यमय रूप इस गीत में प्रकट हुआ है। यह सृष्टि वास्तव में उस अव्यक्त का ही व्यक्त प्रसार है। किसी न किसी रूप में उस अनन्त ज्योतिर्मय का आभास मिल ही जाता है। अव्यक्त भी किस प्रकार प्रेम का आलम्बन बन सकता है, यह भी इस गीत में सूचित कर दिया गया है। प्रसाद की इस कविता में हमें सूफ़ियों के-से रहस्यवाद के दर्शन होते हैं क्योंकि सूफ़ी भी परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य और प्रेम का आगार मान कर भाव-मग्न हुआ करते हैं तथा सृष्टि के सुन्दर पदार्थों में उसी अव्यक्त सत्ता का प्रतिबिम्ब देखते हैं। सौन्दर्य और प्रेम के वर्णन करने में प्रसाद की मनोवृत्ति विशेष रूप से रमती थी। यौवन और सौन्दर्य के अनेक मनोरम चित्र प्रसाद ने हिन्दी संसार को भेंट किये हैं।

'मधुप गुनगुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी'

'लहर' का यह गीत 'हंस' के आत्मकथा अङ्क में सबसे पहले दिया गया है। अनित्यता के कारण कवि को

आत्मकथा कहने की इच्छा नहीं होती। आत्मकथा सुन कर दाम्भिक समाज में गर्व का ही उदय होगा। कवि की कोमल मनोवृत्ति सरलता की विडम्बना नहीं देखना चाहती। अतीत के सुन्दर स्वप्न रह-रहकर कवि को याद आते हैं। सौन्दर्य और सुख के क्षणिक सुखों की स्मृति को वह बनाये रखना चाहता है। 'जीवन के वे सुन्दरतम क्षण योंही भूल नहीं जाना' 'मातृगुप्त' का यह गीत भी इस प्रसंग में अनायास स्मरण हो आता है। प्रसाद का कवि भावनोपजीवी अधिक है, व्यावहारिक उतना नहीं। 'लहर' की इस कविता के विशेष स्पष्टीकरण के लिए विनोदशंकर व्यास का 'प्रसाद और उनका साहित्य' देखिये।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

प्रसादजी का यह गीत प्रगतिवाद के इस युग में पलायनवादी मनोवृत्ति के निदर्शन स्वरूप (जो छायावादी काव्य की एक प्रमुख विशेषता समझी जाती है) बहुधा उद्धृत किया जाता है। संसार के कोलाहल और संघर्ष को छोड़ कर कवि किसी शान्त एकान्त स्थान का आश्रय लेना चाहता है जहाँ उसे कुछ राहत मिल सके। इसके अतिरिक्त वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःखात्मक सृष्टि को उसके पारमार्थिक रूप में देखने की भी आशा करता है। वहाँ उसे शुद्ध सच्चे ज्ञान की झलक मिल सकेगी और वह इस सृष्टि को भी ईश्वर का ही स्वरूप समझने लगेगा क्योंकि "श्रम और विश्राम के उस संधि-स्थल पर ज्ञान की दिव्य ज्योति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है। क्षितिज जिसमें प्रातः सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का मिलन-स्थल-सा दिखाई पड़ा करता है।" कवि ऐसे स्थान में जाना चाहता है जहाँ अश्रु के रूप में वेदना ढलक रही हो। तारे संध्या के अश्रु कहे गये हैं। इससे कुछ-कुछ मिलता-जुलता भाव ऋग्वेद की एक ऋचा तथा गीतांजलि में भी मिलता है।

"आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं,
प्रयत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधियद् पांस्तुभिश्चराव,
प्रप्रेंख ईखयावहै शुभेकम्।
वशिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं
चकार स्वपामहोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अहना
यान्नुद्यावस्ततनन्या दुवासः।।"

अर्थात् मैं और मेरा प्रियतम एक ही नाव पर बैठ कर बहुत दूर समुद्र में गए। मैं अपनी मौज में नाव पर लहरों के साथ झूमने लगा। मेरे प्रियतम ने नाव पर मुझे अपने बगल में बैठा लिया और मुझे एक गान सुनाने की आज्ञा देकर गौरवान्वित किया। यह एक अद्भुत अवसर था जब मेरे प्रियतम ने मुझे अपने प्रभातों और संध्याओं को संगीतमय बनाने का आदेश दिया।

"कथा छिलो एक तरीते केवल तुम आमि,
जाव अकारणे भेसे केवल भेसे;
त्रिभुवने जानवेना केउ आमरा तीर्थगामी,
कोथाय जेतेछि कोन देशे से कोन देशे
कूलहारा से समुद्र माझ खाने,
शोनाब गान एकला तोमार काने,
ढेउयेर मतन भाषा बाँधन-हारा,
आमार सेइ रागिणी शुनबे नीरव हेसे।"

अर्थात् यह निश्चय हुआ था कि एक नौका में केवल हम दोनों बैठ कर अकारण तैरते रहेंगे। तीनों भुवनों में यह कोई न जान पायेगा कि हम तीर्थयात्री हैं, कहाँ किस देश को हम जा रहे हैं। उस अनन्त सागर में मैं अकेला तुम्हारे कानों में गीत सुनाऊँगा। उस गीत की भाषा तरंगों की भांति निर्बन्ध होगी; उस रागिणी को तुम चुपचाप हँस-हँस कर सुनोगे। (गीतांजलि)

प्रसादजी के लिये कहा जाता है कि वे यात्रा बहुत कम किया करते थे। दशाश्वमेध घाट से मान-मन्दिर होकर अपनी बैठक की ओर आते-जाते उन्हें बरसों बीत जाते थे। "एक बार कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और एक दो बार प्रयाग—बस यही उनकी यात्रा का विवरण है।"

'हे सागर सङ्गम अरुण नील !' इस गीत के लिखने में उन्हें पुरी के समुद्र-तट से प्रेरणा मिली थी—ऐसा कहा जाता है। समुद्र के संगम पर टक्कर मारती हुई लहरें ऐसी जान पड़ती हैं मानो अपनी मर्यादा छोड़ कर लहरों के द्वारा समुद्र अपना हृदय ही खोल कर रख रहा हो। खारे उच्छ्वासों में उनकी आकांक्षाएँ ही प्रकट हो रही हैं। हिम-शैल-बालिका को तूने कब देखा !' गंगा को तूने कब देख लिया कि तू उससे मिलने के लिए इतना उतावला हो रहा है ! नदियों के प्रेमी के रूप में कवि लोग समुद्र का वर्णन करते आये हैं।* देवलोक से गंगा का आगमन हुआ है। वह देवलोक की अमर कथा की माया छोड़ कर तुझसे मिलने आ रही है। इसी मिलन-सुख की लालसा के स्वप्न को वह चरितार्थ करेगी। वह गंगा तेरी ही गोद में विश्राम माँगती है। प्रकृति-पुरुष का दार्शनिक सम्बन्ध भी यहाँ व्यक्त हुआ है। प्रकृति पर मानवी भावनाओं का मधुर आरोप (जो छायावादी रचनाओं में विशेषतः मिलता है) इस गीत में भी दृष्टव्य है।

'उस दिन जब जीवन के पथ में' यह गीत भगवान् बुद्ध के सारनाथ में आकर पहले-पहल संघ स्थापित करने तथा उनके व्यक्तित्व के व्यापक आकर्षण को लक्ष्य में रख कर लिखा गया है। कवि की मनोवृत्ति इस गीत में विशेष रमती हुई जान पड़ती है। इसलिये यह गीत पाठकों के लिये भी रमणीय हो गया है। संन्यासी के वेश में अकिंचन की भाँति भगवान् बुद्ध सारनाथ आये हैं। यद्यपि उनके हाथ में छिन्न पात्र मात्र था, तथापि उन्होंने अपने व्यक्तित्व से सब को वशीभूत कर लिया। इस अकिंचन संन्यासी के चरणों में अपना संचित धन अर्पित करने के लिए प्रेम की नदी उमड़ पड़ी। छायावादी कविताओं में रूपकातिशयोक्ति का भी विशेष प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इससे यह भ्रान्त धारणा न बनाली जाय कि रूपकातिशयोक्ति और छायावादी काव्य का अभिन्न संबन्ध है। 'बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से ?' 'आँसू' का यह पद्य रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण है, किन्तु आँसू के इस वर्णन में तो बहुत समय से चली आती हुई नख-शिख की परम्परा का ही अनुसरण है, और मुख के लिए विधु तथा बालों के लिए जंजीरों को उपमान बना कर जो सौन्दर्य-चित्रण किया गया है उसमें अर्थ-ग्रहण करने में कोई विशेष दिक्कत नहीं होती। किन्तु छायावादी कवियों ने लाक्षणिक वक्रता के आधार पर प्रस्तुत के लिये जो उपमान रक्खे, वे साहित्य में सर्व प्रचलित नहीं थे। छायावादी कवि किसी भी प्रकार के बंधन स्वीकार करने के पक्ष में न थे। नवीन शैली, नवीन भाव तथा नवीन छन्द के कारण वे रूढ़िबद्ध हिन्दी काव्य-साहित्य को उन्मुक्त वातावरण में ले आना चाहते थे और इस प्रयत्न में उनको बहुत कुछ सफलता मिली, इसमें आज भी कौन संदेह कर सकता है ? 'लहर' में से नवीन शैली की रूपकातिशयोक्ति के कुछ उदाहरण लीजियेः—

(१) काँटों ने भी पहना मोती = कठोर हृदय मनुष्यों के नेत्रों में भी भावावेश के कारण आँसू आ गए, अथवा कुटिल हृदयों ने भी शोभा धारण की।

(२) फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं = हृदय के कोमल भाव व्यक्त होने लगे।

(३) हृदयों ने न सम्हाली झोली = जनता अपना सर्वस्व लुटाने के लिये, न्यौछावर कर डालने के लिये तैयार हो गई।

(४) कहाँ छिपा था ऐसा मधुवन ! = प्रेम का इतना संचित भंडार कहाँ छिपा था ?

यद्यपि अभिव्यक्ति के प्रकारों की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि वे नायिका की विलास-चेष्टाओं की भाँति अनेक रूप धारण करते रहते हैं, तथापि अभिव्यंजना के समस्त रूपों का समावेश लक्षणा और व्यंजना में किया जा सकता है जिसका बड़ा मार्मिक विवेचन संस्कृत साहित्य में हुआ है। जनता जिस वेग से भगवान् बुद्ध के प्रति आकृष्ट हुई उसकी आशा स्वयं बुद्ध को भी न थी। वे भी इस भावावेश को देखकर चकित हो उठे थे। छिन्न पात्र में इतना रस सम्हालने की शक्ति न थी।

---

*मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥
(रघुवंश त्रयोदश सर्ग ६ श्लोक)

आनन्द से विह्वल होकर आशा अपने धन को मिला हुआ समझ कर बटोर रही है।

'आँखों से अलख जगाने को' इस गीत में तीन कल्पनाएँ हैं। (१) ऊषा का भैरवी के रूप में चित्रण है। यह किसी भीषण आकृति वाली स्त्री की आँखों की मादकता और ललाई है। यह स्त्री किसी अज्ञात का संकेत कर रही है। (२) ऊषा पूर्व दिशा की लाज भरी चितवन है। यह रात को क्रीड़ास्थल में घूम आई है। रात को जागने की खुमारी है जो नेत्रों में दिखलाई पड़ती है। (३) समुद्र के तट पर लाल वर्ण है मानो समुद्र का अंचल लहरों के रूप में उद्वेलित हो उठता है और वही अपनी छलछलाती हुई आँखों को पोंछ रहा है। समुद्र के हृदय को न जाने किसने व्यथित कर दिया है। रोने के कारण आँखें लाल हो ही जाया करती हैं। इस प्रकार इस गीत में क्रमशः भीषणता, शृंगारिकता तथा कारुण्य—तीनों भावनाओं का एकत्र समाहार है। कवि अपनी मन की लहरियों के अनुरूप ऊषा को भी भिन्न-भिन्न रूप में देखता है। यहाँ कल्पना ही अधिक सजग दिखाई पड़ती है।

'तुम्हारी आँखों का बचपन!' में भी कवि व्यतीत जीवन के लिए आह भरता है। आँखों में बचपन तब होता है, जब यौवन के प्रथम चिन्ह दिखलाई पड़ने लगता है। एक समय था जब ये आँखें हँस-हँस कर अपना मन हार जाती थीं। बसन्त भी तब सहचर बना घूमता था, फेरा लगाया करता था। मलय-पवन भी तब पुलकित हो जाया करता था। स्नेहमय सुकुमार संकेतों में बिछल कर जब ये आँखें थक जाती थीं तो आँसू गिराने लगती थीं—गीलापन छिड़क देती थी—प्रेम के संकेत पाते ही आँखें आर्द्र हो जाती थीं। किशोरावस्था में वृत्तियाँ बहुत सरल-सुकुमार हुआ करती हैं। कवि पूछता ही रह जाता है—

> सरलता का वह अपनापन—
> आज भी है क्या मेरा धन—

'वे कुछ कितने सुन्दर थे!' यह गीत 'तेहि नो दिवसा गताः' का स्मरण दिलाता है। सावन के घने बादलों का सौन्दर्य इन आँखों की छाया-मात्र था क्षितिजव्यापी अम्बर में फैले हुए बादल सरिता के कूल को चूम-से रहे थे। प्राणों का पपीहा जिस हरियाली को देख कर पुकार उठता है, ऐसी हरियाली रस की वर्षा कर रही थी। उन चित्रों को देख कर मेरे जीवन की स्मृतियाँ भी जाग पड़ती थीं। वर्षा में कवि को यौवन याद आता है। वैसे भी वर्षा को उद्दीपन विभावों में माना गया है। 'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।' 'मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्रान समाजा रे!' प्रसाद की ये पंक्तियाँ भी बहुधा उद्धृत की गई हैं। यहाँ कवि प्रिय को सम्बोधित करता है। 'जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ' इसमें भी कवि का हृदय प्रिय के दर्शन के लिए आकुल-व्याकुल है। 'जीवन-धन! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो' प्रिय के स्नेहालिंगन में ही कवि शीतलता का अनुभव करता है। 'वसुधा के अञ्चल पर यह क्या कन-कन-सा गया बिखर?' इस गीत के साथ कवि का हृदय उमड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। कमल पर के जल-बिन्दुओं के समान यह मानव-जीवन अत्यन्त चञ्चल है। इसमें दुख-सुख का चक्र चलता ही रहता है। लालसा निराशामय होने पर भी यह कितना निखर रहा है। कमल पर अलग-अलग पड़ी हुई दो बूँदें अगर संयोगवश मिल जाती हैं तो अनूठे सौन्दर्य का सृजन होता है, वैसे ही दो प्रेमियों का मिलन भी सौन्दर्य-सृष्टि में सहायता ही पहुँचता है। प्रेममय मिलन को देख कर संसार रुष्ट क्यों होता है? निष्ठुर जगत् को यह स्वाभाविक प्रणय-व्यापार क्यों अखरता है? 'गिरने दे नयनों से उज्वल—आँसू के कन मनहर। वसुधा के अंचल पर।' 'अपलक जगती हो एक रात' अभिव्यंजना के वैचित्र्य की दृष्टि से यह रीति भी महत्त्वपूर्ण है। कवि रात्रि को दुःख हरण करने वाली शक्ति के रूप में देखता है। माता की गोद में जैसे बच्चा निश्चिन्त होकर सो जाता है, उसी तरह रात्रि देवी के क्रोड में सब को विश्राम मिले। समस्त भूतल सो जाय—निर्निमेष जगती रहे केवल एक रात। दिन भर विपत्ति झेलकर जो रात को सो रहे हैं, उनको फिर विपत्ति के दिन न देखने पड़ें।

'जगती की मंगलमयी उषा बन करुणा उस दिन आई थी।' यह गीत मूलगन्ध कुटी बिहार के उद्घाटन समारोहोत्सव में मंगलाचरण के रूप में गाया गया था। बुद्ध क्या आये थे, स्वयं करुणा ही आई थी। प्राची की लालिमा के समान उनका लाल-लाल गेरुआ वस्त्र था। अज्ञानान्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए वे आए थे।

'पागल रे! वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।' यही प्रेम का रहस्य है, प्रेम आदान नहीं चाहता, प्रदान ही करता है। जो मनुष्य यह समझता है कि प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर जीवन में घोर निराशा छा जाती है, वह भ्रान्ति में हैं। मिलाइये—

'हाँ स्वामी! कहना था क्या क्या,
कह न सकी कर्मों का दोष।
पर जिससे सन्तोष तुम्हें हो,
मुझे उसी में है सन्तोष ॥ (साकेत)
"आमि निज सुख दुःख किछु न जानि।
तोमार कुशले कुशल मानि ॥ (चंडीदास)

इस गीत के आगे के (१) 'काली आँखों का अंधकार' (२) अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को ? (३) शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा। (४) अरे आगई है भूली-सी यह मधुऋतु दो दिन को इन चार गीतों में अन्त के गीत में एक सुन्दर भावना का चित्रण है—दो दिन को जीवन में यह सुख मिला है, इसकी अवरोधक किसी भी वस्तु को कवि सह्य नहीं समझता। कहता है—

"झाड़ खण्ड के चिर पतझड़ में भागो सूखे तिनको!"

सुख की घड़ियों में ही सौन्दर्य-सृष्टि हो सकती है—

"इस एकान्त सृजन में कोई कुछ बाधा मत डालो।"

'अन्तरिक्ष में अभी सो रही है' इस गीत में दिखलाया गया है कि रात्रि को जब सारा संसार विश्राम करता है तो भिखारी टूटा प्याला लेकर माँगता हुआ रास्ते से निकल जाता है। उस भिखारी के आने की खबर सुखी संसार को कभी होती ही नहीं—संसार कितना आत्म-विभोर रहता है। तारे पक्षी सभी निद्रामग्न हैं। कुछ भिखारी वस्तुतः ऐसे होते भी हैं जो प्रभात में थोड़ी देर के लिए भिक्षाटन करते हैं, फिर अदृश्य हो जाते हैं। आशा और निराशा के झकोरे में प्रेम का भिखारी झूलता रहता है। सुख-दुख के डग वह भरता रहता है। अपनी दर्द भरी पुकार सुना कर भिखारी तो चला जाता है। सोने वालों को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं—मानव की स्वार्थपरायणता और उसकी सुख-निद्रा पर यह व्यंग्य-सा लगता है।

"लहर" प्रसादजी की स्फुट कविताओं का सुन्दर संग्रह है। इसमें कवि की प्रौढ़ शैली के दर्शन होते हैं।

"हिंदी वाङ्मय में एक दुखद विकृति देखने में आ रही है। आज जिस साहित्य का सृजन हो रहा है उसमें ऐसी भावनाओं की प्रतिष्ठा की जाती है जो मानवता को रसातल के गर्त में ले जायेंगी। उस कवि ने समाज, जाति एवं राष्ट्र के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं किया जिसने अपने ही भाई-बहनों को बहकाने वाली रचनायें दी हैं। जब राष्ट्र को उठने वाली संजीवनी देने की आवश्यकता हो तब उसे बैठाने वाली रचनायें देना देशद्रोह नहीं तो क्या है?

भले ही उनमें मेरा ही नाम पहले क्यों न आए, मैं ऐसे समस्त कवियों को चाहूँगा कि कहीं सुदूर ध्रुवप्रदेशों में निर्वासित कर दिए जायें, जिन्होंने कविता के कनक कटोरों से जनता को चिर निद्रित करनेवाला, चेतना घातक वासना का विष पिलाया है।

साहित्यकार का कर्तव्य है कि जनता के सदाचार की रक्षा करे, न कि उनके मानसपटल पर व्यभिचार के मधुर, मोहक चित्र अंकित करे।"

—सोहनलाल द्विवेदी
('प्रभाती' की प्रस्तावना से)

साहित्य का नवीन दृष्टिकोण

प० गुरुनारायण पाण्डेय साहित्यरत्न

[प्रस्तुत लेख में वर्णित साहित्य का नवीन दृष्टिकोण नितान्त नवीन तो नहीं है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कुछ नाटकीय नवीनता के साथ की गई है। यह दृष्टिकोण जीवन का सम्पर्क नहीं वरन् उसकी भीतरी तह में प्रवेश कराता है। लेखक का कथन है—संसार में धर्म नहीं जीवन प्रधान है, हमें अपनी भावात्मक व्याख्या द्वारा जीने में मदद पहुंचानी है आधुनिक साहित्य को जीवन के प्रति अधिकाधिक बफादार रहना है'.....' धर्म भी आखिर जीवनका एक रूप है और इस कारण उसका भी साहित्य में स्थान होना चाहिए। साहित्य को हम भी जीवन का बफादार बनाना चाहते हैं। उसी के साथ जीवन को उसकी पूर्णता में देखना चाहते हैं। लेखक महोदय ने जीवन की शाश्वत समस्याओं की उपेक्षा नहीं की है। वे वर्तमान समस्याओं को प्राचीन समस्याओं का रूपान्तर बतलाते हैं। इस दृष्टिकोण का हम स्वागत करते हुए। लेखक से इस बात में सहमत नहीं है कि किसी समुदाय विशेष के लेखक ही वर्तमान समस्याओं की यथार्थ अभिव्यक्ति कर सकते हैं। —सम्पादक]

साहित्य समाज की अच्छी से अच्छी प्रतिभा और भावना का स्रोत है। इसमें समाज को बहा ले जाने की शक्ति है। यह बराबर समाज को नया जीवन, नई शक्ति और नई स्फूरणा देता आया है। समय-समय पर इसमें भागीरथी की तरह बाढ़ आया करती है। जब-जब समाज व्यवस्थायें असफल हुई हैं, समाज में संघर्ष और इन्कलाब के कारण उपस्थित हुए हैं, साहित्य में संघर्ष हुआ है इन्कलाब हुआ है। साहित्य-महारथियों ने साधन-सम्पन्न व्यक्तियों और वर्गों का मनोरंजन करना छोड़, जीवन की आँधी पर चढ़ घनीभूत स्वार्थों और रूढ़ियों पर प्रहार किया है। साहित्य की यह वैतरणी इतिहास के साथ न जाने कितने मोड़ ले चुकी है। कितनी पहाड़ों, कितनी चट्टानों और कितने टीलों को काटती हुई आगे बढ़ी है। इसकी अन्तःसलिला धार में न मालूम कितने राजमहल, मठ-मन्दिर, अवस्था और व्यवस्थाओं के झाड़ झंखाड़ बह चुके हैं। जब कभी समाज की गति रुद्ध हुई है इस प्रवाह ने उमड़ कर धक्का मारा है और जीवन के रास्ते का कूड़ा कर्कट बहा ले गया है। पुराने साहित्य का उद्गम बहुत दूर है उसे छोड़ दीजिए इस युग के साहित्य पर ही एक सरसरी नजर डालिए।

भीमकाय मशीनों की विपुल उत्पत्ति जब थोड़े लोगों की वासना की तंग मोरियों में सड़ने लगी, संसार को विज्ञान के अद्भुत प्रयोगों से स्वस्थ और विशाल बनने की जो आशा बँधी थी जब उसमें टाड़ा लग गया तब साहित्य के प्रवाह ने किस तरह जोर मारा। महात्मा टालस्टाय की प्रतिभा में कैसी बाढ़ आई। गोर्की ने मदर, सिंक्लेयर ने आयल, रोमांरोला ने क्रिस्टाफर, बारबूस ने अन्डरफायर, शोलोखाव ने डानफ्लोज आन क्लायट, प्रेमचन्द ने गोदान जैसी रचनाओं से संसार के हृदय को किस तरह हिला दिया। संसार भर में प्रतिभा का कैसा जागरण हुआ। दुनिया के साहित्य ने किस तेजी के साथ धर्म और नीति युग से राजनीति युग में कदम बढ़ाया। कवियों ने संसार को माया और मिथ्या की पुरानी आध्यात्मिक दृष्टि से देखना छोड़ वास्तविकता की दृष्टि से देखना शुरू किया। प्राचीन रोमांस और आदर्शवाद पर यथार्थवाद का प्रभुत्व स्थापित हो चला। समालोचकों ने भी पैंतरा बदला। उन्होंने ठोस वस्तुवाद के आधार पर समाज के साथ साहित्य की समालोचना शुरू की, इतिहास के मौलिक विकास पर दृष्टि डाली। प्रकृति की लेबोरेटरी में झाँका। जीवन का वैज्ञानिक आधार ले भाषा और साहित्य को

मनुष्य तथा प्रकृति के संघर्ष के बीच की उत्पत्ति बताया। क्रिस्टाफर काडवेल ने Illusion and reality तथा राल्फ़ फाक्स ने The Novel and the people जैसी जबरदस्त आलोचनायें लिखीं। समालोचना का वैज्ञानिक मार्ग प्रशस्त हुआ। हमारे साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पन्त जैसे कवि ने युगान्त कर डाला। अपनी वेदना में छटपटा कर निरंकार देव गा उठा—

सत्य को जग के सफ़ूँ मैं कल्पना से जीत कैसे?
हो कहीं भगवान भी लेकिन अगर पाना असंभव।
तो मनोहर कल्पना पर मैं न अब उसकी मरूँगा॥
बाहुओं का तोलना ही विश्व में कुछ काम देगा।
रात दिन देखा करूँ मैं स्वप्न आशातीत कैसे?

किसी ने मानव को उभाड़ना शुरू किया तो किसी ने रोटी का राग अलापना। समालोचक का बरद हस्त भी उठ गया। पं० जगन्नाथप्रसाद जी मिश्र, चौहान आदि ने इस नये रास्ते की रहनुमाई शुरू की।

अब पुराने समालोचक का माथा ठनका।' उसने नए कवि और आलोचक को कला का गला घोंटने वाला—हत्यारा—धर्म का उपहास करने वाला—नास्तिक आदि कहकर गुर्राना शुरू किया। परन्तु नये समालोचक की जड़ उसकी प्रतिभा में थी। वह जीवन को प्रत्यक्ष सत्य की कसौटी पर जितना ही परखता गया उसके विश्वास की जड़ उसकी अन्तरात्मा में पहुँचती गई। आखिर एक दिन उसने डपट कर कह दिया—तुम हमें गुमराह करते हो। तुम्हारी पुस्तकों में दलबन्दी और मनुष्य की कटी छँटी प्रवृत्ति की झलक साफ है। अब हम तुम्हारी दार्शनिक स्वर्णोक्तियों की माया में फंसने वाले नहीं। हट जाओ, हमें इस भूखी अपमानित, आकुल आत्मा की राह साफ़ करनी है। नहीं देखते यह फलवती प्रतिभा किस विश्वास के साथ छाती में अमृत का घट चिपकाये संघर्ष के इस मरु पथ पर हाँफती आ रही है।

पुराने समालोचक ने अकड़ कर कहा—तो यही है तुम्हारा भावी कवि, कलाकार, साहित्यिक। उसने घूर कर कवि से पूछा—'क्योंजी, तुम्हें कबीर, सूर, तुलसी, केशव और विहारी का है कुछ पता।' कवि का थका, उतरा चेहरा जगमगा उठा। उसने हँस कर कहा—महाराज मैं तो इन महाप्राण कवियों का लिंकर हूँ। इनके भीतर मानवात्मा की, अपने समय के जीवन की, कला को जो अनुभूति है, मैं उस पर शतशत श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। परन्तु जब जीवन अचल नहीं है, संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, तब किसी कृति को अन्तिम अचल सत्य के रूप में स्वीकार कैसे किया जाय। वर्तमान को सतह के नीचे काम करने वाली शक्तियों का जिस पुस्तक के भीतर ठीक दिग्दर्शन हो, सम्भव है वह पुस्तक कुछ अधिक दिनों तक टिक जाय। परन्तु संसार की प्रत्येक कृति को आज या कल पुरानी तो पड़ना ही है। आज समय बदल गया है। संसार में धर्म नहीं, जीवन प्रधान है। हमें अपनी भावात्मक व्याख्या द्वारा जीने में मदद पहुँचानी है। आधुनिक साहित्य को जीवन के प्रति अधिकाधिक बफ़ादार रहना है। फिर हमें संसार को वास्तविकता की दृष्टि से देखना ही पड़ेगा। सतह के नीचे डूब कर संसार के भविष्य का निर्माण करने वाली भीतरी शक्तियों को ऊपर लाना ही होगा। संसार को असार गाकर केवल धर्म और प्रेम की मधुर कल्पना में हम आज की दुनिया को नहीं बहला सकते।

'तो तुम हृदय की कोमल वृत्तियों को छोड़ कर केवल वर्तमान आवश्यकताओं के कुछ कंकड़-पत्थरों से साहित्य का महल बनाना चाहते हो।' पुराने आलोचक ने कुढ़ कर कहा। कवि ने छाती पर हाथ रखते हुए उत्तर दिया—नहीं नहीं महाराज, प्रेम, उत्साह, हास्य, करुणा आदि वृत्तियाँ साहित्य में पहले भी प्रधान थीं और अब भी प्रधान हैं। अन्तर केवल समय के अनुसार उनकी अनुभूति में है। सूर, नन्द आदि का गोपी-कृष्ण प्रेम, जहाँ प्रेम और भक्ति की परमोपलब्धि में बिलीन हो जाता है, वर्मा और बच्चन का प्रेम समाज की दारुण चट्टानों से टकराकर हाहाकार करता हुआ लौट आता है। उन्हें प्रेम की सामाजिक परवशता तथा तज्जन्य दुर्दशा का तीव्र अनुभव होता है। वे आधुनिक समाज पर कटकटाते, दाँत पीसते तथा घूसा तानते हैं। आपकी राधा-गोपी को प्राचीन मूर्तियों तथा

हमारी विधवा और भिखारिणी की आधुनिक मूर्तियाँ अपने-अपने काल की प्रतिमाएँ हैं। हमें वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं के प्रति सच्चा तो रहना ही है।

पुराने समालोचक ने लम्बी साँस लेकर कहा—अच्छा तो तुम साहित्यिक होकर वैज्ञानिक बनने चले हो।

अब नए आलोचक से न रहा गया। उसने अपना मौन भंग किया। हाँ, तो आप साहित्य की व्याख्या चाहते हैं। आपको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि साहित्य केवल उर्वर मस्तिष्क की कल्पना की उपज नहीं है। वह परिवर्तनशील वस्तु जगत्, प्रकृति और मानव-समाज की उपज है। किसी कवि की कल्पना-मूर्ति अथवा उपन्यासकार के चरित्र की सृष्टि केवल उसके दिमागी मसालों से नहीं होती, उस संसार के तत्त्वों और संकेतों से होती है जिसमें उसकी जड़ है। देखिये, अरेवियन नाइट जैसी कपोल कल्पना में भी तत्कालीन बगदाद का जैसा वर्णन मिलता है, वैसा उसके बाद के बर्टन, लारेंस आदि के वर्णनों में नहीं मिलता। आपका यह समझना भी ठीक नहीं कि कवि का विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं, वह एक मात्र भावुक कलाकार है। उसकी कल्पना की जड़ इस भौतिक जगत् से परे एक आध्यात्मिक दुनियां में है। यह युग समस्याओं का है। समस्याओं की इस दुनियां में विज्ञान की तरह साहित्य भी संसार की व्याख्या में रत है। हाँ, उसकी व्याख्या विज्ञान की अपेक्षा अधिक भावात्मक और कम बौद्धिक होती है। विज्ञान जहाँ भौतिक जगत् की विचारात्मक व्याख्या करता है, साहित्य कल्पना की मदद से हमारे सामने उसका प्रभावशाली चित्र रख देता है। यह ठीक है कि प्रेम, उत्साह, हास्य, करुणा, वैराग्य प्रभृति जिन वृत्तियों की प्रेरणा साहित्य में प्रधान रहती है, वे हृदय की अन्तर्वृत्तियाँ हैं, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उन्हें उभाड़ने वाला बाह्य जगत का समवेदन ही है।

आखिर आप बुजुर्ग आलोचक भी इस भौतिक जगत् को अनन्त आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति का स्थान तो मानते ही हैं, फिर इस प्रत्यक्ष जगत् की उपेक्षा कर आपकी समालोचना कैसे पूर्ण होगी। मेरे विचार से तो चाहे किसी काल का साहित्य हो, उसकी आलोचना करते समय हम वास्तविक जगत् से जितना ही अलग रहेंगे हमारी आलोचना उतनी ही सीमित और तर्कशून्य होगी, तथा आन्तरिक सत्य को वस्तु जगत् की जितनी ही निकटता के साथ समझने की चेष्टा करेंगे, हमारी आलोचना उतनी ही पूर्ण और वैज्ञानिक होगी। अनुभवजन्य प्रत्यक्ष जगत् को छोड़ देने से हमारे साहित्य की प्राण-शक्ति घट जायगी। मैं यहाँ प्राचीन के वकील के मुकाबिले नवीन की वकालत नहीं कर रहा हूँ। देखिये, मेरी रद्दी की टोकरी में वह आज का एक उपन्यास पड़ा है। उसमें किस लक-धक के साथ मिल में काम करने वाली एक सुन्दर मदूजर लड़की मिल-मालिक के लड़के से व्याह दी गई है। मैंने उसे इसलिये नहीं फेंक दिया है कि वह मेरे दृष्टिकोण के विरुद्ध है, बल्कि इसलिये फेंका है कि उसमें अनुभवजन्य प्रत्यक्ष सत्य का गला घोंटा गया है। यह समझते हुए भी कि हम भूत में नहीं, वर्तमान में रह रहे हैं, और भविष्य के लिए रह रहे हैं, हम वर्तमान के अन्धाग्रही नहीं हैं। भूत की वे पुस्तकें जिनमें अपने समय के जीवन की गहरी अनुभूति है हमारे लिये पाठ की वस्तु है, हम किसी ग्रन्थका मूल्याङ्कन केवल ऊपर-ऊपरके वर्णन को लेकर नहीं, भविष्य में अंकुरित होने वाले भीतर के सत्य को लेकर करते हैं।

पुराने समालोचक ने सिहर कर कवि की ओर देखा। कवि का हृदय पिघल आया। वह हाथ पकड़ कर कहने लगा मार्गदर्शक, किसी दिन मैं भी आप की ही तरह एकमात्र प्राचीन कृतियों का हिमायती था। आज भी उन पर श्रद्धा है। परन्तु जीवन के कठोर सत्य ने कान पकड़ कर चेता दिया। अब मैंने आधुनिक समाज के ढाँचे तथा उसे भीतर-भीतर खाने वाली प्रगतिशील शक्तियों को अच्छी तरह समझ लिया है। अब तो कोई भी आधुनिक पुस्तक मुझे तब तक नहीं रुचती जब तक वह कम-बेस इस सत्य को स्वीकार न करती हो कि इस समाज व्यवस्था का अन्त अवश्यम्भावी है। यों तो आज के सभी होनहार लेखक आज की संकटापन्न आर्थिक अवस्था, बेकारी तथा महायुद्ध की भीषणता का अनुभव करते और अपनी कृतियों में इनका वर्णन भी करते हैं; परन्तु स्वयं प्रगति के पथ पर न होने के कारण उनके भीतर काम करने वाली क्रान्तिकारी शक्तियों को व्यक्त नहीं कर पाते। इससे उनका चित्र निष्प्राण रह जाता है। उसमें भावी संसार

की झलक नहीं आ पाती। हमारे बहुत से लेखक, जिनकी कलम में काफी जोर था, जो संसार के बड़े-से-बड़े लेखकों की कोटि में आ सकते थे, हकी-की सत्य को कहने में असमर्थ होकर बढ़ नहीं पाये। भाषा में प्रगाढ़ पाण्डित्य, निरीक्षण की पटुता, मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के बावजूद भी परिवर्तन का नियम स्वीकार करने का साहस न होने के कारण उनकी कृति का भावी मूल्य घट गया। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने सत्य से आँख चुराई। इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि उन्होंने सत्य का पूर्ण चित्र खींचना चाहा, परन्तु चाहते हुए भी असफल होगये। कारण यह था कि अपने प्रतिदिन के जीवन में वे उस सत्य से उल्टा जा रहे थे। जिस सत्य का लेखक ने अपने व्यावहारिक जीवन में तीव्र अनुभव नहीं किया उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति वह कैसे कर सकेगा। वह चाहे कितना भी ईमानदार और बुद्धिमान हो, यदि उस समाज के आदर्शों के साथ चिपका हुआ है जिसकी जवानी खत्म हो चुकी है तो सचाई को पूरा-पूरा ग्रहण कैसे कर सकेगा? क्षीणकाय सामाजिक आदर्शों के साथ उसकी कला कैसे चमक सकेगी? प्रतिक्रियावादी समाज और आदर्शों के साथ वह ऐसी चीजें लिख जायगा जिनमें रहस्य तो बहुत होगा, परन्तु जो भविष्य के काम की न होंगी। आज की संकटापन्न आर्थिक अवस्था (visis) फासिज्म की वृद्धि, युद्ध की भयङ्करता ऐसी घटनाएँ हैं जो किसी भी अच्छी प्रतिभा को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकतीं। हमारे लेखक भी इन घटनाओं से प्रभावित होते हैं और अपनी पुस्तकों में कम-बेस इनका वर्णन भी करते हैं, परन्तु समाज की सच्ची वैज्ञानिक दृष्टि को पचा न सकने के कारण इस बात को ठीक समझ नहीं पाते कि इन घटनाओं का उनकी दुनिया पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, तथा भविष्य में क्या प्रभाव पड़ेगा। इसलिए हमारा साहित्य कुछ उथल-पुथल नहीं कर पाता। हमारा प्रतिनिधित्व कमजोर पड़ा हुआ है। अब मैं यह अन्तर से महसूस कर रहा हूँ कि हम साहित्यिकों को समाज के उस वैज्ञानिक आदर्श को ग्रहण करना ही होगा जो मनुष्य को अधिक सुखी, स्वतन्त्र गहरा और पूर्ण बनाने के लिए आविष्कृत हो चुका है। इतना ही नहीं उसके लिये होने वाले संघर्ष में सम्मिलित होकर उसका निकट अनुभव भी प्राप्त करना होगा।

'युवक तुम में इतना साहस है, अपनी कलम से नई दुनिया गढ़ना चाहते हो। नहीं जानते एक कवि और लेखक के लिए व्यवहार में संघर्षशील दल का साथ देना कितना कठिन है।' बूढ़े आलोचक ने कुछ गम्भीरता के साथ दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—

जानता हूँ महाराज, इसमें जीवन का खतरा है। अपने समय की प्रबल शक्तियों से अलग हो जाने—उनकी चक्की के पाट में पिस कर चूर हो जाने का डर है। परन्तु आप आशीर्वाद दें। हमारा जीवन हमारा विश्वास है। हम लोक-भय से अपने विश्वास की बलि नहीं चढ़ा सकते। जीवन की साधारण समस्याओं का कुहरा हमारे आत्मिक प्रकाश पर पर्दा नहीं डाल सकता।

अपनी परिस्थिति,व्यक्तित्व, यहाँ तक कि जीवन की भी चिन्ता न करके हमें अपने इस युग के सत्य की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति करनी ही होगी। बिना इसके हम इस युग की प्यास मिटाने वाली कोई महान् कृति नहीं दे सकेंगे। रोला के शब्दों में कलाकार का जन्म मनोरंजन के लिए नहीं होता, सुधार के लिए भी नहीं होता। वह मनुष्य जीवन की अपूर्णता का अनुभव करता है और उसकी पूर्ति के लिए छटपटा कर कला का आश्रय लेता है। आज हम केवल कुछ सुखी सम्पन्न व्यक्तियों की अपूर्णता का ही अनुभव नहीं कर रहे हैं, उस लक्ष लक्ष पीड़ित मानव के अभावों को महसूस कर रहे हैं जो हमारे सत् चित् और सुन्दर का आधार है।

सम्भव है भावी श्रेणी रहित समाज में हमारा मार्ग इतना कंटकाकीर्ण न हो। हम पग-पग पर मनुष्य की हार को स्वीकार न करें, हमारे लिए साहित्य का मसाला जीवन का हाहाकार न हो, हम सत्यं, शिवं, सुन्दरं की अनुभूति अपने और अपने समाज के भीतर पा जायँ। उस समय का साहित्य तो कुछ और ही होगा—परन्तु अभी तो साहित्य के लिये जबर्दस्त संघर्ष करना है। खतरा उठाकर भी आज की वास्तविकता को सच्चा रूप देना है। पुराने समालोचक ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया शुभस्तुते पन्थानः।

कबीर के राम

आचार्य श्रीमोहनशरण मिश्र, सा. व्या. आचार्य, विशारद

[कबीर ने राम को ब्रह्म के पर्याय रूप माना है किन्तु ब्रह्म एक व्यापक शब्द है उसके अनेक रूप हैं, उनमें तीन मुख्य है, ब्रह्म जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य तीनों से परे है। ईश्वर जो माया-पति रूप से जगत् का प्रकाशक और स्रष्टा है और कूटस्थ साक्षी जो घट-घट में वास करता है कबीर के राम इन तीनों रूपों में व्यक्त हुए हैं। जो लोग कबीर के ब्रह्म को केवल अन्तर में कूटस्थ रूप से देखते हैं, वे कबीर के साथ अन्याय करते हैं। लेखक ने समन्वय से समन्वय बुद्धि से काम लिया है। यह लेख भी 'कबीर का समन्वय' नाम की अप्रकाशित पुस्तक का एक अंश है। —सम्पादक]

महात्मा कबीरदासजी वेदांतियों के समान ही ब्रह्म और माया को लेकर ही सृष्टि का सब प्रपंच मानते हैं। इस बात पर भी दृढ़ हैं कि पूर्ण ब्रह्म का खंड नहीं होता। ईश्वर और ब्रह्म में अवस्थाभेदमात्र है, वस्तु-भेद नहीं; ब्रह्म की कोई अवस्था-विशेष न होने के कारण, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अपेक्षा उसे तुरीय (चतुर्थ) कहते हैं और उस अपेक्षा को भी त्यागकर 'तुरीयातीत,' या 'केवल तुरीय' कहते हैं। यही ब्रह्म जब जगत् के प्रकाशक अर्थात् मायापति के रूप से देखा जाता है, तब ईश्वर कहलाता है। यथा—"निरअच्छर ते अच्छर तैसे अच्छर छर विस्तारा" किन्तु मलिनसत्त्वा माया (अज्ञान) के द्वारा उसके अंश की कल्पना की जाती है, जिसे कूटस्थ या साक्षी कहते हैं। साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म से भिन्न नहीं। गृहाकाश और महाकाश में जैसे काल्पनिक भेद है, वैसा ही यहाँ भी भेद आरोपित है। साक्षी कूटस्थ तूलाविद्या का आश्रय और साक्षी ब्रह्म मूलाविद्या का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति में तूलाविद्या भिन्न-भिन्न (व्यष्टिभूत) और मूलाविद्या समष्टिभूत एक है। तूलाविद्या की भिन्नता ही साक्षी कूटस्थ की भिन्नता का कारण है। अतएव कबीरदासजी ने राम से ब्रह्म, ईश्वर, और कूटस्थ तीनों को लिया है—एक ही ब्रह्म तीन प्रकार से प्रकाशित जो है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मलिनसत्त्वा माया में पड़कर सत्व की मलिनता के कारण अनंत प्रतिबिम्बात्मक हो जाता है, और उनकी (प्रतिबिम्बों की) वह माया (मलिन-सत्त्वा) ही देह या कारण-शरीर कही जाती है। और कारण-शरीराभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहते हैं। मलिनसत्त्वा माया, तूलाविद्या, अज्ञान, कारणशरीर, अहंकार और नामरूपात्मिका ये सब पर्याय हैं। यथा—

'कबिरा' निर्भय राम जप, जब लग दीये बाति।
तेल घटा बाती बुझी तब सोवैगा दिन-राति॥

'कबीर' धनि वै सुंदरी जिन जाया वैस्नो पूत।
राम सुमिर निरभै हुआ सब जग गया अऊत॥
सतगुरु के परताप ते मिट गयौ सब दुख दंद।
कह 'कबीर' दुविधा मिटी गुरु मिलिया रामानंद॥

उपर के दोनों पद्यों में राम को परब्रह्म माना गया है और ध्येय-गेय भी। वह अर्थ और धर्मरूपी साधन पुरुषार्थ एवं काम तथा मोक्षरूपी फल पुरुषार्थ के प्रदाता के रूप में वर्णित है। उक्त पद्यों में परब्रह्मत्व का कथन जरा परोक्ष रूप से किया गया है और सेव्यत्व प्रत्यक्ष, अतः परब्रह्मत्वपरक दूसरा उदाहरण लीजिये।

बाबा अगम अगोचर कैसा; ताते कहि समझाऊँ ऐसा
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई;
सैना-बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई।
दृष्टि न दीसै, मुष्टि न आवै, बिनसै, नाहिं नियारा;
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करौ बिचारा।
बिन देखै परतीति न आवै कहै न कोउ पतियाना;
समझा होइ सो सब है चीन्है, अचरज होय अयाना॥

कोई ध्यावै निराकार को, कोइ पावै आकारा;
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जाननहारा।
काजी कथै कतेब-कुराना, पंडित बेद-पुराना;
वह अच्छर तो लखै न जाई मात्रा लगै न काना।
नादी, वादी, पढना-गुनना बहु चतुराई थीना;
कह कबीर सो परै न परलै, नाम-भक्ति जिन चीना॥

ई माया रघुनाथ कि वैरिनि खेलन चली अहेरा हो
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारें, कोइ न राखा नेरा हो
मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो;
जंगल में के जंगम मारे माया किनहुँ व भोगी हो।
वेद पढ़ंते वेदुआ मारे, पुजा करंते स्वामी हो;
अर्थ बिचारत पंडित मारे बांधेउ सकल लगामी हो।
सृंगी ऋषि बन भीतर सिर ब्रह्मा का फोरी हो;
नाथ मुछंदर चलै पीठि दै, सिंगल हूँ में बोरी हो।
साकत के घर करता-धरता, हरि भक्ताँ के चेरी हो;
कहहिं 'कबीर' सुनो हो संतो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो

ऊपर की पंक्तियों में नाम-रूपात्मक विराट् स्थूल जगत् से ब्रह्म भिन्न एवं अवाङ्मनसगोचर, दृष्टि का अविषय, श्रोत्र से अग्राह्य, परम सूक्ष्म, विस्मयास्पद, अनुभवगम्य सगुण और निर्गुण के बखेड़े से पृथक्, नादी, वादी, पठनशील, मननशील तथा बहुश्रुत चतुरों की पकड़ में भी नहीं आनेवाला कहा गया है। 'सैना-बैना कहि समुझाऊँ गूँगे का गुर भाई' तो स्पष्टतः अनिर्वचनीयता एवं अनुभव गम्यता का सार्टिफिकेट दे रहा है। 'दृष्टि न दीसै, मुष्टिन आवें, बिनसै, नाहिं नियारा' इन्द्रियातीत, अप्रत्यक्ष, अप्रमेय, निरनुमेय और दूरस्थ बता रहा है; किन्तु 'बिनसै नाहिं नियारा' का 'नाहिं' देहलीदीपन्याय से प्रत्यक्ष, प्रमेय एवं समीपगत कहने में भी दृढ़ता दिखा रहा है। काजी और पंडितों के कहने और किताब, कुरान, वेद तथा पुराणों में लिखने पर भी न तो वह 'अक्षर' दीख पड़ा और न उसकी कोई मात्रा (स्वर) ही सुन पड़ी। पर ऐसी विघ्न-बाधाएँ अभक्तों के लिये हैं, नामभक्ति-चिन्तामणि जिन लोगों ने पहचान ली, वे तो प्रलय में नहीं पड़ते, प्रत्युत पर (ब्रह्म) में लय हो जाती है (सायुज्य पा जाते हैं)।

हमने पहले कहा था कि वह 'केवल तुरीय' या 'तुरीयातीत' है, देखिये —

'आगे सून्य, स्वरूप अलख नहिं लखि परै;
तत्त्व निरंजन जान, भरम जनि चित धरै।

वह निरञ्जन तत्व है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की कालिमा से रहित है। जरा यह भी मिला लीजिए कि साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म ही है।

'सत्तलोक सत पुरुष बिराजै अलख अगम दोउ भाया है
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्महुँ पार जो गाया है
यह सब बातें देही मंदिर प्रतिबिम्ब अँड जू पाया है
प्रतिबिम्ब पिंड ब्रह्म है नकली, असली पार बताया है
कहैं कबीर सतलोक सार है पुरुष नियारा पाया है।'

मायापति ईश्वर एवं जगत के प्रकाशक के रूप में भी इसे वे फ़रमाते हैं, ऐसा हमने पहले कहा है, गौर कीजिए—

रोम-रोम में परगट 'करता' काहे भरम भुलाना;
कहै कबीर करता में सब हैं, करता सकल समाना
भेद बिना सब भरम परै, कोउ बूझै संत सुजाना।
मोको कहाँ ढूढ़ता बंदे ? मैं तो तेरे पास में,
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गँडास में।
नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डी, ना माँस में,
ना देवालय, ना मैं मस्जिद, ना काबे-कैलास में।
ना तो कौनो क्रिया-करम में, नहीं जोग बैराग में,
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पलभर की तालास में
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में;
कहै कबीर सुनो भइ साधो ! सब साँसों की साँस में

नोट—सैना बैना = सांकेतिक वचन। अऊत = आकूत = सांसारिक भाव। अया-अऊत = आवागमन, जन्म-मरण का चक्र। मुष्टि न आवै = स्पर्श-गम्य नहीं होता। बिनसै = छिपा रहता है, अतर्धान हो जाता है, (नश् अदर्शने)।

नोट—कतेब = किताब। अच्छर = वर्ण, अविनाशी। मात्रा = स्वर (स्वर = शब्द—सुशब्दे) आकृतिसूचक, परिमाण। काना = पाई, सहारा। लगै न काना = कर्णेन्द्रिय के लिये अगोचर है।

तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूँढ़े घास॥

यहाँ मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में' यह प्रकट करता है—ईश्वर जगत् के प्रकाशक के रूप में सकल वस्तुओंमें अनुस्यूत रहने पर भी अनासक्त है, हृदय-गुहा में रहता है। 'तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य बह्यतः' उपनिषद् का कथन कबीर को मान्य है। 'सब साँसों की साँस में' यह बतलाता है कि 'जगत् प्रकाश्य और ईश्वर प्रकाशक है।' पल भर की तलास में' से विदित होता है कि ज्ञान, मोक्ष और ब्रह्म प्राप्ति के लिए पिपीलिका-गति ही एक मात्र गति नहीं प्रत्युत शुक गति से एक ही उड़ान में भी सद्यः परम-प्राप्ति की जा सकती है।

जगत् प्रपंच में माया का हाथ भी है, सुन लीजिये—

'माया के सुख दुख करि जानै सरगुन सुपन-चलावै

माया महा ठगिनि हम जानी,
निरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी,
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी।
जोगी के जोगिनि ह्वै बैठी, राजा के घर रानी,
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी,
कहै कबीर सुनौ हो संतो! यह सब अकथ कहानी॥'

'परमातम में आतम, तैसे आतम मद्धे माया।'

परन्तु ज्ञान होते ही—दीदार को देखते ही माया का कुहरा फट जाता है, देहाध्यास (अहंकार, देहाभिमान) मिट जाता है, आत्माध्यासमात्र बच जाता है। जीव को अपने सहज स्वभाव सच्चिदानन्द रूप को छोड़ कर ईश्वरांश के ऐश्वर्य को खोकर संसारी होना ही देहाध्यास है। प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्था को पहुँचे पर बिम्ब से उसका साथ नहीं छूटता।

लघुता ते प्रभु मिले प्रभुता ते प्रभु दूर।
जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, जब 'हरि' हैं 'मैं' नाहिं
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाँहिं॥

तू-तू करता तू भया मुझ में रही न हूँ।
बारी तेरे नाम पर जित देखे तित तू॥

'साहिब' 'कबिर' सदा के संगी सब्द महल लै आवै
सुन्न सहर में बास हमारा जहँ सरबंगी जावै॥'

'ब्रह्म ते जीव, जीव ते मनइमि, न्यारा-मिला सदा ही

ऐसा प्रपंच (सृष्टि का खिलवाड़) अनादि परम्परा से चला आ रहा है।

स्फोटवादी वैयाकरणों के समान कबीर भी शब्द-ब्रह्मवादी भी हैं। जीव संसारी होने पर भी प्रेम-नगर में रहता है—

'प्रेम-नगर में रहनि हमारी।'

इसीलिये प्रेम के मर्मज्ञों को ही कबीर पंडित मानते हैं, केवल अध्येता को नहीं, व्यावहारिक सच्चे प्रेमियों को ही।

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

अवस्था भेद के सम्बन्ध से बिम्ब में भी भेद की कल्पना होती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् के भेद से जीव क्रम से प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। इन्द्रियों से विषय का ज्ञान जिस अवस्था में होता है उसे जाग्रत् कहते हैं। इन्द्रियों के उपरत होने पर जाग्रत्-संस्कारजन्य सविषय ज्ञान को स्वप्न कहते हैं, और जिस समय किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण शरीर में ठहरती है उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। पांचभौतिक देह को स्थूल शरीर कहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा और घ्राण, तथा पंचकर्मेन्द्रि—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, तथा पंचप्राण प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान तथा बुद्धि और मन इन सत्रह के समूह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनों का कारण आत्मा का ज्ञान है, जो आत्मा के आभास से युक्त होकर 'कारण शरीर' कहलाता है। जीव की भाँति तुरीय ब्रह्म भी ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् कहलाये। इसतरह अब (१) लिंगदेह, (२) लिंगदेह में स्थित चिच्छाया और (३) अधिष्ठान चैतन्य, तीनों मिलकर जीव कहलाये। देखिए—

साहिब = ब्रह्म। 'कबिर' = जीव

आतम में परमातम दरसैं, परमातम में साईं।
झाईं में परछाईं दरसै, लखै 'कबीरा' साईं॥

एवं प्रकारेण तीन प्रकार के जीव हुए (१) पारमार्थिक, (२) प्रातिभासिक, (३) और व्यावहारिक।

"निरअच्छर, अच्छर, छर आपै मन,
जिव, ब्रह्म समाया।"

इस पंक्ति में व्यतिक्रम से मन, जीव, ब्रह्म को क्षर, अक्षर और निरक्षर माना गया है। साथ ही प्रत्येक ऊपर की रीति से तीन प्रकार के बताये गए हैं। कूटस्थ को पारमार्थिक जीव, चित् जड़ की ग्रन्थि वाले प्रतिबिम्ब को प्रतिभासिक जीव और लिंगदेह वाले को व्यावहारिक जीव कहते हैं। यही लोक-परलोक में आने-जाने वाला, स्थूल (भौतिक) शरीर में बँधने-छूटने वाला पर लिंग शरीर से सतत बद्ध रहता है।

जल-तरंग जिमि जल ते उपजै,
फिर जल-माँहि रहाई।
काया झाँईं पाँच तत्व की,
बिनसे कहाँ समाई?

अतः जब तक लिंग-देह का विनाश नहीं होता, जड़ चेतनवाली अज्ञान की गाँठ नहीं छूटती, तब तक तोप पँच तत्व की झाँईदार काया में समाना ही है। अतः सहज स्वरूप की प्राप्ति का ग्रन्थि-भेद के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं—

आप ही भक्त, भगवन्त है आप ही,
और नहीं दूसरा अर्ज सुने जी।
मुक्त होवै, छुटै बन्धन सेती तवै,
कौन मरै तिसे कौन मारे?
अहंकार तजै, भयरहित होवै तवै,
कौन तरै? तिसै कौन तारै?

गोसाईं जी भी तो यही कहते हैं—

मैं तैं तोर तोर तैं माया।

तुलसिदास मैं मोर गये बिनु,
जिव सुख कबहुँ कि पावै।

ग्रन्थि-भेद होते ही सर्वत्र 'तत्वमसि' का अभेद बोध हो जाता है—

तत्वमसी इनके उपदेसा।
ई उपनिषद कहैं सन्देसा॥
कबीर धारा अगम की,
सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो,
स्वामी संग लगाय॥

फिर तो वह विश्वात्मा विश्व रूप बन जाता है 'ब्राह्मणे गवि हस्तिनि; शुनिचैव श्वापाके च पण्डिताः समदर्शिनः' हो जाता है—

साधो! एक रूप सब माहीं;
अपने मनहिं विचारि कै देखौ और दूसरा नाहीं॥
एकै तुचा, रुधिर पुनि एकै विप्र-सूद्र के माहीं।
कहीं नारि, कहिं नर होइ बोलै, गैब पुरुष वह आहीं॥
आपै गुरु होइ मंत्र देत है, सिख होइ सबै सुनाहीं।
जों जस गहै, लहै तस मारग, तिनकै सतगुरु आहीं॥
सब्द पुकार सत्त मैं भाखौं, अंतर राखौं नाहीं।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निर्मल बिरले ताहि लखाहीं॥

भजूँ तो को है भजन को तजूँ तो को है आन?
भजन-तजन के मध्य में सो कबीर मन आन॥

वह तत यह तत एक है, एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिए, मेरे जिय की बात॥

'कबीर मन मृतक भया दुर्बल भया सरीर।
पीछे लागै हरि फिरै कहै कबीर-कबीर॥

इस तरह जीव ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मभूत एवं प्रसन्नात्मा होकर शोक मोहादि से निवृत्त हो जाता है। सारांश यह कि अविद्या के शमन होते ही उसके शेष चारों पर्व अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भी नष्ट हो जाते हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मा के भान को अविद्या कहते हैं। चित्शक्ति और जड़-शक्ति (बुद्धि) की एकात्मता को अस्मिता कहते हैं। भोक्तृशक्ति और भोग्यशक्ति की एक स्वरूपापत्ति

(अभ्यास) ही योग है, यदि दोनों पृथक् करदी जायँ तो कैवल्य हो जाय। सुख के जानकार की सुखानुस्मृति-पूर्वक सुख या सुख के साधन की तृष्णा ही 'राग' नाम से अभिहित है। दुःख के जानकार को दुःखानुस्मृतिपूर्वक दुःख या दुःख के साधन में होने वाले क्रोध को द्वेष कहते हैं। मरण-भय अभिनिवेश कहा जाता है। अभिनिवेश की चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) प्रसुप्त, (२) तनु, (३) विच्छिन्न और (४) उदार। जब चेत में ये शक्तिमात्र से अर्थात् बीजरूप से रहते हैं तब प्रसुप्त कहे जाते हैं। प्रतिपक्ष भावना के मारे हुए तनु अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

चाह गई, चिन्ता गई, मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए सोई साहंसाह॥

गायब हो-होकर पुनः-पुनः प्रकट होने को विच्छिन्न अवस्था कहते हैं। विषय में लब्धवृत्तिक को उदार कहते हैं—

'माला फेरत जुग गया मिटा न मनका फेर।'
'चोंच टूटि भुईं माँ गिरै चितवै ताही ओर।'
'तू तो रंगी फिरै बिहँगी, सब धन डारा खोई रे।'

कबीर कैवल्य से इन उपाधियों का नाश मानते है। सुरत ही को जीव ब्रह्म की एकता मानते हैं—

जपा मरै अजपा मरै अनहद भी मर जाय।
सुरत समानी सबद में ताहि काल नहिं खाय॥

इस तरह कबीरदासजी ने जीवन, जीवन के धर्म और प्रिय जीवन के मूल कारण पर निर्गुणवाद एवं सगुणवाद के समन्वय का मार्ग प्रस्तुत किया है।

पाठकों का पृष्ठ—

श्रद्धेय सम्पादक जी,

आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखवा कर अपने जून के अङ्क में प्रकाशित कर देंगे, उससे मुझे परीक्षा में बड़ी सहायता मिलेगी।

१—कलावाद, अभिव्यंजनावाद, रहस्यवाद और छायावाद के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण।

२—संत-साहित्य पर एक सरसरी नजर।

३—संतों का दृष्टिकोण शृंगार विरोधी होते हुए भी क्यों शृंगार रस से परिपूर्ण है?

४—संतमत के अन्तर्गत माया का जो रूप है क्या वह अद्वैतवाद की छाया से भिन्न है।

उत्तर कारण और उदाहरण सहित दीजिएगा तो ज्यादा लाभ होगा।

—रामप्रताप साह, हैडमास्टर बख्तियारपुर (पटना)

सम्पादक का निवेदन—

प्रश्न १ और २ के लिए 'साहित्य सन्देश' के पुराने अङ्क देखने होंगे। अभिव्यंजनावाद और कलावाद पर बा० गुलाबराय जी का एक लेख नवंबर १९४१ के अङ्क में निकल चुका है जिससे इस विषय की बहुत सी ज्ञातव्य बातें स्पष्ट हो जायंगी। श्री सुधांशु जी की महत्व पूर्ण पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद भी पठनीय है। छायावाद पर प्रो० नगेन्द्र जी का 'छायावाद की परिभाषा' अगस्त १९४४ के अंक में निकला है। इस सम्बन्ध में उनकी लिखी हुई "सुमित्रानन्दन पन्त" नामक पुस्तक दृष्टव्य है। इसी प्रकार रहस्यवाद पर भी कई लेख निकल चुके हैं। इस संबंध में 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' शीर्षक पुस्तक पढ़ने से विशेष लाभ होगा।

संतसाहित्य पर हाल ही में दो लेख निकल चुके हैं:—१ संत साहित्य की मूल चेतना लेखक प्रो० रञ्जन एम० ए० (दिसम्बर १९४४) २—सन्त साहित्य का युग लेखक श्री० प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (मई १९४८)। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इस विषय पर बहुत कुछ उपादेय सामग्री है। श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र की 'संत साहित्य' नामक पुस्तक भी पठनीय है।

प्रश्न ३ और ४ पर हम अधिकारी विद्वानों के लेखों का स्वागत करेंगे।

आलोचना

समीक्षाञ्जलि—लेखक और प्रकाशक कन्हैयालाल सहल एम० ए०। मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। और लेखक के यहाँ, बिड़ला कालेज, पिलानी। मूल्य १)

इस पुस्तक में ६ लेख आलोचना के शास्त्रीय विवेचन पर हैं; और शेष पुस्तक में 'गुञ्जन' और 'बापू' की प्रशंसात्मक व्याख्या है।

भूमिका में बाबू गुलाबराय ने कहा है कि निबन्धों में भारतीय सिद्धान्तों को प्रमुखता दी गई है यद्यपि उनमें पूर्व-पश्चिम दोनों के ही सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है, सहलजी ने रहस्यवाद और फ्रायड की आनन्द-कामना के सिद्धान्त का समन्वय नहीं किया यद्यपि वे दोनों के ही समर्थक हैं।

'कला का त्रिकोण'—नाम के निबन्ध में उन्होंने काव्य के तीन कारण बताये हैं। अतृप्त वासनाओं की तुष्टि (फ्रायड), साहित्य में चिरस्थायी होने और अपनी हीन भावना के प्रति विद्रोह (ऐडलर)। कला के इस त्रिकोण में भारतीयता का अभाव तो है ही, उसे पश्चिम का मान लेना भी दृष्टिदोष के ही कारण होगा। 'यशसे, अर्थकृते, शिवेतरक्षतये' वाला सिद्धान्त यथार्थ सत्य के ज्यादा नज़दीक है। ऐडलर और फ्रायड का मनोविश्लेषण घोर व्यक्तिवादी और एकांकी है। आंशिक सत्य को वह साधारण सत्य का रूप दे सकता है। अतृप्त वासना और हीन भावना की प्रतिक्रिया होने से कविता एक मानसिक व्याधि से ज्यादा कुछ नहीं रह जाती।

दूसरी तरफ रस को इतना महत्व देना कि भाव-विचारों का अपने तईं कोई महत्त्व नहीं रह जाये—यह भी पलायन का एक दूसरा रूप है। 'काव्य की आत्मा' रस है, इसीलिये काव्य में एक दृष्टि के यथार्थवाद और आदर्शवाद का तो प्रश्न उठाना ही अनावश्यक है, क्योंकि यथार्थवाद और आदर्शवाद का स्वत: कोई महत्त्व नहीं, ये तो रस सृष्टि के ही दो प्रकार है।' 'कला कला के लिए' की तरह यह 'रस रस के लिये' वाला सिद्धान्त हुआ।

काव्य-जन्य रस निराकार-निर्विकार है, मनुष्य के जीवन में उसकी सजीव प्रतिक्रिया नहीं होती—यह सिद्धांत बहुत जल्दी अलंकार प्रियता और चमत्कारवाद में परिणत हो जाता है। कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए सहलजी ने लिखा है कि कुन्तक ने आधुनिक साहित्य-विचार पद्धति का आभास दिया है। अपनी इस बात को साफ़ कर के उन्होंने नहीं लिखा ! वक्रोक्ति पर इस तरह ज़ोर देना साबित करता है कि निर्विकार रस का उपासक कितनी जल्दी उक्ति वैचित्र्य की मरीचिका की तरफ़ दौड़ पड़ता है।

सहलजी ने जिन मतों और विचारों की विवेचना की है, उनसे असहमत होते हुए भी उनकी विवेचना के मूल्य से इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिये नहीं कि कला-कला के लिये की तरह विवेचना केवल विवेचना के नाते अच्छी है, वरन् इसलिये कि इस पुस्तक से हिन्दी पाठक बहुत-सी नई बातों से परिचित होंगे। सहमत-असहमत होने का सवाल बाद का है; सब से पहले तो जानकारी की ज़रूरत है।

"गुंजन-गरिमा' में विस्तार अधिक है, फिर भी सहलजी ने पन्तजी के विकास में गुञ्जन की भूमिका की ओर उचित ही ध्यान दिलाया है। 'गुञ्जन' में 'युगान्त' का कवि बीज रूप में वर्तमान है, इसमें सन्देह नहीं। "रूपाभ, की रूप कामना "गुञ्जन„ से ही आरम्भ होती है। छाया-वाद के प्रसंग में लेखक ने उसे नई संस्कृति और नए जीवन दर्शन का विधायक कहा है। इस पर कुछ अधिक विस्तार और स्पष्टता से लिखने से पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता। फिर भी इस अंश को पढ़ने से "गुञ्जन को समझने में पाठकों को बड़ी सुविधा होगी।

"बापू-विमर्श" में व्याख्या और आलोचना कम, प्रशस्ति ज्यादा है। "बापू" में ओज का आभास है परन्तु आलंकारिकता और शब्द-जाल में ओज गुण खो गया है। इसी शैली में निरालाजी की "तुलसीदास" रचना में है जिसमें आलंकारिकता के साथ उच्चकोटि का भाव-सौंदर्य भी है।

अच्छी हिन्दी—ले० रामचन्द्र वर्म्मा, प्र० साहित्य रत्नमाला कार्यालय बनारस। मूल्य १।॥)

दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक को तैयार करने में लेखक ने अपनी सुदीर्घ साहित्य-सेवा और अनुभव से काम लिया है। हिन्दी के प्रयोगों पर यह अपने ढंग की पहली ठोस पुस्तक है। अशुद्ध हिन्दी के नमूने इकट्ठा करने में लेखक को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, और परिश्रम से अधिक कितने धीरज से उसने काम लिया होगा, यह पुस्तक पढ़कर ही जाना जा सकता है। हिन्दी-प्रयोगों के कोष की आवश्यकता होने पर अभी हमें इस "अच्छी हिन्दी" से ही सन्तोष करना होगा। यह निर्विवाद है कि इस तरफ हिन्दी के आचार्यों और मार्गदर्शकों को जितना ध्यान देना चाहिये था उतना उन्होंने नहीं दिया।

साहित्य-सम्मेलन के मञ्च से भू० पू० राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने हिन्दी शब्दों की हिज्जे का प्रश्न उठाया था। वर्माजी ने भी इस बात की चर्चा की है लेकिन हमारे सामने उसका कोई समाधान नहीं रक्खा उनकी पुस्तक में "आवेगा," "जावेगा" देखकर ऐसा लगता है कि "खायेगा," "पियेगा" के उदाहरण को वे प्रमाण नहीं मानते। ऐसी ही पच्चीसों बातें हैं जिनके बारे में अभी हिन्दी भाषी एक मत नहीं है। एकमत होने के लिये जरूरी है कि ऐसे विवादास्पद प्रयोग इकट्ठे किये जायँ, लेकिन अभी उस तरफ भी काम नहीं हुआ।

"भाषा की परिभाषा" और "उत्तम रचना" के लक्षण बताने के बाद बर्माजी ने शब्द, अर्थ, वाक्य, क्रियाएँ, मुहावरे, लिंग, वचन, अन्य भाषाओं का प्रभाव-आदि-आदि कारणों से हिन्दी में जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं, उनकी मीमाँसा की है। अन्त में "हमारी आवश्य-कताएँ" बताकर हिन्दी को और समृद्ध बनाने का आग्रह किया है।

यह स्वाभाविक है कि सभी पाठक बर्म्माजी के प्रयोग सम्बन्धी विषयों से सहमत न होंगे। उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से कुछ तो अपवादस्वरूप हैं और हिन्दी लेखक साधारणतः उनका समर्थन न करेंगे। लेकिन कुछ ऐसे हैं जो अब हिन्दी के अपने हो गए हैं और जिन्हें निकालने का प्रयत्न करना पण्डिताऊ सनक से ज्यादा कुछ न होगा। 'प्रभावित', 'असफलता', 'बाढ़ पीड़ित', 'अछूतो-द्धार', 'संगठित' आदि शब्दों का उद्धार हो चुका है। अब अछूत-अछूत की रट लगाने से कोई भी प्रभावित नहीं हो सकता। और बाबू गुलाबराय की असफलताएँ देखकर कोई भी विफलता अपनाने के लिए तैयार न होगा।*

हिन्दी में क्या रहे, क्या न रहे, यह उसकी प्रकृति को पहचान कर ही बताया जा सकता है। और हिन्दी की प्रकृति क्या है, इस बारे में 'महाजनो येन गतः स पन्था' छोड़ कर दूसरी कसौटी नहीं है। वर्मा जी 'भूखहड़ताल' और 'पृष्ठभूमि' के बहिष्कार की सलाह देते हैं लेकिन Scorched earth policy के लिए 'सर्वक्षार नीति'

*बाबू गुलाबराय की भाषा प्रामाणिक नहीं है, यह भी उनकी भाषा सम्बन्धी असफलता का नमूना हो सकता है, किन्तु अब वे इस शब्द को छोड़ेंगे नहीं क्योंकि असफलता में सफलता का अभाव है और विफलता में केवल फल का।
—सम्पादक

को 'बहुत सुन्दर अनुवाद' कहते हैं। हिन्दी पत्रों ने जितना 'घर फूँक नीति' को अपनाया उतना इस विशुद्ध 'सर्वक्षार नीति' को नहीं।

इस तरह से मुमकिन है कि अनेक पाठक और भाषा के विशेषज्ञ वर्माजी के सुझावों से सहमत न हों, फिर भी इस पुस्तक को केन्द्र बना कर उन्हें इस विषय की चर्चा करनी चाहिए। हिन्दी के विकास को देखते हुए यह काम अब से बीस साल पहले हो जाना चाहिए था। इस पुस्तक को आँख मूँद कर अपना लेने से या उससे उदासीन हो जाने से भी काम न चलेगा। इसे आधार बना कर हमें इस विषय की खोज को पूरा करना चाहिये।

—रामविलास शर्मा एम. ए.

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—लेखक श्रीचन्द्रशेखर पाण्डेय, एम.ए., शास्त्री, साहित्यरत्न। तथा श्री शान्तिकुमार बाबूराम व्यास एम.ए.। प्रकाशक—साहित्य निकेतन, कानपुर। मूल्य ३॥) पृष्ठ संख्या ३२६।

हिन्दी में संस्कृत साहित्य का यह तीसरा इतिहास है। एक कन्हैलाल पोद्दार का दूसरा किन्हीं जोशी महोदय का जिसको मैंने एक बार सरसरी तौर से देखा था, तीसरा यह है। सेठ जी का इतिहास काव्य या साहित्य का इतिहास न होकर काव्य या साहित्य शास्त्र का इतिहास है। प्रस्तुत इतिहास काव्य शास्त्र का इतिहास न हो कर शुद्ध काव्य का इतिहास है। इसमें इतिहास के साथ परिचय और आलोचना भी है। यह परिचय ऐसा जिससे कि हिन्दी और संस्कृत के प्रत्येक सुसंस्कृत और विदग्ध कहलाने वाले सज्जन को अवगत होना आवश्यक है। आगरा विश्वविद्यालय ने पुस्तक को संस्कृत के बी.ए. के पाठ्यक्रम में स्वीकार किया है। यह पुस्तक की उपादेयता का प्रमाण है। हम यूनीवर्सिटी की इस नीति का हृदय से स्वागत करते हैं कि जहाँ वह संस्कृत के लिए भी अँग्रेजी और संस्कृत के अतिरिक्त और कोई माध्यम स्वीकार नहीं करती वहाँ उसने हिन्दी की एक पुस्तक को स्वीकार कर हिन्दी पुस्तकों के लिए प्रवेश द्वार खोल दिया है।

लेखक महोदय ने प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्रत्येक प्रकार के काव्य के प्रसिद्ध कवियों की सूची श्लोकबद्ध संस्कृत में दे दी है। वह विद्यार्थियों के लिए विशेष लाभदायक सिद्ध होगी।

कवि निर्णय करने में लेखकद्वय अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों के मत से ही प्रभावित हुए हैं, किन्तु स्वतन्त्र-बुद्धि के साथ। उन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया है। फिर भी हमको इस बात का खेद है कालिदास के समय के सम्बन्ध में पूरा न्याय नहीं हुआ है। यद्यपि अधिकांश लोग कालिदास को चौथी शताब्दी का मानते हैं, तथापि कुछ लोग उनको पहली शताब्दी के लगभग का मानते हैं। उस मत का उल्लेख भी न होना खटकता है। यदि वह अवैज्ञानिक था तो उसका प्रतिवाद किया जा सकता था। ऐसे ही दो एक भ्रांतियाँ और भी खटकती हैं। संस्कृत भाषा की महत्ता बतलाते हुए लेखकगण बाल्मीकीय रामायण के आधार पर कहते हैं कि हनूमानजी ने अशोकवाटिका में बैठी हुई सीताजी से संस्कृत भाषा में वार्तालाप किया। 'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्' लेकिन उसी के साथ एक दूसरा श्लोक है शायद उसकी ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया अथवा मेरे समझने में भ्रान्ति है।

—गुलाबराय एम०ए०

जीवनी और संस्मरण

प्रेमचन्द : घर में—लेखिका—श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस। मूल्य ३)

हिन्दी में संस्मरणात्मक साहित्य इतना कम क्यों है, समझ में नहीं आता, जब कि हिन्दी के क्षेत्र में धुरंधर राजनैतिक नेताओं से लगाकर सब प्रकार के कर्मण्य काम कर रहे हैं। उसमें भी बापू या मालवीयजी के साथ तीस दिन जैसे-ग्रंथ तो मिल जाते हैं; परन्तु एक स्व० हेमचन्द्र पर लिखी संस्मरणात्मक पुस्तक के अलावा इधर कई वर्षों से कोई साहित्यिक संस्मरणात्मक पुस्तक नहीं दिखाई दी। इस मरु-भू में शिवरानीजी जैसी प्रेमचन्द की निकटस्थ और उनके जीवन का अर्द्धांश व्यापने वाली महिला की लेखनी से निकली यह सुन्दर पुस्तक एक सुखद-शीतल 'ओएसिस' है। वैसे ही क्या वृद्धों के आतंक

पर लेखन में एक संस्मरणात्मक सिंहावलोकन का स्मृतियों की सुखद संतत-सरणि का आनन्द मिलता है। मराठी में स्वर्गीय ईसाई कवि तिलक की पत्नी का 'स्मृति-चित्रें' और हाल ही में श्री० कर्वेजी की पत्नी ने लिखा हुआ 'आम्हे पुराण' इस प्रकार के सुन्दर ग्रन्थ हैं। शिवरानीजी की प्रसन्न, प्रसादमयी, प्रवाही शैली में उसी प्रकार का आनन्द हमें मिलता है।

प्रेमचन्द के जीवन के अज्ञात प्रान्तों का एक बृहदाकार निकटवर्ती चित्र (क्लोज-अप) यह पुस्तक प्रस्तुत करती है। दुनियादारी में बुद्ध, सम्पादक, कहानी लेखक, गरीबी से जूझनेवाले आदर्शवादी, दयालु, परोपकारक, सादगी से सम्पन्न ग्रामीण, देशभक्त, मरीज आदि अनेक रूपों में प्रेमचन्द हमारे सामने आते हैं। सर्वत्र छाया की भाँति पुस्तक की लेखिका उनके साथ-साथ है। अतः पुस्तक में सर्वत्र एक बहुत ही कोमल आत्मीयता के दर्शन मिलते हैं। वह आत्मीयता मानवीय है और इसी कारण से मर्म्मस्पर्शी है। विशेषतः, बम्बई जैसे यांत्रिक शहर में प्रेमचन्द का पहुँचना और उसे छोड़ निकलना, जैनेन्द्र की माँ गुजर गई, सी क्लास आन्दोलन, मद्रास-यात्रा, प्रेम सम्बन्धी प्रकरण, साहित्य-रचना के स्फूर्ति-बिन्दु और यत्र-तत्र बिखरे पत्र प्रेमचन्द के हृदय के अन्तराल की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचन्द का आदर्शवाद उन्हें गान्धी या तालस्टाय की ओर क्यों खींचता था, इसके कारण-मीमांसा बौद्धिक विश्लेषण से उतनी नहीं मिलेगी, जितनी जीवन के इन पर्दाक्षों से।

'प्रेमचन्द : घर में' यह पुस्तक पढ़कर मैंने अनुभव किया कि इधर हिन्दी में भी संस्मरणात्मक साहित्य की कमी नहीं। कहते हैं कि 'एक संस्मरण बराबर लाख जीवनी लेखन' वह उक्ति इस पुस्तक को पढ़कर सार्थक होती है। हिन्दी में एक साहित्यिक की उसकी पत्नी द्वारा लिखी यह प्रथम जीवनी है, और अद्वितीय है।

—प्रभाकर माचवे एम० ए०

कहानी

अटैची केस—लेखक श्री शिवचन्द्र शर्मा 'अद्भुत'। प्रकाशक साहित्य-सेवक-संघ, मथुरा। पृष्ठ ८७, मूल्य १॥)

अटैची केस में लेखक की पाँच कहानियों का संग्रह है। 'गायडाड़' को छोड़ शेष चार कहानियाँ समाज के उस वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं, जिसे हम शिक्षित समुदाय कहते हैं। इस वर्ग की अपनी समस्याएँ हैं। अद्भुतजी की लेखनी उन समस्याओं का हल करने के लिए आगे बढ़ती हैं, पर जीवन के यथार्थ ठोस से टकरा कर उसे लौट आना पड़ता है। कई सामाजिक प्रश्न इस वर्ग के साथ गुंथे हुए हैं—अटैची केस में उन गुत्थियों की सुलझन नहीं मिलेगी, गिरह के ही दर्शन होंगे।

कहानी का मनोवैज्ञानिक आधार कमजोर है। कालेज जीवन के सस्ते कलुषित रोमाँस से कहानी की आत्मा (Spirit) निर्मित की गई है। इस कलुष को धोने के प्रयत्न में कहानी की ट्रेजेडी सामने आती है।

'ग्लानि' में 'अटैची केस' की ही तरह बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता की प्रबलता मिलती है। जिस नग्न सत्य की रूप-रेखा अशोक ने विमला को दी, उसको वह स्वयं नहीं समझ सका। विमला की तड़प—जिसे अशोक न समझ सका। क्या कोई मूल्य नहीं रखती। 'चित्रकार' और 'वैज्ञानिक के मुरझाए फूल' दो विरोधी धाराओं का एक अध्ययन है। चित्रकार की कला का मूल्य उसी समय आंका जाता है जब वह काव्य को वीणा में तिरोहित कर देता है।

संवेदनशीलता अद्भुतजी की कहानियों की सब से बड़ी विशेषता है। लेखक के इन शब्दों से हम सहमत हैं कि 'मानवीय प्रकृति का वह स्थल बड़ा महत्त्व रखता है जो अकारण ही दया, ममता, पीड़ा का केंद्र बन बैठता है।" पर ध्यान रहे कि इस 'अकारण' के साथ आकस्मिकता का वह रूप न आ पावे जिनसे ये कहानियाँ कहीं-कहीं कुंठित हो गई हैं। यही आकस्मिकता कहानी के मनोवैज्ञानिक और यथार्थ स्तर को भी कमजोर कर देती है। सभी कहानियों में यह दुर्बलता मिलेगी। इस दुर्बलता से लेखक जहाँ ऊपर उठ सका है, वहाँ कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं।

गाथा—आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री। प्रकाशक—भारती-मंदिर, पटना सिटी। पृ० १३८, मूल्य १॥)

'गाथा' की सात कथाओं में सामाजिक नग्नता की उत्क्रान्त अभिव्यंजना है। इन्हें हम काव्य-चित्रों की परि-

परिपाटी में रख सकते हैं। जीर्ण-शीर्ण मानवता के खोखले दंभ और उसकी टूटती हुई रूढ़ि-ग्रस्त शृंखलाओं का वह चल चित्र है। जिन विकृतियों ने स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर नारी और नर की आत्मा एवं काया को जर्जर कर दिया है उसकी भयानक बिभीषिका इस काव्य में मिलेगी। ये कथाएँ कल्पना के कंगूरों पर नहीं उड़ती, जीवन के ठोस धरातल पर चलती है। इनका आधारभूत सत्य जीवन की दो प्रारम्भिक आवश्यकताओं भूख और काम से अपना सम्बन्ध रखता है। 'हरिहर क्षेत्र का मेला' और 'कल्कि अवतार' को छोड़ उनमें कोई तात्विक अन्तर नहीं मिलेगा। यों इन दोनों कथाओं की आत्मा (Spirit) में भी इन आवश्यकताओं की मूक पुकार मिलेगी।

चीर कलेजा काव्य कार दिखलाता है, यह देख।
जग कहता छीः, माँस पिंड पर खिंची रुधिर की रेख॥

क्या कारण है कि माँ अपनी पुत्री को एक पर पुरुष के पास सोने को बाध्य करती है? मर्यादा की वेदी पर यौवन का मदिर सौन्दर्य क्यों उपहार बनने के लिये विवश किया जाता है? किस लिए कवि यह चित्र सामने रखता है—

......बाँहें डाल गले में और निकट सट आई।
अब अपने को छोड़ दिया, होने दो जो है होना,
हँसने का करते उपाय पड़ता जब फिर-फिर रोना।

नारी क्या नर का अहेर ही बनी रहेगी? पंत ने एक दिन कहा था—'योनिमात्र रह गई मानवी।' शास्त्रीजी का जागरूक कवि भी कहता है—'रूपमात्र तुम नारि! नहीं हो, पहचानो अपने को।' जो हो, गाथा की विशेषता इसमें है कि वह कोई नैतिक आदर्श लादना नहीं चाहती।

पुस्तक की भाषा में तीव्र बल है। शैलमालाओं से गिरते हुए जल-प्रपात की टकराहट इसके अतुकाँत छंद-विधान में मिलेगी और फिर एक तीव्र प्रवाह।

—मोहनलाल नेजाण।

रानी का रंग—लेखक—लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी, प्रकाशक—छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ १७५, मूल्य २)

कहानी के निर्माण में पग-पग पर कठिनाइयाँ हैं और उसके असफल होने की सम्भावना सब समय है; परन्तु प्रतिभासम्पन्न कलाकार सफलता प्राप्त करते ही हैं, और अनधिकारपूर्ण चेष्टा भी व्यर्थ होती है। एक वाक्य में सफल कहानी के लक्षण हमने अन्यत्र निम्नरूप में निर्धारित किये हैं—"सोचा-समझा उद्देश्य, सारगर्भित शीर्षक, कुतूहलप्रद आरम्भ, प्रगतिशील कलेवर, चमत्कारपूर्ण चरम तथा प्रभावशाली परिणाम के लिये कथावस्तु में प्रयत्न और संघर्षण, चरित्र में यथार्थ और स्वतन्त्रता, कथोपकथन में व्यावहारिकता और विकास, वातावरण में संक्षेप और निर्दोषिता, शैली में सचाई और सुबोधता तथा इन सब में सम्बद्धता कहानी की रचना एवं उसकी परख के सरल और कठिन साधन हैं।'

छोटी कहानी आज वह नहीं, जो कुछ वर्ष पूर्व थी। कहानी कहने की कला में आज एक विशेष उत्कर्ष दिखाई दिया है। आज के कहानी-साहित्य में आदर्शवाद से अधिक रोमांसवाद और उससे भी अधिक यथार्थवाद को महत्व प्राप्त है। घटना-प्रधान कहानियों के स्थान पर चरित्र-प्रधान कहानियाँ अब विशेष आदृत होतीं हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आधुनिक कहानी का जीवन-प्राण है।

हिन्दी के नवोदित कहानी-लेखक पं० लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी की कहानियाँ एक अंश तक समय की इस आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी के शब्दों में—"लक्ष्मीचन्द्र समाज की प्रगति-विरोधी रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति एक भीम विद्रोह का स्रष्टा है। उसकी अभिव्यञ्जना में पीड़ित मानवता का आक्रोश है।" हमने भी लक्ष्मीचन्द्र को उनके सर्व-प्रथम कहानी-संग्रह 'नीला लिफाफा' में प्रगति-पथ के पथिक एवं जीवन के संवेदनशील द्रष्टा के रूप में ही देखा है। 'नीला लिफाफा' के बाद उनका दूसरा कहानी-संग्रह 'रानी का रंग' हमारे सामने है।

संग्रह की कहानियों की जाँच करने से विदित होता है कि उसमें समाज के आदर्श के अंकुश से छुटकारा पाने

का प्रयत्न स्पष्ट है। प्रायः सभी कहानियों में मनुष्य की विवशता तथा प्रेमजन्य निराशा के दर्शन होते हैं। 'रानी का रंग', 'क्लोरफेन', 'बड़ी-बड़ी चीजें टूट जाती हैं', 'प्रतिक्रिया', 'अन्तिम कहानी', 'जीवन-मरण के बन्धन', तथा 'समाज' कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ हैं जिनमें नारी-समस्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'टैकनीक' की कहीं कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, सफल बन पड़ा है। 'नीला लिफाफा' में भी लेखक ने मानव-जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाली नारी-समस्या को उसके अच्छे और बुरे सभी पहलुओं से चित्रित किया है। मानव की वेदना के इस चित्रण का आधुनिक हिन्दी कहानियों में बाहुल्य है और यह हमारे लिये उत्साहवर्धक नहीं। 'फीकी जिन्दगी', 'एक सहारा', 'सुशीला भाभी', 'प्रतिग्रह', 'चिट्ठी नहीं आई', 'उन्हें लिख दो', तथा 'अबूझ पथ' कुछ ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें मृत्यु को आवश्यकता से अधिक आश्रय मिलने के कारण मन को लिप्त कर रखने की शक्ति विशेष नहीं, किन्तु 'दो चित्र' तथा 'जहाज आँखों से ओझल हो गया' कहानियाँ अपने कलापूर्ण अन्त के द्वारा हृदय पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं। जीवन की विविधिता को देख कर कहानी-रचना में प्रवृत्त होना हमारे कहानी-लेखकों के लिए नितान्त आवश्यक है।

'भिक्षुक' और 'नशा' दो सुन्दर कहानियाँ हैं, जिनमें दीनता का सजीव चित्रण है, किन्तु संग्रह के एक निश्चित उद्देश्य के विचार से यह अच्छा होता कि इस संग्रह में इन्हें न रख कर केवल नारी-जीवन की कहानियाँ संगृहीत होतीं।

—हरिमोहनलाल श्रीवास्तव एम० ए०, एल०टी० सा०र०।

गोधूलि—लेखक-श्री नरेश। प्रकाशक—ग्रन्थमाला-कार्यालय बाँकीपुर। भूमिका-लेखक—प्रो० केशरीकिशोरशरण। पृष्ठ ३३४ मूल्य २)।

प्रो० केशरीकिशोरशरणजी ने 'दो शब्द' में कई पते की बातें कहीं हैं।

एक तो यह कि 'कहानी हिन्दी की देशज वस्तु नहीं। यह तो विदेश से उद्भूत होकर, बंगला की मधुरिमा से भींगी विहरन (?) हिन्दी में आयी।'......और फिर इसी प्रसंग में आठ-दस शब्दों के बाद लिखते हैं। 'प्राचीन कथा-साहित्य रूपक और प्रबन्ध काव्य तक ही सीमित था। अतः प्रारम्भ में हिन्दी-कहानी भी नाटक-कला का आग्रह करके आगे बढ़ी। आरम्भ, यत्न, प्रात्याशा, नियताप्ति और फलागम के अनुसार घटनावली का गुम्फन किया जाता था और कहानी अनुरूप प्रयोजन सिद्धि के लिये बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य के आधार पर अधिकारिक वस्तु की योजना की जाती थी।' जो कहानी विदेश से आई, उसने कैसे नाटक की प्रणाली अपनाई? या प्रारम्भ की हिंन्दी कहानी प्राचीन कथा-साहित्य की परम्परा में थी; या उससे भिन्न थी तो नाटक-कला का आग्रह कैसे? फिर भूमिका लेखक किसी कहानी की ओर संकेत कर रहा है जब वह कहता है कि उसमें नाटक की अर्थ प्रकृतियाँ और कार्यावस्थाएँ मिलती हैं? और इसी परम्परा को (न जाने किस परम्परा की ओर संकेत है, विदेश से प्रभावित या भारतीय नाटक-प्रणाली से प्रभावित)। प्रेमचन्दजी ने कैसे पनपाया?

दूसरे पते की बात यह है कि 'प्रेमचन्द और उनके अनुयायियों की कला विक्टोरियन काल की कहानी-कला की अनुकृति थी।' आपने संकेत किया है कि "विक्टोरियन काल की विशेषता थी; शब्दाडम्बर, वर्गमर्यादा की विडम्बना और आधिभौतिक प्रवंचना।" इन पांडित्यपूर्ण पंक्तियों के सम्बन्ध में तो इनका अर्थ समझकर पाठक स्वयं ही अपनी आलोचना कर लेगा।

तीसरे आपने जैनेन्द्रजी को 'प्रेमचन्द-स्कूल के प्रतिक्रिया-स्वरूप' मैदान में आनेवाले नेता माना है, और यह भी कहा है कि 'फिर भी उन्होंने प्रेमचन्द परम्परा में एक नया जीवन डाल दिया।'

चौथी बात 'इसी बीच फ्रायड के सेक्स-सिद्धान्त ने एक तहलका-सा मचा दिया। रूढ़िवादियों की कमर टूट गई और मनचले नवयुवकों की बन आई। उनके मिजाज के मुआफिक एक प्रमुख दार्शनिक की राह उन्हें मिल गई और उन्मुक्त वासना के ऊपर से मर्यादा का आवरण फाड़ कर निर्लज्ज नंगापन को ही उन्होंने साहित्यिक श्री की संज्ञा

प्रदान कर दी।'—खैर सात-आठ पृष्ठों में प्रोफेसर महोदय ने ऐसी-ऐसी अनोखी बातें कह दी हैं।

गोधूलि कहानी-संग्रह में बारह कहानियाँ हैं। 'रधिया' एकनौकरानी है, 'रोज की बात' का सम्बन्ध ताँगेवाले और उसकी स्त्री से है। 'अनुभूति प्रशांत' में प्रेम की अनुभूति है, 'पागल' में राजीव पागल हो गया है, मौन उत्तेजनाओं के दमन से। 'बिखरे चित्र' में अविनाश और उनके नौकर के अवसाद में घिरे एकांकी जीवन का चित्र है। 'निर्भय जीवन' का केन्द्र है, हरिशरण का एक विधावा को अपनाकर कष्ट का जीवन व्यतीत करना। 'आरामकुर्सी' में आरामकुर्सी के चारों ओर नीलमणि के बाबा, पिता, दादी तथा अपनी प्रेयसी के विविध रूप गुंफित कर दिये हैं। इसी में रूपकत्व है। 'रानी' अपने सौन्दर्य में मग्न है, पर फिर उसे अपने से बाहर किसी आनन्द की चाह पैदा हो जाती है। 'कल्पना-परी' में जयन्त और शर्माजी के वार्तालाप के सहारे होटल में बैठे विविध व्यक्तियों की नग्न-प्रेम की कथाऐं गूँथी गई हैं; उसमें अन्तर में शर्माजी और जयंत की माँ के प्रेम का भी समावेश है। 'उसकी कहानी' में मि० आपटे अर्थशास्त्र के विश्व-विख्यात प्रोफेसर की वह कहानी है, जिसमें उन्होंने एक सुन्दरी को पाने के लिए अपनी विवाहिता का खून किया है। 'किसके लिए' में दमे के बीमार रमेश के बेकार जीवन और मातृ-प्रेम-हृदय की कहानी है, जिसमें माँ एक सात्वना का बिन्दु है। 'गोधूलि' में बहुत बाल-बच्चे वाले घोषबाबू की मौन जुगुप्सा और उसकी साली अनिमा और योगेश के स्वच्छन्द यौवनमय प्रेम से विषमता की ध्वनि है।

ऊपर के वर्णन से यह न समझना होगा कि कहानी कथानक प्रधान कहानी है। इन कहानियों की टेकनीक नई और शक्तिशाली टेकनीक है, इनमें प्रवाहित अभिप्राय यौन-सम्बन्धों की विविध प्रतिक्रिया दर्शन है। कहानियाँ विविध पात्रों के मन और हृदय के अन्तर में घटनेवाली मौलिक कहानियों की कहानियाँ हैं। कथानक शून्य, व्यवस्था की कहानीमात्र हैं। सभी में एक अवसाद है, एक घुटन है। सभी के वातावरण में व्यथात्मक आवरण है। इन कहानियों में दो अलग-अलग टेकनीक काम में लाई गई हैं। एक है किसी बाहरी घटना-व्यापार या स्थिति से उत्तेजित अचैतन्य मस्तिष्क का जग उठना, और अपनी विविध स्मृतियों से कहानी को कहानी बनाते चलना। वे स्मृतियाँ न होकर, मन के भीतर कुलबुलाने वाले विचार भी हो सकते हैं। दूसरी टेकनीक वह है जहाँ कहानी का सूत्र में एक व्यक्ति से आरम्भ होता है। उसमें फिर कभी कथाएँ आ जाती हैं, वे एक ही अभिप्राय को भीतर ही भीतर पुष्ट करती जाती है। सभी कहानियाँ फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित हैं। कहानीकार के नाते उन्होंने कोइ निष्कर्ष नहीं निकाले पर यौन-विकारों के उग्रचित्र देकर स्पष्ट संकेत कर दिया। हाँ, पागल में प्रोफेसर साहब के द्वारा मेंटल हाईजीन के क्लास में यह टिप्पणी करा दी है। "Saxual instincts को abnormally chack नहीं करना चाहिये, morbidity बढ़ती है।"

—सत्येन्द्र एम० ए०।

कालरात्रि—लेखक श्री आरसीप्रसादसिंह, प्रकाशक—वैशाली-निकुञ्ज, मुजफ्फरपुर। मूल्य २) पृ० सं०१६३

इस कहानी-संग्रह में लेखक की नौ कहानियाँ संग्रहीत है। 'चित्रा' शीर्षक कहानी को छोड़कर अन्य आठों रोमांस प्रसित हैं। लेखक में कहानी-लेखन की प्रतिभा निश्चित रूप में है, परन्तु उन्होंने अपनी कहानियों के कथानक वही घिसे-घिसाये लिए हैं। कहानी-कला सस्ती रोमाँस पूर्ण कहानियों से अति उत्तम मनोवैज्ञानिक कहानियों के रूप में प्रगति पा चुकी है। निष्क्रियता प्रदान करने वाली एवं भावुकता उभाड़ने वाली कहानियों की अपेक्षा मानव चरित्र-चित्रण करने वाली कहीं अधिक स्वस्थ एवं कलापूर्ण बन पड़ती हैं। निराशा के ये रूप कहाँ तक श्लाध्य हैं जैसे 'शेव पत्र' शीर्षक कहानी का निराश प्रेमी नायक कहता हैः—

"मेरे आगे जब कोई हँसता है तब मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह दुनियाँ का सब से बड़ा अपराध कर रहा है! जब किसी की शादी होती है तब ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे लिए कब्र खोदी जा रही है और उसमें मैं जीता ही दफना दिया जाऊँगा।"

ऐसे उदाहरणों से पुस्तक भरी पड़ी है। मुख्यतः लेखक कवि है और उसकी कवि सुलभ भावुकता प्रत्येक स्थल पर उमड़ी मालूम देती है। —बरसानेलाल चतुर्वेदी

दर्शन

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—लेखक—डा० देवराज एम०ए०, डी० फिल, प्रकाशक—सस्ता-साहित्य मंडल, नई दिल्ली पृष्ठ, १६६, मूल्य २)

यह पुस्तक बंगाल हिन्दी मण्डल माला की पहिली पुस्तक है, और इसको उपर्युक्त मण्डल द्वारा पुरस्कार भी दिया गया है। इस पुस्तक में पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पर तुलनात्मक विचार किया गया है। पुस्तक बहुत विद्वत्तापूर्ण लिखी गई है और दर्शन शास्त्र का स्वाध्याय करने वालों के लिए बड़ी उपयोगी है। इसमें आरम्भ में दर्शन की समस्या प्रयोजन और महत्त्व पर विचार किया गया है। पुस्तक के चार भाग हैं, पहले में समवित शास्त्र या ज्ञानमींमांसा पर विचार किया गया है। दूसरे में विश्व की व्याख्या है। तीसरे में अध्यात्मवाद और चौथे में, नीति धर्म और साधना। इस प्रकार से दर्शन के मुख्य-मुख्य विभागों पर संक्षिप्त विचार किया गया है। पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन के आधार पर हर एक विषय पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे कुछ विचारणीय हैं। जैसे Religion का अर्थ मोक्ष धर्म करना पूरे अभिप्राय को प्रकट नहीं करता, क्योंकि धर्म के अन्तर्गत अभ्युदय और निश्रेयस दोनों के साधनों का पूरा समावेश होना चाहिये। प्रस्तावना सब पुस्तक से ज्यादा क्लिष्ट है। इसको पुस्तक समाप्त करने के पश्चात् पढ़ना चाहिये। पूर्वीय दृष्टिकोण में वेदों से लेकर षड् दर्शनों तक तत्वज्ञान क्रियात्मक धर्म और सदाचार सम्बन्धी नियमों में कोई विशेष अन्तर नहीं है*। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में पूर्ण और विस्तृत विचार उपस्थित है। महा-भारत काल तक यही दशा रही है। महाभारत काल के पश्चात् जब वैदिक मर्यादा और कर्मकाण्ड का ह्रास हुआ और वाम मार्ग प्रचलित हुआ तो भारतवर्ष में आस्तिक वाद और त्रैतवाद के स्थान में नास्तिक वाद और जड़वाद प्रचलित हुआ। और चारवाक वालों की Philosophy पूर्वीय फिलासफी का सबसे अन्तिम और भ्रष्ट रूप है। इसके प्रतिवाद में जैन, और बौद्धों की विचार धारा है और इनके प्रतिकार में श्री शंकराचार्य का नवीन वेदान्त है। जैन और बौद्ध काल के विचार भारतवर्ष से यूनान में गए और वहाँ से यूरोप में। और यूरोप और अमेरिकनी फिलासफी में जो भिन्न-भिन्न वाद ईश्वर जीव और परमात्मा के सम्बन्ध में प्रचलित हैं, उन सब पर भारतवर्ष की सब से अन्तिम विचारधारा का प्रभाव है। तीन अनादि पदार्थों के न मानने से विश्व की पहेली सुलझ नहीं सकती। और जहाँ इनको नहीं माना जाता वहाँ भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित हो जाते हैं। कोई एक सत्ता को मानने लगता है कोई दो को और कोई दो से अधिक। कभी अपनी सत्ता में संशय होने लगता है कभी संसार की सत्ता में और कभी परमात्मा की सत्ता में। आशा है कि विद्वान् लेखक आगामी संस्करण में इस दृष्टिकोण पर भी ध्यान देंगे। पुस्तक के पढ़ने से यह आशा तो नहीं हो सकती कि जिन्होंने पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनों को नहीं पढ़ा हैं उनको उनका ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु जिन्होंने पढ़ा है उनके तुलानात्मक स्वाध्याय के लिये अच्छा आधार और अच्छी सामग्री है। —पूर्णचन्द एडवोकेट

नाटक

नल-दमयन्ती—(मौलिक नाटक) रचयिता—डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० लिट् (आक्सफोर्ड)। प्रकाशक—एस. चन्द एण्ड कम्पनी देहली।

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप वैदिक साहित्य के पण्डित होते हुए भी हिन्दी के प्रति विशेष प्रेम रखते हैं। आप फरासीसी कलाकार मोलियर के दो एक नाटकों का हिन्दी रूपान्तर कर चुके हैं। यह उनका मौलिक नाटक है। नाटककार ने प्राचीन आख्यान में पर्याप्त परिवर्तन कर उसे बुद्धिवाद-प्रधान वर्तमान युग के अनुकूल बनाया है। हंस को पक्षी न बनाकर एक व्यापारी बनाया गया है। उस पर दमयन्ती के रूप का ही नहीं वरन् पराक्रम का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह उसका एक मस्त हाथी से प्राण बचाता है (यह लेखक की ही उद्भावना है) नल जैसे पराक्रमी और स्त्रियों से उदासीन राजा के लिए पौरुष एक

आवश्यक गुण है, किन्तु इस गुण का वर्णन हंस ने नल के सामने नहीं किया है। यदि हो जाता तो उस दृश्य की पूर्ण सार्थकता हो जाती।

लेखक ने नल की आपत्तियों के लिए कलियुग को दोषी नहीं ठहराया है वरन् ईर्ष्याप्रेरित उसके प्रतिद्वन्द्वी चंड को। इन नई उद्भावनाओं में कथानक को उत्कृष्टता मिली है किन्तु नल-दमयन्ती के पुनर्मिलन का श्रेय दमयन्ती की बुद्धि को नहीं मिल पाता। हंस ने पहले भी मिलाया था, दुबारा भी हंस ही मिलाता है। इससे हंस का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

इस नाटक में नल का चरित्र बड़ा उत्कृष्ट है किन्तु उसको सज्जन और वीर बनाने के लिए स्त्रियों से उदासीन दिखलाने की विशेष आवश्यकता न थी, क्योंकि वीर और शृंगार एक ही आलम्बन का एक ही आश्रय में विरोध नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रसन्न राघव के कर्ता जयदेव की उक्ति पंडितों को अवगत ही है, फिर भी स्वभाव-वैचित्र्य के लिए हमेशा गुञ्जाइश रहती है। नाटक अभिनय योग्य है। किन्तु पात्रों का बाहुल्य है।

नाटक अपने कथानक के अनुकूल प्राचीन आदर्शों से प्रभावित है। जैसे दमयन्ती का एक नाटक के अभिनय के लिए जंगली वस्त्रों का पेश्तर से धारण कर लेना प्राचीन नाटकीय साधन है। स्वयंवर के अवसर पर राजाओं का वर्णन रघुवंश के छठे सर्ग (जिसमें इन्दुमती के स्वयंवर का हाल है) की याद दिलाता है। दो-एक छन्दों में श्लेष की अच्छी छटा दिखाई गई है, किन्तु वे नाटक को कुछ दुरूह बना देते हैं। इस नाटक में आये हुए दोहा, मनहरण आदि छन्दों की भाषा खड़ी बोली है। कहीं-कहीं गीत बड़े सुन्दर और प्रवाहमय हैं—

ओ! हृदय के प्यार मेरे
विश्व में भर प्राण देते
नयन हर्षित दान लेते।

तीन नाटक—(आदिम युग, मनु और मानव, कुमार-सम्भव) लेखक—पण्डित उदयशङ्कर भट्ट। प्रकाशक—पण्डित राजेश्वरप्रसाद भार्गव, युनिवर्सल पब्लिशिंग हाऊस इलाहाबाद, मूल्य ३) पृष्ठ संख्या ११+५३+२२+९२=१७८।

भट्टजी प्राचीनता के उपासक हैं। उनके अधिकांश नाटक पौराणिक कथाओं पर आश्रित हैं। इस संग्रह के दो नाटकों में क्रमशः स्वायम्भुव मनु द्वारा आदिम सभ्यता के विकास तथा वैवस्वत मनु द्वारा आर्यों की यज्ञीय सभ्यता के विकास की कथा है। तीसरे नाटक में गुप्तकालीन संस्कृति की झलक है। समाज और सभ्यता के आरम्भ के सम्बन्ध में प्रायः दो प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं। एक तो ईश्वरवादियों की, जो यह मानते हैं कि सृष्टि के आदि में ही भगवान् कुछ विशेष व्यक्तियों में ज्ञान का प्रकाश कर उनमें सभ्यता का प्रचार कर देते हैं। दूसरी कल्पना विकासवादियों की है जिसके अनुसार मनुष्य परिस्थितियों और वातावरण के साथ संघर्ष करता हुआ अपने सफल और असफल प्रयत्नों द्वारा भाषा और सभ्यता का विकास करते हैं। लेखक ने सभ्यता के विकास में क्रम और परिस्थितियों का घात-प्रतिघात रक्खा है, किन्तु आदिम स्त्री और पुरुष को उन बालकों की भाँति रक्खा है जिनको उनका बड़ा-बूढ़ा बीच-बीच में ज्ञान प्राप्त कराता जाता है। ब्रह्मा को जो मनु के पिता हैं, शिक्षक के रूप में ही रक्खा है। लेखक ने पहले दृश्य में उस अवस्था का वर्णन किया है जिसमें स्त्री और पुरुष बिना भाषा के एक दूसरे का आकर्षण प्राप्त करते हैं। इसलिए उस अंक में क्रिया प्रधान मूक अभिनय रहता है और स्वभावतः वह अंक वर्णन-प्रधान हो गया है। पात्रों की ओर से भाषा का प्रयोग नहीं होता। दूसरे अंक में दोनों पात्र एक दूसरे से बोलते हैं। पुरुष को जिसने ब्रह्मा से शिक्षा प्राप्त की है भाषा का कुछ अधिक ज्ञान है। लेखक महोदय शायद हिन्दी प्रेम के कारण अथवा नर-नारी का भेद बतलाने की शीघ्रता में यह भूल जाते हैं कि ब्रह्मा-आदिम पुरुष से वैदिक या उससे पूर्व की भाषा में बोले होंगे और कम से कम प्रारम्भिक भाषा में क्रियाओं में लिंग-भेद न होगा और पुरुष को आरम्भ में ही व्याकरण का इतना ज्ञान हो गया होगा कि सीखूँगा के बदले स्त्री से सीखूँगी कहलावे। सम्बन्धी प्रयोगों का ज्ञान दे दिया होगा। यदि ऐसा था तो बीच बीच में ब्रह्मा के आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। नाटककार ने ब्रह्मा को अदृश्य रक्खा है इसका अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि उसे विकास की आन्तरिक प्रेरणा के रूप में दिखाना चाहते हैं

नाटक का एक नैतिक उद्देश्य भी है, वह है कर्तव्य का महत्व और समाज के लिए नर और नारी की समान आवश्यकता। देखिए:—"दोनों संसार के दो स्तम्भ हैं। नर यदि सूर्य है—दिन है जिससे संसार को आलोक मिलता है, तो नारि चन्द्रमा है—रात है जो अंधकार में प्रकाश का मार्ग दिखाती है.......यदि संसार में रहना है, चलना है, दौड़ना है तो दो पैरों से ही चला जा सकता है—मनु और मानव में वैदिक सभ्यता है। इसमें आर्यों का दस्युओं और राक्षसों के साथ संघर्ष दिखाया गया है और द्रविड़ों की आर्य-संस्कृति की स्वीकृति का भी चित्रण किया गया है। नाटककार ने आर्यों का देश सिंधु नदी के उस पार बतलाया है। दोनों नाटकों को मिला कर यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वायम्भुव मनु वैदिक सभ्यता के पूर्व के हैं और वर्णव्यवस्था आदि का विकास वैवस्वतमनु के ही समय में हुआ है। कुछ लोग विशेष कर आर्य-समाजी वेदों में इतिहास को नहीं मानते हैं। सब लोग इस धारणा को भी स्वीकार करने को तैयार न होंगे कि आर्य लोगों और द्रविड़ों का इस प्रकार संघर्ष रहा। यद्यपि संघर्षका अन्त बड़े सौम्यभाव से हुआ है तथापि विजेता और विजित की भावना के नाटकीय अभिनय द्वारा प्रसार और प्रचार नैतिक दृष्टि से बहुत श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता है। यज्ञीय सभ्यता के प्रसार का चित्रण सुन्दर है। इड़ा को स्त्री और पुरुष दोनों ही रूप में रखकर नाटकीय चमत्कार बढ़ जाता है और उसके द्वारा नाटकीय व्यङ्ग्य के अन्य उदाहरण Dramatic Irony उपस्थित हो जाते हैं। दर्शक लोग पात्रों से कुछ अधिक जानते हैं। और वे पात्रों की अज्ञता से अपना मनोरंजन कर सकते हैं। इड़ा का दोनों ही रूप दिखाने का एक यह भी अभिप्राय हो सकता है कि बुद्धि का स्त्री पुरुष दोनों में ही सञ्चार होता है।

लेखक ने तो तीनों ही नाटकोंको सांस्कृतिक चित्रण कहा है, किन्तु तीसरे नाटक में कला और आचार की साहित्यिक समस्या है। कालिदास का कुमारसम्भव शिव-पार्वती के अमर्यादित शृंगार वर्णन के कारण पार्वती द्वारा शापित हुआ दिखाया गया है। सरस्वतीजी जो शुद्ध कलावाद का प्रतीक हैं कालिदास का पक्ष लेती है और पार्वतीजी नैति-कता का प्रतीक होकर कालिदास को शाप देती हैं। किन्तु अन्त में विजय कालिदास की ही होती है। उनका ग्रन्थ ध्रुवदेवी (कुमार गुप्त की माता) द्वारा स्वीकृत होता है। इस नाटक में कलावाद का पक्ष प्रबल किया गया है। नाटक में कालिदास की महत्ता को सभी परवर्ती कवियों द्वारा बड़े कौशल से स्वीकार कराया गया है। नाटककार ने कालि-दास को सुरा-सेवी दिखाकर इसे कविता के प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाया है। यह भी नैतिक दृष्टि से कुछ हो, किन्तु पूरे नाटक में जहाँ कलावाद का पक्ष लिया गया है वहां इस नैतिकता की सहज में अवहेलना हो सकती है।

साध—ले० श्री पृथ्वीनाथ शर्मा, प्रकाशक पुस्तक भवन लाहौर। मूल्य १)

इस नाटक के लेखक हिन्दी जगत् में सुपरिचित हैं। उनकी नवीन कृति के एकांकी नाटकों के कोष में एक सुन्दर उपहार है। वर्तमान युग में नारी की विचार-धारा और उसके संस्कारों में मिलनेवाले जो संघर्ष हैं उनके सामञ्जस्य के सम्बन्ध में लेखक ने कुछ अपने सुझाव पेश किये हैं। कुमुद एक आधुनिका तरुणी है जो जीवन में नारी का हृदय और बुद्धिवृत्ति के द्वन्द्व को लेकर रंगमंच पर उपस्थित होती है। नायक अजित से वह प्रेम करती है, परन्तु वास्तव की शृंखला में आबद्ध नहीं होना चाहती। अरुचिकर गृहिणी का कर्तव्यपालन उसे रुचिकर नहीं। कुमुद की उलझन एक उसकी माँ ने दूसरी उसकी सहेली, मृदुला ने बढ़ादी है। मृदुला उसे समझाती है कि उसे बन्धन हीन मुक्त पक्षी की ओर देखना चाहिये। सोने के पिंजरे का मोह त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

Climax को लाने में उन्होंने जिस संकेतमय पद्धति का अवलम्बन किया है वह लेखक की भाषा के ऊपर अधिकार और संयम का परिचायक तथा टेकनीक की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह सब होते हुए भी दो एक बातें कुछ खटकती है। किसी भी नाटक की अन्तिम परिणति उसकी घटनाओं में से क्रमशः धीरे-धीरे पहुँचती है और पाठक की उत्सुकता और कौतूहल को जाग्रत रखती है, परन्तु इस नाटक के द्वितीय अंक के बाद उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। मोहन की विदाई के बाद मानों सारा Interest समाप्त हो जाता है और पाठकों में एक मानसिक शैथिल्य आने लगता है। वह 'स्वाभाविक आकस्मिकता' जो नाटक का सबसे आनन्ददायक गुण है, पूरी तौर से निर्वाह नहीं हो पाता है। —नित्यानन्द गोस्वामी बी० एस-सी०।
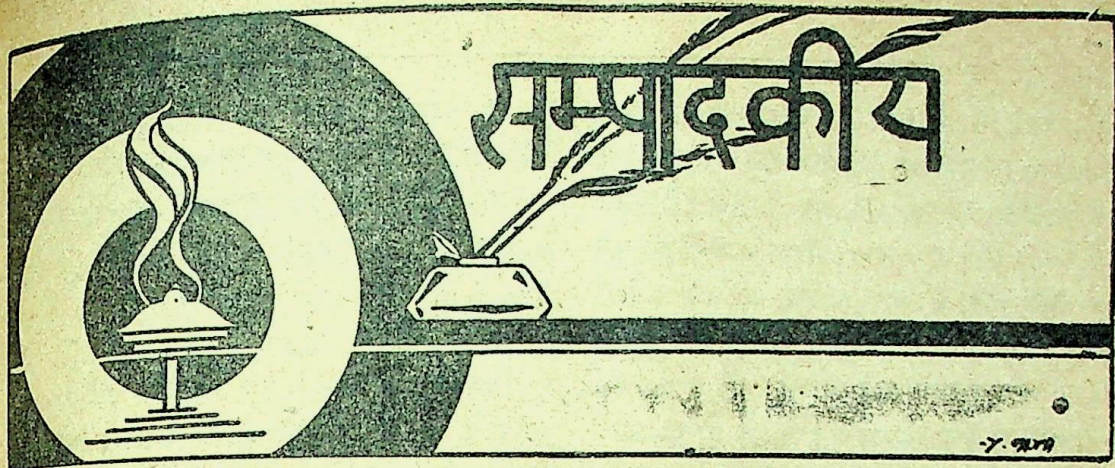
उदयपुर सम्मेलन और भाषा का प्रश्न—

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का आगामी अधिवेशन उदयपुर में होने वाला है। हमें हर्ष है कि वहाँ के कार्यकर्ता अभी से सचेत हैं। उन्होंने सम्मेलन में मौलिक सुधार की भावना से एक प्रश्नावली निकाली है। उसके कुछ अंश प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ भाषा-सम्बन्धी नीति से। भाषा का प्रश्न अब विशेष महत्व पकड़ता जा रहा है। इसमें स्थानीय प्रेम की मनोवृत्ति और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति दोनों ही काम कर रही है। स्थानीय प्रेम बुरा नहीं किन्तु उसकी उचित सीमा होनी चाहिए। जहाँ तक स्थानीय प्रेम कामक भाषा की पुष्टि में बाधक नहीं होता है वहाँ तक वह श्लाघ्य है। राष्ट्र-भाषा को व्यापक सरल और अधिकाधिक बोधगम्य बनाने की आवश्यकता है। रेडियो और हिन्दुस्तानी के पृष्टपोषकों के कारण उसमें कुछ-कुछ साम्प्रदायिक बटवारे की सी भावना आती जा रही है। फारसी-अरबी के शब्द इसलिए नहीं रक्खे जाते कि वे अधिक बोधगम्य हैं वरन् किसी सम्प्रदाय विशेष की प्रसन्नता के लिए। हिन्दुस्तानी के निर्माण में ग्रामीण जनता तथा बङ्गला, गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषा-भाषियों की सुविधा की भी उपेक्षा हो रही है। आशा है कि सम्मेलन के कार्यकर्ता सक्रिय रूप से भाषा सम्बन्धी प्रश्नों पर मत संग्रह करके विचार-विनिमय के लिए पर्याप्त समय देंगे तथा ऐसे ही सभापति को चुनेंगे जो ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के हल और निर्णय में सहायक हो।

पत्रकार-कला—

हमारे साहित्य का एक उल्लेखनीय अङ्क पत्र-पत्रिकाओं के लेखों की श्रेणी से ऊँचा उठकर स्थायित्व प्राप्त करता है। इसलिए साहित्य-निर्माण की दृष्टि से पत्रकार-कला अपना विशेष महत्व रखती है। अभी तक पत्रकार-कला में प्रवेश करने के लिए सार्वजनिक विषयों का चलता ज्ञान और साधारण सी लेखन-शक्ति पर्याप्त समझी जाती थी किन्तु अब लोग इस बात की प्रतीति कर रहे हैं कि डाक्टरी और इञ्जीनियरी की भाँति इसमें भी विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि अब पत्रकार कला की चर्चा होने लगी है और पत्रकार विद्यालय की भी बात सोची जा रही है। कानपुर के 'राम राज्य' का एक विशेषांक पत्रकारों के संगठन और पत्रकार-विद्यालय की समस्या पर विचार करने के सदुद्देश्य से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रधान सम्पादकत्व में निकला है। पं० हरिशङ्कर शर्मा ने पत्रकार-विद्यालय के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया है कि वह विद्यालय एक केन्द्रीय स्थान में खोला जाय और उसमें हिन्दी के ही पत्रकारों की शिक्षा न हो वरन् उर्दू और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी विद्यार्थी रक्खे जायँ। इसका फल यह होगा कि हमारे पत्रकारों में प्रान्तीय-भावना दूर होकर परस्पर सहयोग की भावना बढ़ेगी। इसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है किन्तु थोड़े से भी काम शुरू हो सकता है। इस अङ्क में पत्रकार कला पर तो अधिक नहीं किन्तु प्रमुख पत्रकारों और पत्रकारों की समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ—

आजकल के युग में जब मानवता का ह्रास हो रहा है और जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त सर्वमान्य है, गांधीजी के मानवता-परक सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों की विशेष आवश्यकता है। यह ग्रन्थ विश्ववन्द्य महात्मा गांधी की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में श्री सोहनलाल द्विवेदी के सम्पादकत्व में बड़ी सजधज के साथ निकला है। इसमें केवल हिन्दी कविताओं द्वारा ही नहीं वरन्

संस्कृत, चीनी, बङ्गाली, मराठी, उड़िया, तामिल, सिन्धी आदि प्रान्तीय भाषाओं की कविताओं द्वारा भी महात्माजी का स्तवन किया गया है। ये सब कविताएँ देवनागरी अक्षरों में हैं। इनके द्वारा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का कुछ आभास मिल सकता है। अतः अहिन्दी कविताओं का हिंदी अनुवाद भी है। ग्रन्थ संग्रहणीय है और उसके सम्पादक श्री द्विवेदी जी इस उत्तम ग्रन्थ के लिए बधाई के पात्र हैं।

हस्तलिखित चित्रलेखा का कथा अंक—

जोधपुर कालेज के हिन्दी के विद्यार्थियों ने अपनी हस्तलिखित पत्रिका का कथा अङ्क निकाला है। ऐसे अंक विद्यार्थियों को सम्पादन और लेखन का अभ्यास कराने में सहायक होते हैं। इसमें प्रोफेसर देवराज उपाध्याय ने भी अपना सहयोग प्रदान किया है। हिन्दी के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र और अज्ञेय को ही विशेष-विशेष विवेचना का विषय बनाया गया है। साथ ही प्रमुख विदेशी उपन्यासों की चर्चा की गई है। यह अंक अपने सीमित क्षेत्र में बहुत उपादेय सिद्ध होगा।

बंगाल हिन्दी-मण्डल के पुरस्कार—

पिछले दो-तीन वर्ष से उक्त नाम से एक ऐसी उपयोगी संस्था का जन्म हुआ है, जिसने बिना आत्म-विज्ञापन के अपना काम शुरू कर दिया है। मण्डल ने हिन्दी के उन विषयों पर पुस्तकें लिखवाना शुरू किया है, जिनकी ओर अभी तक लेखकों या संस्थाओं का ध्यान नहीं गया था। यह संस्था अपने विषय देकर पुस्तकें लिखवाती है और फिर प्राप्त पाण्डु-लिपियों की परीक्षा अधिकारी विद्वानों से करा के उन पर निश्चित पुरस्कार प्रदान करती है। ऐसी तीन पुस्तकों पर मण्डल ने गत वर्ष पुरस्कार दिए थे। इनमें एक पुस्तक प्रो० देवराज एम० ए० की 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' अब छप कर प्रकाशित भी हो गई है। इस वर्ष जिन विषयों पर पुस्तकें लिखाई गई थीं, उन पर भी पुरस्कार की घोषणा हो गई है। १५००) का एक पुरस्कार श्री भरतसिंह उपाध्याय बी० ए० की 'बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' पर तथा १२५०) का दूसरा पुरस्कार श्री हरिदत्त की वेदालङ्कार की 'हिन्दू-विवाह मीमांसा' पर दिया गया है। १९४९ में जिन पुस्तकों पर पुरस्कार दिए जायँगे उनके विषय यह हैं—

१—आधुनिक व्यापार (आधुनिक व्यापार पर ५०० पृष्ठों की पुस्तक) पारितोषिक १५००)

२—हिन्दू परिवार-मीमांसा (हिन्दू परिवार प्रथा की वैज्ञानिक शोध; ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण, पृष्ठ संख्या ३५० से कम न हो) पारितोषिक १२५०)

३—जायसी तथा अन्य प्रेममार्गी कवि (मलिक मुहम्मद जायसी तथा प्रेममार्गी शाखा के दूसरे कवियों के साहित्य का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं कला पक्षात्मक निरूपण और आलोचन; पृष्ठ संख्या ३०० से कम न हो) पारितोषिक ७५०)

४—बंगाल का वैष्णव साहित्य (बंगाल के वैष्णव साहित्य का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं धार्मिक आलोचनात्मक विवेचन; पृष्ठ संख्या २५० से कम न हो) पारितोषिक ५००)

पारितोषिक के साधारण नियम यह हैं:—

१—पुस्तकें मौलिक हों; अनुवादित न हों।

२—पुस्तकों की तीन हस्तलिखित (या टाइप की हुई) प्रतियाँ भेजना आवश्यक है। इस नियम में कोई अपवाद न होगा।

३—पुस्तकें प्रतियोगिता में रक्खी जायँगी। निर्णायकों की सर्वमति या बहुमति से जो पुस्तक सर्वश्रेष्ठ होगी, उस पर पारितोषिक दिया जायेगा।

४—एक विषय पर यदि एक ही पुस्तक आये और वह निर्णायकों की सम्मति में यथेष्ठ और श्रेष्ठ मानी जाये, तो उस पर भी पारितोषिक दिया जायेगा।

५—मण्डल की ओर से एक 'निर्णायक-समिति' नियुक्त की जायेगी, जिसका निर्णय मण्डल तथा लेखकों दोनों को ही मान्य होगा। निर्णायकों के नाम प्रकाशित नहीं किये जायेंगे।

६—लेखक स्वयं अथवा किसी भी प्रामाणिक प्रकाशन संस्था से अपनी पुस्तक प्रकाशित करा सकेगा। कॉपी राइट या रायल्टी का लेखकों को पूर्ण अधिकार होगा।

पुस्तकों की तीन-तीन प्रतियाँ ३१ जनवरी, १९४९ तक बंगाल हिन्दी-मण्डल—दिल्ली शाखा के संयोजक के पास हरिजन-निवास, किंग्सवे, दिल्ली के पते पर अवश्य पहुँच जानी चाहिएँ।

जी० जी० सेल्स डिपों:—(१) किताब महल, होर्नबी रोड बम्बई। (२) चावड़ी बाजार देहली। (३) मून हाउस पी ४० मिशन रो एक्सटैन्शन, कलकत्ता। (४) मेसर्स गिरधरलाल वकील, दर्जीचौक

रामचरनलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
सम्पादक
गुलाबराय एम. ए.
सञ्चालक
महेन्द्र
सितम्बर. १९४५
साहित्य-संदेश

विषय-सूची

भाग ७] आगरा, सितम्बर १९४५ [अङ्क ६

कवि और पाठक के तीन व्यक्तित्व

श्री गुलाबराय एम. ए.

[कवि की रसानुभूति के सम्बन्ध में लेखक ने उसके तीन व्यक्तित्व माने हैं। एक उसका निजी व्यक्तित्व दूसरा उसका कलाकार का व्यक्तित्व और तीसरा भावक का व्यक्तित्व। इसी प्रकार पाठक के भी तीन व्यक्तित्व होते हैं। —सम्पादक]

संस्कृत के आचार्यों ने रसानुभूति अधिकांश में सहृदय पाठक या दर्शक में मानी है। लोकमत भी कुछ ऐसा ही है। कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पंडितः। यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि हमारे यहाँ कवि के हृदयगत रस का विवेचन बहुत कम हुआ है तथापि हमारे यहाँ के मनीषी इससे नितान्त उदासीन नहीं थे। गोस्वामीजी का 'स्वान्तः सुखाय' कवि के हृदयगत रस का ही पर्याय है। नाट्य-शास्त्र के कर्ता भरत मुनि भाव की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखते हैं:—

वागङ्ग मुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च
कवेरन्तरगतः भावं भावयन् भाव इत्युच्यते

अर्थात् कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आङ्गिक, मुखरागादि तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वादयोग्य बनाता है वह भाव कहलाता है। इस सम्बन्ध में भारतीय परम्परा में कविता के आरम्भ पर विचार कर लेना आवश्यक है।

महर्षि वाल्मीकि का 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः' वाला भारतीय काव्य का आदि श्लोक कवि के शोक से द्रवीभूत हृदय का ही तो श्लोक रूप है। 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'। कविवर पंत जी ने भी कहा है 'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान।' अब प्रश्न यह होता है कि क्या कवि अपने दुखात्मक अनुभवों को सीधा रस रूप में प्रवाहित कर देता है? क्या कवि का अनुभव लौकिक ही रहता है? या उसका अनुभव भी साधारणीकृत होकर आस्वाद योग्य बनता है। ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक पर अभिनव गुप्त की टीका के एक उद्धरण से जो सुप्रसिद्ध दार्शनिक डाक्टर एस० एन० दासगुप्त के बङ्गाली भाषा में लिखे हुए 'काव्य विचार' नाम के ग्रन्थ में उद्धृत है यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्ताचार्य, कवि के हृदयगत भाव का भी साधारणीकरण मानते थे। वे कवि के लौकिक अनुभव को आस्वाद का विषय नहीं मानते थे।

पाठक की भाँति कवि के हृदयगत तत्सम्बन्धी संस्कारों को देश काल के बन्धन से मुक्त कर आस्वादयोग्य बनाया जाता है। देखिए:—

वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवेः साधारणं तदापि वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानमयो न तु लौकिक विषयजः रागान्ते एव देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेन आस्वादयोग्यः तं भावयन् आस्वाद योग्यी कुर्वन् भावश्चित्तवृत्ति लक्षण एव उच्यते।

अभिनव गुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कवि अपने लौकिक अनुभव को नहीं देता है। क्या वियोगी कवि की आह सीधी ही आती है अथवा साधारणीकृत होकर? वाल्मीकि का क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थित श्लोक किस प्रकार श्लोक बना?

वास्तव में कवि के दो व्यक्तित्व होते हैं—एक लौकिक और दूसरा साधारणीकृत सहानुभूतिपूर्ण कलाकार का व्यक्तित्व। इसके अतिरिक्त उसका भावक का तीसरा व्यक्तित्व भी होता है। लौकिक व्यक्तित्व में वह साधारण मनुष्य की भाँति सुख में हँसता है और दुख में रोता है किन्तु उसका कलाकार का व्यक्तित्व उसके रोने में भी एक सुरीला राग भर देता है। उसके निजी व्यक्तित्व का सुख दुख कलाकार को बल अवश्य दे देता है किन्तु कलाकार का व्यक्तित्व अयं निजः परोवा की लघुचेतना से ऊँचा होता है। लौकिक व्यक्तित्व में देश काल का परिच्छेद रहता हैं और उसके अनुभव में उपादेयता, हेयता, आकर्षण, विकर्षण की निजी भावना रहती है। उसके साथ यह विचार रहता है कि यह अनुभव कुछ काल और बना रहे या क्षण भर भी न रहे। कलाकार का व्यक्तित्व साधारणीकृत होता है। वह अपने अनुभव को निजत्व या परत्व से परे पाता है। उसमें वह उसका शुद्ध रूप में आस्वाद करता है। वह आनन्दित होता है और अपने आनन्द का परिप्रेषण करता है।

मैं अपना उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पाठक इस आत्म-विज्ञापन को क्षमा करें। १९३७ की बाढ़ में जब मेरा घर जल से परिवेष्टित हो गया था और मुझे उसके भावी अस्तित्व में शंका होने लगी थी। उस समय के कुछ क्षण बड़ी तीव्र दुखमय अनुभूति के थे। उस समय मैं हँसने का प्रयास भी नहीं कर सकता था किन्तु थोड़ी देर बाद जब वह शङ्का मेरे मन से ओझल हो गई मेरे भीतर का कलाकार जाग उठा और मैं उस समय भूल गया कि मेरा सर्वस्व (मेरी सारी उम्र की कमाई मकान में ही लगी थी) नाश होने की सम्भावना है। मैं नाना प्रकार की कल्पनाओं में मग्न होगया। मैं नारायण (नाराः (जल) अयनं यस्य) और कामायनी के मनु से अपनी तुलना करने लगा।

काव्य का अनुभव कल्पना का मधुमय सञ्जीवन रस लेकर पीछे से आता हैं तभी तो महाकवि Wordsworth ने कहा है कि Poetry is emotion recollected in tranquility अर्थात् काव्य शान्ति के समय स्मरण किया मनोवेग है। प्रायः अधिकांश लोगों का कलाकार का व्यक्तित्व उनके निजी व्यक्तित्व के पीछे रहता है, किन्तु कुछ लोगों में कलाकार का व्यक्तित्व निजी व्यक्तित्व को दबाये रखता है। वे अपने निजी सुख-दुख को भूले रहते हैं। सत्यनारायण जी वर्षा-वारि-बिन्दुओं से धोये-धोये पातों की कमनीय सुषमा से प्रभावित होकर कविता करने में इतने मग्न हो गये थे कि परीक्षा-भवन में समय पर पहुँचने की उनको चिन्ता न रही।

कवि जब अपने लौकिक अनुभव का सीधा परिप्रेषण नहीं करता है तब तो उसके कल्पना का मधु मिल ही जाता है और वह दुःखद अनुभव सुखद हो जाता है, और वह सीधा परिप्रेषण तभी करता है जबकि उसके कलाकार का व्यक्तित्व जो परिस्थिति के क्षुद्र बन्धनों से मुक्त होता है उसके लौकिक व्यक्तित्व को दबा लेता है। वाल्मीकिजी का शोक श्लोक में इसीलिए परिणित हो गया कि उनके उस शोक में कलाकार की सहानुभूति और लोकानुकम्पा का पुट था। वह वैयक्तिक न था वरन् लोक-सामान्य भावभूमि में उठे हुए साधारणीकृत व्यक्ति के हृदय का उद्गार था। इसीलिए वह काव्य के रस रूप में

प्रवाहित हो सका। कवि जितना बड़ा होता है उतना ही उसका कलाकार उसके लौकिक व्यक्तित्व को आविर्भूत रखता है। वाल्मीकि में उस समय दोनों व्यक्तित्व मिल गये थे।

कवि जब अपनी वैयक्तिक हानि का वर्णन करता है तब उसमें भी उसके कलाकार का व्यक्तित्व मिला रहता है। कविवर टेनीसन का 'इन मेमोरियम' नाम का शोक-काव्य जिसको उसने अपने मित्र की मृत्यु पर लिखा था इसका अच्छा उदाहरण है। उसके व्यक्तिगत शोक ने कलाकार को बल अवश्य दिया किन्तु उसके रोने में और साधारण मनुष्य के रोने में अन्तर था। उसका व्यक्तिगत शोक मित्रता के सम्बन्धों और मृत्यु जन्य शोक की साधारण भावना प्रकट करने का एक अवसर बन गया था। कवि की आह व्यक्ति की आह नहीं होती वरन् कवि की कल्पना से अनुरञ्जित समाज की आह होती है। कवि की आह से गान ही निकलता है रुदन नहीं।

कवि का भाव जब तक साधारणीकृत नहीं होता तब तक वह पाठक के हृदय के भाव को भी साधारणीकृत करने में समर्थ नहीं हो सकता। जैसा बीज होगा वैसा ही फल होता है। बीज कवि के हृदय में होता है, उसका फल सहृदय के हृदय में लगता है। 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं' का भी यही अर्थ है। किन्तु कवि भी अपनी कृति का सहृदय बनकर आस्वाद ले सकता है। कवि अपने तीसरे व्यक्तित्व में अपनी कृति का भी आस्वाद लेता है। सरस्वतीजी जो ब्रह्मा की पुत्री भी है और उनकी भार्या भी मानी गई हैं कवि द्वारा कृति के आस्वादन का यह सुन्दर रूपक है। किन्तु आस्वादन के समय वह कवि नहीं रहता भावक (आलोचक) बन जाता है।

कवि के यह तीनों ही व्यक्तित्व एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। कवि के निजी व्यक्तित्व में उसकी अनुभूति रहती है। कवि के व्यक्तित्व में कल्पना और अभिव्यक्ति रहती है और भावुक का व्यक्तित्व उसमें औचित्य अनौचित्य का नियन्त्रण रखता है।

इसी प्रकार पाठक या दर्शक के भी तीन व्यक्तित्व होते हैं। एक तो उसका लौकिक व्यक्तित्व जिसमें वह अपने निजी सुख-दुख, शारीरिक चिन्ताओं आदि का अनुभव करता रहता है। दूसरा रसास्वादन का साधारणीकृत व्यक्तित्व जो देश-काल के क्षुद्र बन्धनों से परे होता है। रसिक भूखा रह कर भी काव्यास्वाद में कुछ काल तक के लिए अवश्य (मेरे प्रगतिशील भाई मुझे क्षमा करें) मग्न रह सकता है। रसिक अपने लौकिक अनुभव में भी कभी-कभी रसास्वाद कर सकता है किन्तु वह तभी होता है जबकि उसमें सात्विकता का प्राधान्य होता है। ममत्व और अहंकार से परे होना ही सात्यिकता है। यह प्रायः शृङ्गारादि के सुखद अनुभवों में होता है किन्तु उसमें जो चाह लगी रहती है वह उसे लौकिक बना देती है। क्रोध में भी सात्विकता आ सकती है जबकि वह वैयक्तिक कारणों से न हो और नीचता के साधनों का अवलम्बन न किया जाय।

साहसी लोगों को भय आदि के स्थलों में भी आनन्द आता है। उस समय वे निजी व्यक्तित्व और शारीरिक कुशल-क्षेम का ध्यान छोड़ देते हैं किन्तु यह सब लौकिक आनन्द ही है। ऐसे लौकिक आनन्द में व्यक्ति के लिए उपादेयता का भाव लगा रहता है। यह लौकिक और रसानुभूति की बीच की दशा कही जा सकती है। काव्यानन्द इससे भिन्न होता है।

ऐसी ही बीच की दशा नाटक देखते समय उपस्थित हो जाती है जबकि नाटक के पात्रों को दर्शक वास्तविक समझ लेता है। कहा जाता है कि जब नील दर्पण नाटक का पहले-पहल अभिनय हुआ था तब एक सज्जन गोरों के अत्याचार से इतने दुखित हुए कि वे अपना निजी व्यक्तित्व भूल कर और नाटक को असलियत मान कर स्टेज पर जूता लेकर पहुँच गये और अत्याचारी को मारने लगे। वास्तविक रसानुभूति में पाठक या दर्शक का साधारणीकृत व्यक्तित्व ही रहता है।

———

हरिश्चन्द्र-काल

डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा

[हिन्दी के इतिहास में भारतेन्दु युग का विशेष महत्त्व है। उसमें हम हिन्दी गद्य की धाराओं के मूल स्रोतों का अध्ययन कर सकते हैं। लेखक-महोदय ने भारतेन्दु जी की पद्य-रचना की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक महत्त्व दिया है। इसमें विषयों के विस्तार के साथ भाषा के संस्कार को भी महत्त्व दिया गया है। —सम्पादक]

हिन्दी-गद्य-साहित्य का वह काल, जिसमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके अनेक समसामयिक प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी नवोन्मेषिणी रचनाएँ प्रकाशित कीं, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इस समय प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा का अंत हुआ। रीति युग में विषय-निर्वाचन का जो संकोच दिखाई पड़ा था, वह यहाँ तक अविच्छिन्न रूप में आया। विषय की नानारूपता के अभाव के साथ-साथ अभिव्यञ्जना और भाषा में भी एकांगिता घुस आई थी। साहित्य का सारा क्षेत्र संकुचित हो गया था। हरिश्चन्द्र-काल ने हिन्दी-साहित्य में परिवर्तन उपस्थित किया।

अंग्रेजी शासन के स्थापित होने के उपरान्त, भारतवर्ष की संस्कृति में परिवर्तन होने लगा था। धीरे धीरे इस नवीनता का प्रभाव देश के सभी अंगों पर दिखाई पड़ा। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक-जीवन पर नवीनता का रंग चढ़ने ही लगा पर साहित्य में तो उसका रूप क्रान्तिकारी बन गया। इसके पहले हिन्दी-साहित्य पद्य के एक पैर पर खड़ा था और वह पैर भी रक्त-संचार की मलिनता तथा अस्वस्थता के कारण दुर्बल एवं अशक्त हो चला था। नवीन रक्त-संचार के अभाव में शरीर के विभिन्न अवयव जैसे वृद्धता के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं, उसी प्रकार साहित्य का यह एक पैर भी अब उखड़ चला था। अतएव इस में नवीन रक्त उत्पन्न करने की और साथ ही दूसरे पैर के गढ़ने की व्यवस्था आवश्यक हो गई थी।

हरिश्चन्द्र जी ने अपने जीवन-काल में पद्य के स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं किया। नवीन विषयों की ओर संकेत करके उन्होंने उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में नवीनता का केवल आभास भर दिया। यही कारण है कि उस काल में भी रीतिकालीन क्षीण-हीन कलेवरा नायिका अपने वृद्धता का दुर्गम-भार वहन करती हुई हिलती-डोलती दिखाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त उनके अन्य सहयोगी और उद्दीपक भी जीवन-हीन होकर अस्त व्यस्त रूप में रह गये थे। अपने काल के प्रतिनिधि भारतेन्दु ने जीवन को उन प्राचीन नायिकाओं के चंगुल से मुक्त करके, उन्हें रूप, फुलवारी और वाटिकाओं से निकाल कर बाहर किया। भक्ति एवं प्रेम के कल्पना-लोक और संयोग-वियोग के संघर्ष से दूर हटाकर उन्होंने जीवन को व्यवहार की सामान्य भूमि पर लाकर खड़ा करने का उद्योग आरंभ कर दिया था। परंपरागत भावों तथा विषयों पर रचनाएँ तो चलती ही रहीं, उन्होंने अपने समसामयिक स्थितियों और विषयों की ओर ध्यान आकर्षित किया। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग करके इस बात का भी उन्होंने संकेत कर दिया था, कि यदि चेष्टा की जाय तो इस भाषा का भी काव्योचित संस्कार किया जा सकता है। जहाँ उन्होंने परंपरा के अनुसार प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी, सतसई-शृंगार, दान लीला, बसंत और होली पर प्राचीन पद्धति के अनुसार अनेकानेक रचनाएँ प्रस्तुत की, वहीं पर अपने वर्तमान से संबद्ध विभिन्न विषयों पर भी सरस कवितायें

लिखीं। श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र, विजयिनी-विजय-बैजयन्ती, रिपनाष्टक, श्री जीवन जी महाराज शीर्षक सम सामयिक विषयों पर भी उन्होंने .कविताएँ बनाई; साथ ही राष्ट्र-गौरव-पूर्ण गान भी उन्होंने लिखे जो कि समय के विचार से आगे थे। उनमें गौरव, देश-प्रेम और जाग्रति की भावनाओं का स्थिर रूप दिखाई पड़ता है। 'भारत-वीरत्व' 'जातीय-संगीत' और 'भारत-भिक्षा' इत्यादि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इसके अतिरिक्त अपने समकालीन भाषा-द्वन्द का वर्णन-कथन करके उन्होंने अपने समय की सच्ची और महत्त्वपूर्ण घटना की आलोचना संरक्षित रखी है। 'उर्दू का स्यापा' और 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' इसी प्रकार की रचनाओं के भीतर आते हैं। भारतेन्दु का प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन यों तो प्रायः परंपरागत और नागरिकता से ही पूर्ण है, परंतु निवेदन-पद्धति और पदावली के विचार से कहीं-कहीं उसमें भी नवयुग के बीज लक्षित होते ही हैं। "प्रात-समीरन" शीर्षक कविता में इसका स्पष्ट आभास मलता है।

गद्य के क्षेत्र में उनका विशेष महत्त्व है। उनके पूर्व भाषा का द्वन्द चल रहा था। आरम्भ में ही यह द्वन्द्व इंशा अल्लाखाँ और मुंशी सदासुख लाल में प्रकट हुआ। इसके उपरान्त राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिव प्रसाद जी के समय में इसने संघर्ष का रूप पकड़ा। भारतेन्दु और उनके समकालीन अन्य लेखकों के सामने यह प्रश्न आया कि इस द्वन्द्व की व्यवस्था होनी चाहिये। हिन्दी साहित्य में यह परिवर्तन और क्रान्ति का युग था। उस समय भाषा जिस ढर्रे पर चलती उसका प्रभाव अवश्य ही भविष्य के रूप पर पड़ता। इस गंभीरता को बाबू हरिश्चंद्र ने समझा और उन्होंने अपने को संघर्ष में न डालकर एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। राजा शिवप्रसाद जी की प्रवृत्ति धीरे-धीरे फारसीपन की ओर बढ़ रही थी। राजा लक्ष्मणसिंह के साथ ईसाई धर्म-प्रचारकों की रुचि भाषा की विशुद्धता की ओर थी राजा शिवप्रसाद का फारसीपन बढ़ा। यह केवल शब्द-कोश तक ही न परिमित रहा, उनकी वाक्य योजना, समासरूप और अन्य व्याकरण संबन्धी नियमों के पालन में फारसीपन दिखाई पड़ने लगा। दूसरी ओर राजा लक्ष्मण सिंह और ईसाइयों ने पछाँही-पन अथवा प्रान्तिकता और ग्रामीण चलते तद्भव शब्दों तक को अपनाना तो स्वीकार कर लिया, परन्तु फारसी-अरबी के शब्दों और उनके शासक नियमों को सदैव बचाते रहे। इस प्रकार भाषा का यह द्वन्द दृढ़ रूप पकड़ता गया।

भारतेन्दु ऐसे प्रतिभा संपन्न और दूरदर्शी व्यवस्थापक ने समझ लिया कि इस प्रकार की खींचतान ऐसे कठिन समय में हानिकर ही सिद्ध होगी; साथ ही एक पक्ष को स्वीकार करनेसे दूसरा पक्ष विरोधी बन जायगा। ऐसी अवस्था में उनके द्वारा स्थापित भाषा प्रयोग का मध्यम-मार्ग बड़ा ही मंगलकारी तथा व्यवहारिक सिद्ध हुआ। आगे चल कर उनकी बहुमुखी गद्य की रचनाओं में इसी शैली का उपयोग हुआ। इनके समय के अन्य लेखकों ने प्रायः इन्हीं का अनुकरण किया।

यों तो उस समय भी भाषा-द्वन्द पूर्वरूप से समाप्त नहीं हुआ, परन्तु किसी प्रकार उसने कोई उग्र रूप भी नहीं धारण किया। इस समय की अधिकांश रचनायें इसी मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त के अनुसार बनी हैं। इसका संपूर्ण श्रेय भारतेन्दु को मिलना चाहिये। उनका प्रभाव तत्कालीन लेखक मंडल पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका भाषा-संबन्धी परिष्कार गद्य-शैली के निर्माण में बड़ा अनुकूल रहा।

भाषा संबंधी संस्कार के अतिरिक्त गद्य-साहित्य की रूप-रेखा और मूल स्थापित करने में भारतेन्दु का बड़ा हाथ था। प्रस्तावना रूप में उनके पूर्व केवल कुछ स्कूली पुस्तकें चल रही थीं और कुछ धार्मिक पौराणिक आख्यानों का रूप दिखाई पड़ रहा था। गद्य-रचना के इस व्यवहारिक रूप के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य के क्षेत्र के भीतर आने वाली रचनायें नहीं थीं। स्वयं हरिश्चन्द्र जी ने अनेक विषयों पर लिखा और निरंतर इस बात का प्रयास करते रहे कि नवीन लेखकों की सृष्टि हो और शीघ्र हिन्दी-गद्य का बहुमुखी रूप सामने आ जाय। तत्कालीन साहित्य-निर्माण पर उनके उत्साह और प्रेरणा,

का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके साथ लेखकों का एक मंडल तैयार हुआ उसमें अनेक प्रतिष्ठित लेखक ऐसे थे जो उन्हें आदर्श मानकर अनुकरण करते थे। इस प्रकार उस लेखक-मंडल के सरदार भारतेन्दु बने। उस समय के लिखने वालों में बालकृष्ण भट्ट, सुधाकर जी, प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम, बदरीनारायण "प्रेमघन", जगमोहन सिंह, श्री निवासदास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास प्रभृति थे। इनके अतिरिक्त गोविन्द नारायण मिश्र, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, लक्ष्मीशंकर मिश्र इत्यादि भावी लेखकों का उदय तथा उद्बोधन उसी काल में मानना चाहिये। इसके उपरान्त तो लेखकों और रचनाओं की परंपरा चल पड़ी और भारतेन्दु द्वारा प्रवाहित गद्य की सुधा-धारा उत्तरोत्तर अखण्ड एवं पीनकाय होती गई है।

भारतेन्दु के समय तक छापाखानों की स्थापना अच्छी तरह हो चुकी थी। धार्मिक और स्कूली पुस्तकों का प्रकाशन न चल रहा था। अंगरेजी और बंगला में समाचार-पत्र निकल रहे थे। उनके महत्त्व को सभी समझ रहे थे और उनका व्यवहारिक उपयोग तथा प्रभाव सभी अनुभव कर रहे थे। छापाखानों और समाचार-पत्रों के द्वारा कितना काम हो सकता है, इसका ज्ञान हिन्दी के प्रवर्त्तक और अनुयायियों को तुरंत हो गया। भारतेन्दु की बाल्यावस्था में ही 'बनारस अखबार' (सन् १८४५ ई०) गोविन्द रघुनाथ थत्ते के संपादकत्व में, 'सुधाकर' (सन् १८५० ई०) तारमोहन मित्र के संपादन में और 'बुद्धि-प्रकाश' (सन् १८५२ ई०) आगरा वाले सदासुखलाल के संपादन में निकल चुके थे। जब भारतेन्दु साहित्य-क्षेत्र में आये, उस समय कुछ वर्षों के लिये समाचार-पत्र बन्द हो गये थे। इन्हें यह अभाव खटका और उन्होंने सबसे पहिले 'कवि वचन सुधा' (सन् १८६८ ई०) का प्रकाशन आरंभ किया। इसमें पहले केवल कविताओं का संग्रह निकलता रहा परन्तु पीछे गद्य-लेखों को भी स्थान दिया जाने लगा। पहले यह पत्रिका मास में एक बार, फिर दो बार, और पीछे साप्ताहिक रूप में निकलने लगी। आगे चलकर इन्होंने "हरिश्चन्द्र-मैगजीन" (सन् १८७३ ई०) निकालनी आरम्भ की— जो आठ संख्याओं के उपरान्त "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" के नाम से प्रकाशित होने लगी। भारतेन्दु को स्त्री-शिक्षा और उनके सुधार की विशेष चिन्ता रहती थी। समाज में उनके महत्व को समझाने और उनकी बौद्धिक उन्नति के विचार से उन्होंने एक पत्रिका 'बाला-बोधिनी' (सन् १८७४ ई०) निकालनी आरम्भ की।

इन पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ अन्य उत्साहियों ने भी विभिन्न स्थानों से अन्य समाचार-पत्र निकाले। सदानन्द सलवाल ने सन् १८७१ ई० में अल्मोड़ा से "अल-मोड़ा-अखबार", कार्तिकप्रसाद खत्री ने सन् १८७२ ई० में कलकत्ते से 'हिन्दीदिप्ति-प्रकाश', केशवराम भट्ट ने इसी साल बिहार से 'विहार-बन्धु' और श्री निवासदास ने दिल्ली से सन् १८७४ ई० में 'सदादर्श' निकाले। इसके उपरान्त तो अनेकानेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी। सन् १८७६ ई० और १८८५ ई० के भीतर प्रायः पचीस-तीस समाचार-पत्र और ऐसी पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं जिनमें समाचारों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ निबन्ध इत्यादि अन्य साहित्यिक रचनायें भी निकला करती थीं। इनमें अधिकाँश तो अल्प जीवी थीं जो कुछ दिन चलकर समाप्त हो गई; परन्तु उनमें कुछ ऐसी भी थीं जो कुछ दिनों तक लगातार काम करती रहीं जैसे—ब्राह्मण, आनन्दकादम्बिनी, हिन्दी-प्रदीप, उचित वक्ता, भारतमित्र और बिहार बन्धु इत्यादि तो कई वर्ष तक प्रकाशित होते रहे। इनमें प्रथम तीन तो शुद्ध साहित्यिक थे जिनसे हिन्दी के आरम्भिक निबन्धों और समालोचनाओं का उद्भव मानना चाहिये।

ये समाचार पत्र-पत्रिकायें भारतवर्ष के संपूर्ण उत्तरा-खंड में फैल गईं। लाहौर से कलकत्ता और उदयपुर, अजमेर तथा जबलपुर तक इनकी धूम मच गई। 'होन-हार विरवान के होत चीकने पात' वाली बात चरितार्थ हुई। इतने व्यापक उत्साह और विस्तार के साथ जिस महत् उदय का प्रस्ताव हो, उसकी सफलता पर सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दी के प्रसार के लिये यह अवसर अवश्य ही

अत्यन्त अनुकूल था। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त ईसाई और आर्यसमाज का जो प्रचार-कार्य चल रहा था, उसने भी हिन्दी के विस्तार में योग दिया। तर्क वितर्क, वाद-विवाद, भाषणों और उपदेशों में प्रयुक्त होकर हिन्दी का बल बढ़ने लगा। उसमें परिमार्जन, प्रवाह, स्थिरता, व्यंजनात्मक और ग्रहण शक्ति का संचय होने लगा। उसके सम्पूर्ण अवयव पुष्ट होने लगे और उसकी स्फुरण शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगी। भाषा के संस्कार और अभिवृद्धि के लिये तो बहुत कुछ शीघ्र ही हो गया।

यह तो हुई भाषा के सम्बन्ध की बात; अब साहित्य और उसके विषय-पक्ष की स्थिति का विचार करना चाहिये। भारतेन्दु के पूर्व जो कुछ लिखा गया था वह तो केवल प्रस्तावना मात्र थीं। यथार्थतः विषय के विचार से उसका विशेष महत्व नहीं है। हां—भाषा का वृद्धिक्रम स्थापित करने के लिये उसकी आवश्यकता पड़ती है। स्कूली पुस्तकें और अन्य विषयों पर जो कुछ लिखा गया था उसमें केवल विषय-प्रवेश भर दिखाई पड़ता था। हिन्दी के गद्य-साहित्य का वास्तविक उदय हरिश्चन्द्रकाल में ही हुआ। शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ इसी काल में आरंभ हुई। यों तो कहानी और उपन्यास की रचना भारतेन्दु के पूर्व ही आरम्भ हो गई थी, परन्तु अटूट रूप में विविध विषयों की रचनाएँ उन्हीं के समय से निकलीं। स्वयं हरिश्चन्द्रजी ने अनेक विषयों पर लिखा और अपने उद्योग तथा प्रेरणा से न जाने कितनी चीजें तैयार कराईं। इनके समय के लेखक मण्डल ने नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि साहित्यिक विषयों पर इतना अधिक लिखा कि दुर्बल काया गद्यसरिता पूर्ण भरिता और प्रवाहशीला बन गई।

उस काल के प्रायः सभी लेखक किसी न किसी पत्र के सम्पादक थे। उनको प्रति सप्ताह, प्रति पक्ष अथवा प्रति मास इतना अवश्य ही लिखना पड़ता था कि उनकी पत्रिका का पेट भर जाता। इन पत्र-पत्रिकाओं में सभी प्रकार की रचनाओं के नमूने मिलते हैं, कहीं समाचार-संग्रह, कहीं हास्य-विनोद, कहीं निबंध, कहीं आलोचना। ऐसी अवस्था में इन संपादक-लेखकों को विविध विषयों पर कुछ तुरन्त लिखने की क्षमता अपने में बनाये रखनी पड़ती थी। यही कारण है कि इनमें उत्साह और सजीवता तो अत्यधिक दिखाई पड़ती थी, परन्तु विषय-प्रतिपादन में गंभीरता और परिमार्जन नहीं मिलता। परन्तु इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि न तो उस काल में इसकी आवश्यकता थी और न विकास-क्रम के विचार से यह प्रकृत ही ज्ञात होता। इस काल का एकमात्र ध्येय यह था कि साहित्य के सभी रचना-प्रकारों का रूप खड़ा हो, भाषा का लिखित और वाचिक रूप विस्तार पाये और लोगों में साहित्य का आरंभिक बोध तथा प्रेम उत्पन्न हो। अपने इस ध्येय की पूर्ति में यह लेखक-मण्डल बड़े उत्साह से लगा। उस समय हरिश्चन्द्र मण्डल में प्रमुख ये लोग थे— प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', तोताराम, जगमोहनसिंह, श्री निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी। यह लेखक मण्डल प्रतिभा संपन्न, उत्साही और सिद्ध था। इन लेखकों की यह प्रधान विशेषता थी कि इनकी रचनाओं में अपना निरालापन और सजीवता थी। भाषा में कहीं कहीं प्रान्तिकता और दोष रहने पर भी प्रवाह और व्यवहारिकता रहती थी। ये लोग साधारण चलते और व्यवहारिक विषयों पर बड़ी अनुरंजनकारी और सुसंबद्ध रचनायें तैयार करते थे। विषय की व्यवहारिकता के साथ-साथ वस्तु निवेदन का ढंग भी आत्मीयता एवं व्यक्तित्व से युक्त रहता था।

हरिश्चन्द्र-काल के भीतर तीन प्रमुख बातें हुईं। भाषा का संस्कार साहित्य का रूप खड़ा करने का सर्वोत्तम साधन था। इसको संघर्ष और अनिश्चितता के अंधकार में से बाहर निकाल कर आलोक-क्षेत्र में स्थिर और व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का श्रेय भारतेन्दु को है। उन्होंने नाटकों एवं अन्य विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रयोग करके उसकी व्यवहारिकता का अच्छा प्रकाशन किया। उनकी इस उद्देश्यपूर्ण चेष्टा का प्रभाव तत्कालीन अन्य सभी लेखकों पर अच्छा पड़ा।

अधिकांश रचनायें एक ही भाषा में प्रकाशित हुईं। भाषा का वह शिष्ट, सामान्य और प्रचलित रूप निरंतर व्यवहृत होता रहा। कुछ दिनों के उपरान्त वही रूप निखरकर और परिमार्जित होकर देवकीनन्दन खत्री प्रभृति लेखकों से प्रयुक्त होता हुआ प्रेमचन्द्र की रचनाओं तक चला आया। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रसार पर भी भारतेन्दु का ही प्रभाव मानना चाहिये। उन्हीं को आदर्श रूप में स्वीकार करके और उनके उत्साह से प्रेरित होकर अन्य अनेकानेक समाचार और साहित्य संबंधी पत्र प्रकाशित हुए और कुछ वर्षों के लिए हिन्दी-साहित्य के आन्दोलन में सर्वतोमुखी जाग्रति उत्पन्न कर दी। भाषा और पत्र-पत्रिकायें आधार थीं और आधेय था गद्य-साहित्य का निर्माण और उसका विकासोन्मुख वृद्धिक्रम। अपनी प्रतिभा, प्रभाव, लगन और संगठन-शक्ति के बल पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने थोड़े ही समय के भीतर वह उत्पादन-शीलता दिखाई कि सर्व-शून्य गद्य साहित्य का क्षेत्र भरा-पुरा ज्ञात होने लगा। उनके मंडल के अन्य सहयोगियों ने बड़ी तत्परता से साहित्य-निर्माण में उनका साथ दिया। फलतः गद्य-साहित्य के विभिन्न अवयव उत्तरोत्तर बलवत्तर होते गये। नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, गद्य-प्रबन्ध इत्यादि सभी विषयों का प्रचलन हो गया। सन् १८६३ ई० से लेकर सन् १८९३ ई० के परिमित काल में ही जितना प्रचुर साहित्य हिन्दी में निर्मित हुआ, स्यात् ही किसी साहित्य के इतिहास में केवल तीस वर्षों के भीतर इतना हुआ हो। यह हिन्दी गद्य-साहित्य का उदयकाल था और इन तीस वर्षों के सूत्रधार थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। उनकी बहुमुखी प्रतिभा सच्चे युग-प्रवर्तक के रूप में, संपूर्ण साहित्यिक-क्षेत्र का नियंत्रण करती रही। अतएव यदि इस आरंभ-युग को हरिश्चन्द्र-काल अथवा-युग कहा जाय तो किसी प्रकार भी अनुचित न होगा।

विद्यापति किस भाषा के ?

श्री सत्येन्द्र एम. ए.

[इस लेख के सम्बन्ध में हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे इसे पंडित झा के लेख ('विद्यापति हिन्दी-भाषा के नहीं" सन्देश जुलाई १९४५) के साथ पढ़ें। हिन्दी और बिहारी के व्यापक प्रश्न के सम्बन्ध में हम अन्य विद्वानों के मत का भी स्वागत करेंगे—सम्पादक]

बाबू गुलाबराय एम० ए० ने जनवरी-फरवरी के साहित्य-सन्देश में 'हिन्दी-साहित्य में विद्यापति' शीर्षक एक लेख लिखा था। वह विद्यार्थी-अङ्क था। विद्यार्थी-अङ्क में प्रायः वही लेख रहते हैं जो विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तकों से सम्बन्धित होते हैं। विद्यापति के पद हिन्दी की उत्तमा परीक्षा में भी पाठ्य हैं और एम० ए० में भी। वे इन परीक्षाओं में इसी रूप में रक्खे गये हैं जिसमें ब्रजभाषा के सूर, अवधी के तुलसी तथा अन्य। ब्रज के सूर और अवधी के तुलसी को सभी हिन्दी का कवि मानते हैं। उसी प्रकार विद्यापति को मैथिल का कवि होते हुए भी हिन्दी का कवि माना गया है। विद्वान् सम्पादक बाबू गुलाबरायजी हिन्दी के विद्वान् विद्यापति को हिन्दी का ही मानते हैं। इसी नाते उनका अध्ययन-मनन करते हैं। इसी लेख में विद्वान् बाबूजी ने विद्यापति की भाषा मैथिली की कुछ साधारण चर्चा की जिसमें यह वाक्य विशेष द्रष्टव्य हैं—

"किन्तु शास्त्रीय जाँच-पड़ताल ने उनको बंगाल का कवि नहीं ठहराया है। सकार का दन्ती उच्चारणादि कारणों से मैथिल बँगला से भिन्न मानी गई है। उसको लोग बँगला और हिन्दी के बीच की भाषा कहते हैं। बीच की भाषा की दोनों ओर खींचातान होती है किन्तु वह हिन्दी से अधिक मिलती-जुलती है।" आदि।

इस पर श्री पं० गोविन्द झा श्रोत्रिय मिथिला ने एक लेख उक्त लेख की आलोचना करते हुए लिखा है। उन्होंने कहा है कि "मैं मैथिली को बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं की भाँति एक स्वतन्त्र भाषा मानता हूँ।" एक स्थान पर और आगे आपने लिखा है—"इसके लिए मैं एकत्र ही कह देता हूँ कि बिहार के सभी विद्वान्, दो-चार नगण्य मातृ-भाषा विरोधियों को छोड़ कर, एक स्वर से मैथिली को स्वतन्त्र-भाषा मानते हैं।"

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने मातृ-भाषा के नये जोश में यह लेख लिखा है। अन्यथा बाबूजी के लेख में इस प्रकार की आलोचना के लिए निमन्त्रण नहीं था। यही नहीं लेखक ने उन युक्तियों पर बिलकुल विचार नहीं किया जो साधारणतः बाबूजी ने दो हैं। बाबूजी ने जो मैथिली को हिन्दी मानने के पक्ष में यह कहा है—

१—यदि पूर्वी हिन्दी के क्रियाओं के रूपों को क्रमशः देखते जायँ, तो हमको हिन्दी के साथ के सम्बन्ध—तन्तु सहज में ही दिखायी पड़ने लगेंगे।"

लेखक ने इसे माना है और कहा है कि ये क्रिया-पद पूर्वी हिन्दी में मैथिली के कारण हैं, विद्यापति के समय में मैथिली प्रौढ़ साहित्य-भाषा थी, उसी का प्रभाव पड़ा है। यह स्पष्ट है कि लेखक ने बाबूजी की बात स्वीकार करली है, उसकी व्याख्या दूसरी भाँति करदी है।

बाबूजी ने दूसरी बात यह कही है—

"२—इसके सम्बन्ध-कारक भी बँगला की भाँति एर लगा कर (जैसे नन्देर) नहीं बनते। वरन् अवधी का-सा क लगाकर बनते हैं जैसे—नन्दक नन्दन कदम्बन तरुतर।"

इस बात को भी लेखक ने माना है। उसने सम्बन्ध-कारक के उदाहरणों में 'हाथक, हाथकेर' ये दो दिये हैं। पर साथ ही आपने एक टिप्पणी और दी है—"परन्तु लेखक ने (अभिप्राय बाबूजी से है) मैथिली में पूर्ण प्रसिद्ध 'केर' विभक्ति नहीं देखी जो बङ्गला 'एर' से खूब मिलती है। इसी सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है लेखक ने पूर्वी हिन्दी की शायद 'केर' विभक्ति नहीं देखी जो ज्यों की त्यों ही मैथिली में है। बँगला का 'एर' फिर भी बहुत दूर है—यह 'केर' साहित्य में भी पर्याप्त उपयोग में आया है—'नृपन केर आशा निशि नाशी' (तुलसी)। पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'बुद्ध चरित' के आरम्भ में 'काव्य-भाषा' पर जो निबन्ध दिया है उसमें बताया है कि अवधी के सम्बन्धकारक के चिन्ह हैं—"कै, कर (बोल-चाल—'क') और केर"—इसी सम्बन्ध में आगे लिखा है—'केर' केवल पच्छिमी अवधी में है। 'केर' का व्रज रूप यद्यपि 'केरो' है पर खास व्रजमंडल के भीतर यह अब सुनने में नहीं आता। प्राकृत में भी यह सम्बन्ध चिन्ह अपने पूरे लिंग भेद के साथ मिलता है—पु० केरओ, स्त्री० केरिया, न० केरअं या केरउं। पु० केरो केरु, स्त्री० केरी, न० केरं। 'केरओ' आदि रूप पुराने हैं, ३०—एसोक्खु अलंकार भी अज्जाए 'केरओ'। (मृच्छ०)=यह अलंकार आर्य्य का है। पिछले फलरूप 'केरो' और 'केरु' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीर्घान्त रूप 'केरो' व्रज और लघ्वंत रूप 'केरु' अवधी है।" मैथिली का वह 'केर' अवधी और व्रज के 'केर' और 'केरो' के अधिक निकट है या बंगाली 'एर' के। बाबू गुलाबरायजी तो इस केर से भी परिचित थे, एर से भी और 'क' से भी। केवल 'क' का उल्लेख उन्होंने विद्यापति के नाते किया था, ऐसा प्रतीत होता है।

अब यहाँ झा जी के दावों का कुछ विस्तार विवेचन और करलें—उनका पहला वक्तव्य है कि मैथिली की विभक्तियाँ हिन्दी से सर्वथा विरूप है और बङ्ग-भाषा के बहुत निकट। उन्होंने इसे पुष्ट करने के लिए जो सूची दी है उसमें हमें 'अवधी' (पूर्वी हिन्दी) की विभक्तियाँ तुलना के लिए देकर, यह पूछना चाहेंगे कि मैथिली की विभक्तियाँ बंगला से मिलती हैं या पूर्वी हिन्दी से—

कारक	मैथिली	बंगला	हिन्दी	पूर्वी हिन्दी	
कर्त्ता	हाथ	हाथ	हाथ, हाथ ने,	हाथ	[पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'पर और पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है।" देखिए वहीं पृ० २०]।
कर्म	हाथकें	हाथके		हाथकेहाथकाँ	(पुराना रूप कहँ)
करण	हाथें	हाथे	हाथसे	हाथसे, सब	[यहाँ लेखक ने मैथिली का एक ही रूप दिया है। पर मैथिली बोली में 'सो' और 'से' का उपयोग भी करण कारक की विभक्ति के लिये होता है। यथा—शुद्ध मैथिली (दरभंगा जिला) के एक पत्र में से : 'आगा लछमनक जुबानी ओ चीठी सों' अहाँ सभक कुशलक्षेत्र बूझल, मन आनन्द मेल।·······जेहि सों ओकर परबरिश होइक······दक्षिणी मैथिली (बेगूसराय मुंगेर) से उदाहरण : 'तब अपना मौगी से कहलक कि ऐ रुपैया से हम मैंस मोल लेब······' देखिये 'बिहार की भाषा समस्या' शीर्षक पुस्तक में संकलित उदाहरण]
संप्रदान	हाथकें	हाथके	हाथको	हाथके, हाथकाँ	(पुराना रूप कहँ)
अपादान	हाथसँ	हाथ हइ ते	हाथसे	हाथसे, हाथतें	[अपादान के सम्बन्ध में भी लेखक ने केवल एक रूप दिया है। इसमें भी करण की भाँति 'से' विभक्ति का उपयोग मैथिली बोलियों में मिलता है। पूर्वी मैथिली (मध्य और परिचमी पूर्णियाँ) से 'बोकरा में से छोटका बाप से कहलक' धीकाहरीकी के एक नीति से—'न्हीये ओढ़ीये बेटी ठाढ़ी होली एँगना, नयना से ढरें लगल नीर।'] आदि
अधिकरण	हाथमें, हाथपर	हाथे	हाथमें, हाथपर	हाथमें, हाथमाँ,	(पुराना रूप कहँ), हाथपर
सम्बन्ध	हाथक, हाथकेर	हाथेर	हाथका	हाथके, हाथकर	(बोलचाल 'क') और हाथकेर।

उपरोक्त तुलना से स्पष्ट है कि लेखक का यह मत मान्य नहीं रहता कि 'बंगला से केवल अपादान में भेद है और हिन्दी से अधिकरण छोड़ सबमें।' अब यह सन्देह नहीं किया जा सकेगा कि मैथिली की सभी विभक्तियाँ पूर्वी हिन्दी से बिलकुल मिलती है, बंगाली से केवल कर्ता, और सम्प्रदान की कुछ विभक्तियाँ ही मिलती हैं।

दूसरा दावा है कि 'सार्वनामिक रूप नीचे दिए जाते हैं जो हिन्दी की अपेक्षा बंगला से ज्यादा मिलते हैं।' हम यहाँ भी पूर्वी के रूप के साथ तुलना के लिए देते हैं।

मैथिली	बङ्गला	हिन्दी	पूर्वी	
की	कि	क्या	की, कि	लखनु कि रहहहि धाम (तुलसी) उद्धरण डा० सक्सेना के Evolution of Awadhi में तुलसी 'की तुम तीन देव महँ कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ']

के	के	कौन	के	[के है ?=कौन है ?]; केइ [केइ तब नाथा कान नियाता' उद्धरण डा० सक्सेना के Evolution of Awadhi में] ।
ककर	कार	किसका	काकर, केहिकर या केकर	
ककरा पर	कार पर	किस पर		
कतय	कोथाय	कहाँ	कत	[कतहुँ सुधाइहुँतें बड़ दोसू–तुलसी]
कोन	कोन	किस		
कोनों	कोनों	कोई		
से	से	वह, सो,	वह, ऊ, सो, से, तीन, से,	
तकर	तार	उसका	ताकर	['को, जो, सो के कारक चिन्ह रूप व्रजभाषा के समान क्रमशः 'का', 'जा', 'ता' होंगे—जैसे काकर, जाकर, ताकर', रामचन्द्र शुक्ल बुद्ध भारत में निबन्ध]
ततय	तथाय	तहाँ	तत	[व्रज तक में जहाँ-तहाँ के लिए 'जित-तित' का प्रयोग होता है ।]
कखन	कखन	कब		['काखन' का प्रयोग व्रज में मिलता है । काखन की बात से]
तखन	तखन	तब		[ताखन भी व्रज में मिलता है ।]
जखन	यखन	जब		['जाखन' भी व्रज में मिलता है । जाखन मैंने सुनी का ऐ ताखन ई तें सोच में परि गयोऊँ' ।]
जे	थे	जो	जे	
जथय	यथय	जहाँ	जित	[जैसे जिन-तिन में]
एहि	एइ	इस	ऐहि	[पर पूरवी या शुद्ध अवधी पुराने सामान्य विभक्ति युक्त रूप 'एहि ओहि'……'रखती है'—शुक्ल वही]
ई	इहा	इस	ई	[व्यक्ति वाचक के अतिरिक्त और सर्वनामों के रूप अवधी में इस प्रकार हैं यह=यह (पश्चिमी अवधी), ई (पूरवी) । 'इस' 'यह' का ही कारकग्राही रूप है ।]
एहेन	हेन	एसा		
केओ	केहो	कोई		
तनि	तिनि	वह		

लेखक ने लिखा है 'सर्वनाम शब्द से सम्बन्धकारक में 'र' मैथिली तथा बँगला दोनों में आता है।" और ऊपर पूर्वी हिन्दी के उदाहरणों से स्पष्ट है कि यह हिन्दी में भी आता है। मैथिली का 'र' उस 'कर' का अंश है जो सम्बन्ध कारक की विभक्ति है। यह सम्बन्धकार की विभक्ति मैथिली में पूर्वी की भाँति बिलकुल स्पष्ट है, जब कि बँगला में वह मैथिली से भिन्न होकर 'प्रकृत' में प्रश्लिष्ट होगयी है।

लेखक ने तीसरा तर्क क्रियाओं के सम्बन्ध में दिया है। उसकी समीक्षा हम ऊपर कर चुके हैं। लेखक बाबूजी के कथन को सत्य तो मानता है, पर वह यह कहना चाहता है, वह हिन्दी का लक्षण नहीं मैथिली का है और मैथिली से शायद पूर्वी हिन्दी को मिला है। क्योंकि विद्यापति की भाषा ने पूर्वी हिन्दी को प्रभावित कर दिया है। उसने यह भी कहा है कि ये क्रियापद कहीं-कहीं बँगला में भी मिल जाते हैं। तब क्या पूर्वी हिन्दी, मैथिली और बँगला के क्रियापद एक से हैं। ऐसा नहीं है। यथार्थता यह है कि पूर्वी हिन्दी और मैथिली के क्रियापदों में विशेष साम्य है, बँगला से उतना नहीं।

चौथी बात शास्त्रीय लिङ्ग के सम्बन्ध में है। "मैथिली को हिन्दी में प्रथक स्वीकार करने की सबसे समर्थ युक्ति है इसमें शास्त्रीय 'लिङ्ग' (निर्जीव पदार्थों में भी स्त्रीत्व आदि का आरोप)...इसी प्रकार हिन्दी में दो वचन होते हैं लेकिन मैथिली तथा बँगला में सर्वत्र एक वचन ही।" इस सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

"पर और पूर्वी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है।'.......वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया का लिङ्ग वचन बदलता है। वचन के सम्बन्ध में तो यह बात है कि कारक चिह्न ग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूर्वी बोलियों में होता ही नहीं।......"

अवधी में भविष्यत की क्रिया केवल तिङन्त ही है जिसमें लिङ्गभेद नहीं है।"

"अवधी का कुछ लघ्वन्त पदों की ओर झुकाव है। जिसमें लिङ्ग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिङ्ग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ-कुछ आरम्भ हो जाती है।"

अतः केवल लिंग वचन की प्रणाली के आधार पर मैथिली हिन्दी से पृथक होने की बात नहीं कह सकती।

पाँचवी बात उच्चारण के सम्बन्ध में है। बँगला-भाषियों के निकट होने के कारण 'अ' के उच्चारण में यदि कहीं-कहीं कुछ भिन्नता मिलती है तो आश्चर्य की बात नहीं है। बाबूजी ने तथा अन्य विद्वानों ने इसे इसीलिए बीच की भाषा कहा भी है। पर लेखक स्वतः मानता है कि वह बँगला उच्चारण सर्वत्र नहीं। कहीं-कहीं शुद्ध 'अ' भी मिलता है। शेष अन्य उच्चारण-सम्बन्धी बातें यथा ऐ और औ का अइ और अउ वत् होना व्रज में भी मिलता है—नै, वै = नइ, वइ) चढ़ती वार (बिहारी) औ (अउ) रत। किन्तु दूसरा असंयुक्त उच्चारण Cat, Hot की भाँति भी मिलता है। लघ्वन्त की ओर प्रवृत्ति अवधी तथा पूर्वी भाषाओं में मान्य है ही। पदादि में 'म' का 'ज' होना व्रजभाषा की आम प्रवृत्ति है। अन्तस्थ 'व' का लोप भी हिन्दी की प्रमुख भाषाओं में मिलता ही है। यह भी केवल मैथिली की विशेषता द्योतक लक्षण नहीं।

इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि जिन तर्कों के आधार पर मैथिली को हिन्दी से भिन्न सिद्ध करने की चेष्टा की गयी, वे तर्क कोई प्रबल तर्क नहीं। और उनमें विशेष भूल इस कारण हुई कि लेखक ने हिन्दी से अभिप्राय खड़ी बोली से ही लिया है। उसने जो तुलनाएँ दी हैं वे सब खड़ी बोली से। उसका समस्त वक्तव्य मैथिली को खड़ी बोली से भिन्न सिद्ध करने में हुआ है। जबकि बाबू गुलाबरायजी ने अपने लेख में स्पष्ट ही पूर्वी हिन्दी का उल्लेख कर दिया था।

जिन आधारों पर लेखक ने मैथिली को हिन्दी से पृथक सिद्ध करना चाहा है, उनसे व्रज-भाषा और अवधी आदि जितनी भी अबतक हिन्दी की बोलियाँ मानी जाती हैं सभी पृथक भाषाएं सिद्ध होती हैं। इन बोलियों में से

कितनों ही का साहित्य-भण्डार अपूर्व है, और वह किसी भी साहित्य की तुलना में रखा जा सकता है। व्रजभाषा का अपूर्व साहित्य, अवधी में जायसी और तुलसी के महान काव्य, राजस्थानी के एकानेक ग्रंथ रत्न सभी को तो हिन्दी अपना मानती और गर्व करती है। उसी प्रकार मैथिली के साहित्य पर भी हिन्दी को अभिमान होना चाहिए। मौलिक प्रश्न यह है कि व्रज, अवधी, बुन्देली आदि भाषयें भी 'हिन्दी' क्यों मानी जानी चाहिए? या क्यों मानी जाती हैं? राहुल सांकृत्यायनजी ने 'मातृ भाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख १९४३ सितम्बर में प्रकाशित कराया था और उसमें हिन्दी-उर्दू वाले प्रान्तों में विहार की भी गणना की थी, और जिन ३० जनपदों के निर्माण की योजना का प्रस्ताव उन्होंने किया था उसमें २७ वें नम्बर पर मैथिली को भी रखा था, उसके क्षेत्र को विदेह (तिर्हुत) नाम दिया था, और राजधानी 'दर्भङ्गा' निश्चित की थी। राहुलजी ने भी उसे हिन्दी क्षेत्र की भाषा माना।

लेखक ने अनेकों विद्वानों के मत देकर यह प्रकट किया है कि विद्वान् मैथिली को प्रथक भाषा मानते हैं। हिन्दी के विद्वान् भी उसे एक प्रथक भाषा मानते हैं, पर उस रूप में जिसमें व्रज तथा अवधी को। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो मैथिली को हिन्दी से बिल्कुल ही प्रथक मानते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ऐसे ही विद्वानों में हैं। मैथिली को हिन्दी से भिन्न मान लेने पर भी विद्यापति दोनों की सम्पत्ति हो सकते हैं। एक बङ्गाली विद्वान ने लिखा है:—

"हमारे पदावली रचयिता कवियों में से अधिकाँश ऐसे हैं जिन्होंने विद्यापति से प्रेरणा प्राप्त की है, और परिणाम स्वरूप एक ऐसी कृत्रिम साहित्यिक भाषा उग आयी जिसका नाम 'व्रज-बुलि' पड़ा, जो न मैथिली ही है, न हिन्दी ही, न वह वास्तव में किसी भी समय किसी भौगोलिक क्षेत्र की भाषा ही रही। इसमें हमें मैथिली और हिंदी के रूपों का अद्भुत संयोग मिलता है। जिनके साथ-साथ ऐसे भी रूप और मुहाविरे हैं जो इन दोनों में से किसी के भी नहीं हैं।*

स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने "हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है:—

"इन्होंने (विद्यापति ने, अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। विद्यापति को बंग भाषा वाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी विहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिन्दी से अलग माना है। पर केवल भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता।"

"खड़ी बोली, बाँगड़, व्रज, राजस्थानी, कन्नौजी; बैसवारी, अवधी, इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं।··· अतः जिस प्रकार हिन्दी साहित्य "वीसलदेव

Padawali Literature : Vidyapaty by Basant Kumar Chatarji M. A. in Journal of the Department of Letters Vol, XVI, 1927.

"A large section of our Padawali poets drew inspiration from Vidyapati and in consi quence there, grew up an artificial literary language known as the Braja—buli which is neither Maithili nor Hindi, nor a language actualy belonging to any geographical area at any particular period of time. In it we find a curious combination of Maithili and Hindi forms together with a number of forms and idioms which belong to neither". (p. 23)

रासो" पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"

[पृ० ६४-६५ संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण, १६६६]

मातृ-भाषा का प्रेम प्रशंसनीय होता है। जिसे अपनी मातृ-भाषा से प्रेम है वह हमारी दृष्टि में आदरास्पद है। किन्तु मातृ-भाषा का प्रेम जब तअस्सुब का रूप ग्रहण कर लेता है, तो हानिकर हो जाता है। उससे असहिष्णुता आ जाती है, और व्यक्ति सत्य की ओर उन्मुख नहीं रह पाता। आज हमें कहीं कहीं यह दोष अत्यन्त प्रबल मात्रा में दिखाई पड़ रहा है। जिससे अस्वाभाविक विकार और जटिलताएँ पैदा हो रही हैं। लेखक को यह पूरा अधिकार है कि वह अपनी ईमानदारी में विश्वास रखे, पर दूसरे की ईमानदारी में भी उसे सन्देह नहीं होना चाहिए। वह मैथिली को अलग भाषा मानता है, मान सकता है; और इसे वह अपना मातृ-भाषा प्रेम समझ कर गर्व भी कर सकता है। पर जो व्यक्ति मैथिली को हिन्दी का रूप मान कर मैथिली के द्वारा हिन्दी को भी मातृ-भाषा मानता है उसे मातृ-भाषा विरोधी कैसे कहा जा सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। विद्यापति की बात यदि रहने दी जाय तो मैथिली के अलग भाषा होने से किसी ने इनकार नहीं किया, प्रश्न केवल यह कि वह मैथिली हिन्दी समूह के साथ जाय या अलग खड़ी हो। प्रसंगवशात् एक प्रश्न मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैथिली के पुत्रों ने किस भाषा को अपने लिए सहज बोध गम्य समझा, बँगला को या हिन्दी को, और मैथिली के उपरान्त उन्होंने किस भाषा को अपने विचारों का माध्यम बनाया, और मैथिली क्षेत्र के विद्वानों ने किस भाषा में अधिक लिखा है मैथिली में या हिन्दी में? और ऐसा क्यों हुआ?

रसखान का काव्य-परिशीलन

श्री औटभी चैफिन एम० ए०

[रसखान अपने नाम के अनुकूल ही रस की खान थे। लेखक महोदय ने रसखान की कविता का बड़ी सहृदयता से अनुशीलन किया है। हमको खेद है कि हम उनके लेख का थोड़ा-सा ही अंश दे सके हैं। आलोचक महोदय ने रसखान की कविता में खास बात यह बतलाई है कि जैसे उनके सीधे सच्चे भाव हैं वैसी ही उनकी सरल भाषा है। —सम्पादक]

मनुष्य मात्र के व्यक्तित्व को हम अलग अलग भागों में विभाजित कर के उसके साथ न्याय नहीं कर सकते। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को साथ लेना आवश्यक होता है या सुभीते के लिये कभी-कभी उसके भिन्न-भिन्न पक्षों को अलग अलग लेकर काम करने का अवसर आ जाता है। रसखान को हम एक प्रेमी-भक्त और कवि के रूप में पाते हैं। उनके इन तीनों पक्षों का संबंध परस्पर ऐसा है कि एक के बिना दूसरा पूर्ण नहीं। उनका प्रेमी हृदय ही उनको उच्चकोटि का भक्त बनाता है और उनकी सरस भक्ति ही उनकी कविता में व्याप्त है। फिर भी आलोचना के लिए उनका एक-एक पक्ष अलग-अलग लेना पड़ता है। यहाँ रसखान के कवि पक्ष का ही निरूपण किया जायगा।

रसखान ने जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सरल तथा सरस रूप में लिखा है। उनकी कविता अलंकारों के भार से दबी सी नहीं जान पड़ती और यद्यपि उनके समय में कविता को अलंकृत करने की प्रवृत्ति आने लगी थी फिर भी रसखान की कविता की आत्मा, आभूषणों की बेड़ियों से जकड़ी हुई नहीं है। उनके हृदय के भाव, अलंकारों के भार से दबे हुए नहीं हैं। कदाचित उनका यह सादापन ही उनकी कविता का चमत्कार है। उक्ति के घुमाव

फिराव में वह अर्थ को नहीं छिपाते और उनकी उक्ति में कृत्रिमता का भास भी नहीं होने पाता।

रसखान के समस्त काव्य में एक बड़ी विशेषता दिखाई देती है कि हृदय की सरलता का निरूपण, भाषा की सरलता और संगीत की मधुरता के साथ हुआ है।

रसखान के कुछ पद इतने सुन्दर हैं कि उनमें उच्चकोटि की कविता के लगभग सभी गुण रसखान की छाप लिए हुए एक साथ ही विद्यमान हैं। इन पदों पर थोड़ा बहुत कहे बिना रसखान के साथ अन्याय करना है—

वह गोधन गावत गायन में,
जब तें इहि मारग ह्वै निकस्यो
तब तें कुल कानि कितीयो करौ,
नहिं मानत पापी हियो हुलस्यो
अब तो जु भई, सु भई, कहा होत,
लोग अजान हस्यो सुहस्यो
काउ पीर न जानत, जानत सो,
जिनके हिय में रसखानि बस्यो

कवि का पहला धर्म विषय की तल्लीनता होता है। इस बात में तनिक भी सन्देह की संभावना नहीं है कि रसखान कृष्ण प्रेम में वैसे ही तन्मय थे जैसे गोपिकाएं और इसी कारण वह गोपियोंके हृदय की भावनाओं को चित्र-रूप देने में इतने सफल भी हुए। उनका प्रेम कृष्ण के प्रति उसी प्रकार था जैसा गोपियों का था। यहाँ पर वह उस प्रेम पगली गोपी का वर्णन करते हैं जो उस गोधन पर मुग्ध है जो गैया चराता हुआ उस मार्ग से निकलता है। वह प्रेम करने तो लगी है पर उसको लोक लाज की भी चिंता है। उसका धर्म कहता है कि वह पर पुरुष की ओर न देखे पर पापी हृदय नहीं मानता और वह व्याकुल है कि हृदय की सुने या धर्म की। पर कठिनाई तो यह है कि वह धर्म की सुनने में सर्वथा असमर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति की भांति उसके लिए भी एक समय आता है जब उसे यह निश्चय करना है कि वह क्या करेगी कृष्ण से प्रेम करेगी या कुल की लाज रखेगी। वह बाध्य है कि कृष्ण से प्रेम करे, और एक बार वह निश्चय कर लेती है फिर उसको चिन्ता नहीं कि कोई उस पर हँसे— जो हो गया सो हो गया। संसार तो सदा ही कठोर है उसे क्या पड़ी है कि किसी के हृदय में क्या वेदना है—प्रेम की अनुभूति यदि उसे होती तो वह भी समझता कि प्रेम की पीर क्या होती है। इस अनुभूति से अनभिज्ञ यदि वह हँसता है तो हँसने दो। यह शब्द गोपी के मुँह में डाल कर रसखान यदि अपनी पीर को छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं तो व्यर्थ है। उनका हृदय इन शब्दों में खुला पड़ा है। उनके हिय में सब रसों की खान श्रीकृष्ण का वास हो चुका था इसलिए वह गोपी की पीर को समझ सकते हैं।

भावों के इस सूक्ष्म तथा सजीव चित्रण के साथ-साथ रसखान ने अपने इस पद में अत्यन्त साधारण बोल चाल की भाषा के शब्द डाल कर उसे हमारे निकट ला दिया है। हम "पापी हृदय," "जु भई सु भई," "कहा होत है" आदि मुहावरों को पढ़ कर यह समझते रहते हैं कि रसखान हमसे दूर नहीं हैं वह हमारे ही कवि हैं। यह एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि पाठक कवि को अपना समझे। पाठक की इस भावना से कवि के बड़ेपन का ही आभास मिलता है उसकी उस शक्ति का ज्ञान होता है जो उसे बड़ा होने पर भी जन साधारण से दूर नहीं होने देती।

अनुप्रास अलंकार ने इस पद को और भी मधुर बना दिया है फिर भी इसकी चेतना को जबरदस्ती जागरित करना अन्याय है और यह तो केवल अध्ययन की वेदी पर कविता की हत्या करना है। अलंकार कवि ने ढूँढ़ कर वहाँ नहीं रखे हैं वह खोज खोज कर नहीं निकाले जा सकते। उनकी उपस्थिति अत्यन्त स्वाभाविक है।

एक और उदाहरण रसखान के कवित्तों में से देखिए।

एरी आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागि, दोऊ
सीखे है सबै विधि सनेह सरसाइबौ।
यह रसखानि दिना द्वै में बात फैलिजैहै,
कहा लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबौ।
आजु हों निहार्यो वीर निपट कालिंदी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकाइबौ।
दोऊ परै पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयां इन्हें गागर उठाइबौ।

इस पद में रसखान ने बड़ी चतुराई तथा सरलता से कई भावों का चित्रण किया है जो विपरीत होते हुए भी एक मालूम होते हैं और किसी प्रकार की विकलता उत्पन्न नहीं करते। इन भावों का समन्वय अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक तथा सूक्ष्म रूप में हुआ है। चित्र के दो स्पष्ट भाग हैं। एक ओर तो राधा और कृष्ण अपनी प्रेम लीला में संसार को भूले बैठे हैं और दूसरी ओर राधा की एक सखी है। इस बेचारी सखी की हर ओर से आफत है। वह न तो इन की प्रेम लीला में बाधा ही डालना चाहती है और उसका सच्चा प्रेम और शुभ कामनाऐं उसे चिन्ता में डाले हैं कि इन दोनों का दीवानापन इनकी बदनामी का कारण होगा। भला उनकी यह हरकतें कहाँ तक छिपी रह सकती हैं लोगों को धीरे-धीरे सब बातें मालूम हो जाएंगी और वह सखी दुखी होती है कि उसकी सखी को लोग बुरा भला कहेंगे। उसको यही भय बना है कि दो ही दिन में यह बात फैल जाएगी पर यह मूर्ख यह नहीं समझते कि चाँद को हाथ से नहीं छिपाया जा सकता। अपनी आँखें बन्द कर के यह नहीं समझा जाता कि संसार की आँखें भी बन्द हैं। सखी चाहती है कि किसी प्रकार इन की समझ में आ जाय। एक ओर उसके हृदय में इन अनुभवहीन मूर्खों के लिए बदनामी का भय है और दूसरी ओर वह स्वयं भी अपनी सखी से ईर्ष्या तो नहीं करती पर उसके से भाग्य की सराहना अवश्य करती है। उसे भी कहीं प्रेम लीला में मग्न होने को मिल जाता तो वह भी राधा की भाँति ही चाँद को हाथों से छिपाने के बहाने लोक लाज की भी परवाह न करती। सखी के इसी भाव को रसखान ने शब्दों में नहीं संकेतों में दिखाया है। जो कुछ वह राधा के लिए कहती है वह यदि उसके लिए खट्टे अंगूर हैं और वह स्वयं उन क्रीड़ाओं का सुख अनुभव नहीं कर सकती तो वह दूसरों के ही लिए उन्हें गिन-गिन कर अपने मन में प्रसन्न होती है।

इस चित्र में कुछ स्थलों पर रसखान के शब्द रूपी रेखाओं का ऐसा प्रयोग किया है कि चित्र में और भी सुन्दरता आ गई है और उसका महत्व और भी बढ़ गया है। रसखान ने सखी से राधा के लिए 'सयानी' शब्द का अत्यन्त सार्थक प्रयोग करवाया है। सखी के हृदय में इस भावना के अतिरिक्त कि राधा निपट मूर्ख है और कोई भावना न थी। घोर मूर्खता का परिचय सयानी शब्द ने इस सुन्दर रूप में दिया है कि कोई मूर्खता प्रदर्शक शब्द कदापि न दे सकता। रसखान के शब्दों का चमत्कार अन्य स्थान पर इस साधारण कहावत से भी मिलता है— "चंदा हाथन छिपाइबो" व्यक्तिगत इच्छा और समाज के नियमों का पालन करने की आवश्यकता में संघर्ष मचा है। इच्छा तो अपनी पूरी हो ही रही है पर अपने को धोखा देकर और अपने लिए स्वयं ही अनभिज्ञ बन कर यह समझा जा रहा है कि वह संसार को धोखा दे रही है। स्वयं कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ न सोचने की शक्ति न होने के कारण राधा सोचती है कि अन्य सब का दृष्टिकोण भी ऐसा ही संकीर्ण है। अपनी औरतों के सामने हाथ रख कर वह चन्द्रमा को नहीं देख पा रही है और यह सोच रही है मानो चन्द्रमा है नहीं। पर भला यह कब तक। काम है उसका गागर उठाकर घर को जाने का और कृष्ण आए हैं गौए चराने को—पर दोनों अपना-अपना काम भूले बैठे हैं और एक-दूसरे के पैयाँ पड़ने तथा बलैया लेने में मग्न हैं। परन्तु उनके काम न होने से संसार पर तो प्रभाव पड़ेगा। आखिर जब बेचारी गागर पड़ी-पड़ी राधा की प्रतीक्षा में सूखने लगेगी तो अन्य घर वालों को तो विचार आएगा कि राधा पानी भरने गई थी, अब तक क्यों नहीं लौटी। या जब गौएँ चर कर संध्या को घर की ओर चलना चाहेंगीं तो किस की मुरली का शब्द सुन कर इकट्ठी होगी और उनका ग्वाला साथ न होने से उन्हें मार्ग कौन दिखाएगा। फिर बात फैलेगी या नहीं। पर यह सब इन दोनों को समझ में कैसे आ सकता है। इसी विचार में सखी चिन्तित है।

रसखान का स्वयं प्रेमी होना उनको प्रेमियों के हाव-भाव और विचारों से अत्यन्त भली भाँति परिचित करता है। निम्न पद को पढ़ कर प्रेम का आस्वादन कीजिए—

मोहनि मोहन सों रसखानि,
अचानक भेट भई बन माहीं।

जेठ को घाम भयो सुख धाम,
अनंग प्रभंजन अंग समाहीं ॥
जीवन को फल पाय भटू,
रस बातन की लस तोरत नाहीं।
कान्ह के हाथ कँधा पै लसैं,
मुख ऊपर मोर किरीट की छाँहीं ॥

मोहन और मोहनी की इस 'अचानक भेंट' का महत्व रसखान खूब समझते हैं। बन में सभी ग्वाल-बाल आए होंगे फिर मोहन और मोहनी की ही क्यों अचानक भेंट होगई, यह रहस्यपूर्ण बात रसखान ने उलझी हुई ही छोड़ दी। इस प्रकार की अचानक भेंट का होना असम्भव तो नहीं, पर एक ही बन में स्वच्छन्दता से विचरण करने वाले ग्वालों तथा गोपियों को हर समय यह तो ज्ञात ही रहता होगा कि कौन-कौन वन में आते हैं। फिर भी आज कौन आया है कौन नहीं, इसका ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक भेंट न हो जाय। बस यही स्थल है अचानक भेंट होने के अवसर का। जेठ की भरी दुपहरी को घाम है। जब तक गायों के पीछे इधर-उधर दौड़ धूप करनी पड़ती रही तब तक तो बड़ा घाम लगा, पर जैसे ही भेंट हुई उसी सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सुख और शीतलता बरसने लगी। अब तो यही घाम सुखप्रद स्मृतियों का प्रतीक होने वाला है फिर उसमें ताप का प्रभाव कहाँ रहा। अब तो अंग अंग अनंग प्रभंजन से पुलकित है फिर अन्य किसी बात का प्रभाव कैसे पड़ सकता है—और जहाँ प्रेम भरी बातें आरम्भ हो गईं फिर उनका तारतम्य कैसे टूट सकता है। इस अचानक भेंट के विस्मय में ही जीवन की सफलता का स्वाद मिल रहा है और कान्ह राधा के कन्धों पर हाथ रख कर स्वयं मोरपखा के किरीट की छाँह में संसार का सारा सुख लूट रहे हैं और रसखान खड़े स्वयं भी देख रहे हैं और उन्हें संसार को भी दिखाकर आनन्दित कर रहे हैं।

रसखान के काव्य में इस प्रकार के सुन्दर और रसीले वर्णन भरे पड़े हैं। स्थान-स्थान पर रसखान ने इन सरल चित्रों से पाठकों के मनों को लुभाया है। और जिस प्रकार वह अपने को भूलकर अपने काव्य में लीन हो गए उसी प्रकार उनका पाठक भी अपने आप को उनकी काव्य-मदिरा के नशे में भूल सा जाता है। रसखान की कविता उनकी सहृदयता तथा तल्लीनता का व्यक्त रूप है।

इस दृष्टि से यदि उन्होंने यह पद लिखे और अन्य शृंगारी कवियों की भाँति यदि उन्होंने भी 'प्यारी के चारु सिंगार' को देखते हुए "उर पै छवि मंजु अनेक दुकूलनि" का वर्णन किया तो वह उनको उच्चकोटि के कवि होने से नहीं रोकता। उनके चित्र तब भी सरल और स्वाभाविक हैं और भाषा अत्यन्त सरल और सुलझी हुई।

[११२ वें पेज का शेष]

कहीं अधिक भारत में खपेगा, लेकिन हमको मूर्ख नहीं बनना चाहिए। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के माने होते हैं कि एक देश, दूसरे देश की संस्कृति से परिचय प्राप्त करे अतः यह देखना है कि भारत का पेट ही अमेरिकन साहित्य से न भरा जाय परन्तु भारतीय साहित्य का अमेरिका में भी प्रचार हो। लेने-लेने से कुछ फायदा भी नहीं होगा जब तक हम में देने की भी क्षमता न हो। अमेरिका वासी तो भारत के राजनैतिक और व्यवसायिक दृष्टि-कोण से भारत और अमेरिका के सम्बन्ध दृढ़ करना चाहते हैं। अर्थात् भारत पर अमेरिकन संस्कृति की छाप लगाना चाहते हैं और खुद अछूते रहना चाहते हैं।

अनुवाद की दिशा में हमको अभी बहुत कुछ करना है। हिन्दी में अभी हमारे पूर्वजों का साहित्य ही विद्यमान नहीं है। हम उनको भुलाते जा रहे हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रंथ अभी देव-वाणी में ही छिपे पड़े हैं। उन्हें हमको अब लोक-वाणी में परिवर्तित करना होगा। कार्य बहुत कठिन और दुष्कर है लेकिन हमको साहस के साथ आगे बढ़ना है और अपनी नाक रखना है।

हिन्दी भाषा और साहित्य किनका है ?

डा० धीरेन्द्र वर्मा

[श्री गोविन्द झा के लेख के सम्बन्ध में एक लेख इसी अङ्क में श्री सत्येन्द्रजी का छपा है। उस लेख के आक्षेपों के ब्यौरे वार उत्तर 'क्या विद्यापति हिन्दी के ?' शीर्षक में हैं। इसी प्रश्न पर भाषा तथा राष्ट्रीयता के व्यापक दृष्टिकोण से लिखा हुआ भाषा विज्ञान के मर्मज्ञ डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का लेख हम नीचे दे रहे हैं। इसके आलोक में हिन्दी के अन्तर्गत उपभाषाओं की स्वतन्त्रता के जो आन्दोलन चल रहे हैं उन पर भी हम अपना मत निश्चित कर सकते हैं।] —सम्पादक

'साहित्य सन्देश' के विद्यार्थी अङ्क (जनवरी, फरवरी १९४५) में श्री गुलाबरायजी का 'हिन्दी साहित्य में विद्यापति' शीर्षक एक सुन्दर लेख निकला था, जिसका मुख्य उद्देश्य विद्यापति की भक्त तथा कवि की दृष्टि से आलोचना करना था। लेख में भूमिका स्वरूप इस बात का उल्लेख भी किया गया था कि विद्यापति की भाषा रचनाओं का, जो मैथिली में हैं—हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रक्खा जाना उचित है।

अन्तिम विचार से मतभेद प्रकट करते हुए मिथिला-निवासी पं० गोविन्द झा ने साहित्य सन्देश के जुलाई १९४५ के अङ्क में 'विद्यापति हिन्दी साहित्य के नहीं' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया है जिसमें व्याकरण के रूपों और विशेषताओं के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि मैथिली स्वतन्त्र भाषा है, उसे हिन्दी भाषा की उपभाषा या बोली मानना उचित नहीं है। अन्त में मिथिला निवासी कई विद्वानों के मत इस सम्बन्ध में आप्त प्रमाण स्वरूप दिए गए हैं। मित्रवर श्री महेन्द्रजी के अनुरोध से इस विषय पर मैं कुछ विचार नीचे दे रहा हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि भाषागत ऐतिहासिक सम्बन्धों को समझने के लिए भाषाओं की व्याकरण की रूप-रेखा सबसे अधिक महत्व रखती है किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भाषाओं का शब्द-समूह तथा साहित्यिक-आदर्श व्याकरण की रूपरेखा से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। पहली कसौटी केवल भाषा विज्ञान के पंडितों तक सीमित रहती है, दूसरी कसौटी व्यवहार के क्षेत्र में चलती है। भाषा संबंधी ऐतिहासिक समानता होते हुए भी हिन्दी साहित्य और उर्दू साहित्य दो भिन्न साहित्य हैं— शब्दावली तथा साहित्यिक आदर्शों की महानता के कारण बंगाली साहित्य, मराठी साहित्य, गुजराती साहित्य, हिन्दी साहित्य के अधिक निकट हैं। इस तर्क से मैं यहाँ केवल इतना ही निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ कि व्याकरण सम्बन्धी साम्यों में बंगाली अर्थात् प्राच्य आर्य भाषाओं की ओर झुकाव होने पर भी मैथिली या बिहार की अन्य बोलियों का साहित्य हिन्दी के अधिक निकट हो सकता है।

दूसरी बात जो मैं स्मरण दिलाना चाहूँगा वह यह है कि आर्यावर्त की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में खोज तथा वर्गीकरण का कार्य अंग्रेज विद्वानों ने प्रारंभ किया था। इन कार्यकर्त्ताओं में प्रमुख सर जार्ज ग्रियर्सन थे। आर्य-भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय का स्पष्ट या अस्पष्ट प्रभाव परवर्ती समस्त विद्वानों तथा लेखकों की विचारावली पर हम पाते हैं। अंग्रेजों का झुकाव भारतवर्ष में भेद दिखलाने की ओर विशेष रहा है और आज भी है—समानताओं को सामने लाकर रखना उनकी प्रकृति में नहीं है। ग्रियर्सन महोदय ने भाषा संबंधी भेदों को महत्व देते हुए हिन्दी के अन्तर्गत आठ प्रधान बोलियाँ मानी हैं तथा राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी आदि को स्वतन्त्र भाषा सिद्ध किया है। आवश्यकता इस बात की है कि अंग्रेजी चश्मे को उतार कर हम अपनी समस्याओं को अपनी आँखों से और अपने दृष्टिकोण से

देखें। यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसमें अंग्रेजों का हित है, उसमें प्रायः हमारा अनहित छिपा रहता है।

तीसरे, खड़ी बोली की समस्या के कई पहलू हैं—मातृभाषा का पहलू, साहित्यिक भाषा का पहलू और राष्ट्र-भाषा का पहलू। मातृभाषा के रूप में साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी-प्रदेश के कुछ पढ़े लिखे नागरिक परिवारों में प्रचलित है—मेरठ-बिजनौर प्रदेश की ग्रामीण खड़ी बोली तक इस साहित्यिक खड़ी बोली से काफी भिन्न है। खड़ी बोली का राष्ट्रभाषा का पहलू अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में समस्त भारत से सम्बन्ध रखता है—इसी पहलू के कारण हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी शैलियों की समस्या छिड़ी हुई है। इस समय हमारा सम्बन्ध इन दोनों पहलुओं से नहीं है बल्कि केवल दूसरे साहित्यिक पहलू से है। साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली और उसका साहित्य लगभग समस्त मध्य देश ने हिन्दी प्रदेश के प्रतिनिधि भाषा और साहित्य के रूप में स्वीकृत कर रक्खा है। उदाहरण के लिए प्रादेशिक रूप में व्रजभाषा और उसका साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है; किन्तु हिन्दी प्रदेश की प्रतिनिधि भाषा और प्रतिनिधि साहित्य व्रज प्रदेश के निवासी भी खड़ी बोली को ही मानते हैं। यही परिस्थिति मैथिली अथवा मारवाड़ी की भी है; किन्तु साथ ही प्रत्येक भाषा-क्षेत्र को यह पूर्ण अधिकार है कि खड़ी बोली हिन्दी भाषा और साहित्य के इस प्रकार के संरक्षण से अपने को पृथक् करले। वास्तव में यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो इसमें हिन्दी का उतना अनहित नहीं है जितना इन छोटे भाषा-समुदायों का है। पाकिस्तानी हवा के सामने अखण्ड हिन्दुस्तान की भावना देश के एक वर्ग को इस समय विषतुल्य मालूम पड़ती है। यही परिस्थिति भाषा के सम्बन्ध में हमें कुछ क्षेत्रों में दिखलाई पड़ती है।

समस्त आर्यावर्त अथवा भारतवर्ष में यदि साहित्यिक भाषा सम्बन्धी एकता हो सके तो वह देश की शक्ति को बढ़ाने वाली ही सिद्ध होगी। संस्कृत भाषा का आधार विद्वानों के अनुसार पश्चिमी मध्यदेश की कोई प्राचीन जनपदी बोली ही थी। सैकड़ों वर्ष तक संस्कृत समस्त भारतवर्ष की प्रधान प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा रही है। मैथिल पंडित तक संस्कृत भाषा और साहित्य के इस महत्व के आगे आज तक नतमस्तक हैं। सच यह है कि संस्कृत को इस पद पर बिठालने में भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश के विद्वानों का हाथ रहा है। जिस तरह महात्मा गान्धी के सम्बन्ध में हम अब यह नहीं सोच पाते कि वे गुजराती हैं अथवा बुद्ध भगवान को भोजपुरिया, श्रीकृष्णजी को व्रजवासी तथा श्री रामचन्द्रजी को अवधी के रूप में नहीं सोच पाते—ये सब महापुरुष प्रादेशिक सीमाओं के ऊपर उठकर भारतवर्ष के प्रतिनिधि स्वरूप हमारे सामने आते हैं। उसी तरह भाषा और साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत, पाली या हिन्दी की परिस्थिति है। साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी आज किसी प्रदेश विशेष की बोली नहीं है बल्कि समस्त हिन्दी प्रदेश की ही नहीं बल्कि समस्त भारतवर्ष की प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम इन समस्याओं के सम्बन्ध में अधिक व्यापक, उदार तथा भावी हित-अनहित की दृष्टि से विचार करें। अब तक हम जिस दृष्टिकोण से विचार करते रहे हैं उस पर हमारे विदेशी शासकों की शिक्षा, विचारधारा और स्वार्थों का प्रभाव विशेष है। इन रूढ़ियों से अपने को मुक्त पाने में कुछ समय लगेगा।

बँगला ने तो अपनी बहन मैथिली से अपने को एकदम पृथक् कर लिया है। ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यापति ने जिस मैथिली का व्यवहार किया है वह मैथिली एकदम बोलचाल की भाषा नहीं है। उसका परिष्कृत रूप ही उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। यह परिष्कार भी सर्वसामान्य काव्य-भाषा व्रज के ढर्रे पर किया गया है। इसलिए विद्यापति की रचनाएँ भाषा और साहित्य दोनों के विचार से हिन्दी ही के अन्तर्गत आती हैं।

'निराला' जी की राम की शक्ति पूजा

कुमारी प्रकाश अग्रवाल विदुषी आनर्स

[जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने सेतुबंध के अवसर पर श्री रामचन्द्रजी द्वारा शिवजी की पूजा कराकर शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में समन्वय भावना उत्पन्न की है उसी प्रकार निराला जी ने श्री रामचन्द्रजी द्वारा शक्ति की उपासना करा कर वैष्णवों और शाक्तों में एक दूसरे के निकट जाने का प्रयत्न किया है। निरालाजी में शक्ति पूजा की भावना में बङ्गाली प्रभाव और कुछ कुछ कान्य-कुब्जी प्रभाव हो सकता है। लेखिका का विचार है कि यह कथा वाल्मीकि से ली गई है, इसमें मुझे सन्देह है। विष्णु द्वारा शिवजी को एक सहस्र कमल चढ़ाते हुए एक कमल की कमी पड़ने पर पुण्डरी-काक्ष के नाते कमल के बदले एक आँख अर्पण करने की बात बहुत काल से प्रचलित है। निरालाजी ने उसी कथा का उपयोग शक्ति पूजा में किया है। लेखिका ने इस लेख में यह दिखलाया है कि राम ने जिस शक्ति की पूजा की थी वह कल्याणमयी थी और रावण ने जिस शक्ति की पूजा की थी वह विध्वंसमयी थी।]

शक्ति की पूजा हमारे यहाँ प्राचीन काल से चलती आ रही है। शक्ति सांख्य की प्रकृति का प्रतीक भी है। शाक्त मत के अनुयायी इसी शक्ति के उपासक भी होते हैं। इस शक्ति के दो रूप हैं। यद्यपि बाह्य रूप से दोनों ही विध्वंसकारी हैं किन्तु यदि एक रूप में वह निर्माण का नवजीवन का भाव लेकर ही विध्वंस करती है तो दूसरे की मूलगत विशेषता ही विध्वंसकारिणी है। प्रथम प्रकार की शक्ति यदि मङ्गलकारिणी है तो दूसरी विनाशकारिणी। इसी को हम यों भी कह सकते हैं कि एक ही शक्ति के दो रूप हैं एक मङ्गलमय और दूसरा अमंगलमय। उनकी वेशभूषा एवं स्वरूप भी उनके गुणानुकूल ही हैं। राम उज्ज्वल एवं मंगलमयी शक्ति के उपासक थे। उसमें विश्व-कल्याण की भावना प्रमुख है। वह शुभ्र तथा मंगल-मय उपादानों से सुशोभित शिव (कल्याण) को अपने मस्तक पर धारण किये हुए हैं। शक्ति का दूसरा रूप जो रावण द्वारा पूजित है वह कालिमायुक्त हैं—विलास युक्त उग्र एवं उत्तेजित रूप है। जिसमें उत्तेजना होती है उसमें स्थायित्व का अभाव भी होता है। रावण की शक्ति ऐसी ही थी—प्रलय का आह्वान करने वाली विध्वंस का श्रीगणेश-करने वाली—शिव इसके चरण तले है अतः शिव अर्थात् कल्याण की उपेक्षा का भाव भी इसमें निहित है।

हमें राम द्वारा शक्ति की पूजा का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास की 'रामचरितमानस में नहीं मिलता। सम्भवत् गोस्वामी तुलसीदासजी के समान भक्त कवि को अपने इष्ट द्वारा किसी अन्य की पूजा करवाना उचित प्रतीत न हुआ हो। केशव की "रामचन्द्रिका में भी हम ऐसा वर्णन नहीं पाते। आज सर्व प्रथम वाल्मीकि रामायण से कथा सूत्र लेकर 'निराला' जी ने जिस काव्योपम अंश की सृष्टि की है वह प्रसंशनीय है। मेरा जहाँ तक अनुमान है उन्होंने यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण से ही लिया होगा। इसी कारण इसमें संस्कृत शब्दों की बहुलता भी है। इतना सब होते हुए भी उसमें निरालाजी का अपनापन है उनके व्यक्तित्व की छाया उसमें प्रतिभासित हो ही उठती है कहीं-कहीं। राम की जब युद्ध में पराजय ही होती गई और उनके दिव्य अस्त्र—

हो सकती जिनसे संसृति सम्पूर्ण विजित
जो तेज पुञ्ज सृष्टि की रक्षा का विचार है
है जिनमें निहित, पतन घातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि बोध-सूक्ष्माति सूक्ष्म मन का विवेक
जिनमें है क्षात्र धर्म का धृत पूर्णाभिषेक
जो हुये प्रजापतियों से संयम से रक्षित
रण में कान्तिहीन होकर असफलता के सूचक हो गये

तब राम का सागर सा गम्भीर हृदय भी विचलित हो उठा पराजय का संशय राम के साहस को भी अमर्यादित करने लगा उस समय तनया-कुमारी सीता की कौमार्य छवि, जनकजी की वाटिका के प्रथम मिलन की मधुरिमा सहित राम के मानसपट पर अंकित करने में निरालाजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया और साथ ही कार्य के कारण को भी स्वभाविकता के और समीप ले आये। सीता की उस स्मृति से प्रभावित हो राम का वही शौर्य एवं पराक्रम जिसके बल पर उन आवेशयुक्त क्षणों में वे शिव धनुष भी उठा सके थे फिर से उनके अंगों-प्रत्यगों में तरंगित हो उठा। अपनी असीम शक्ति का उन्हें फिर से बोध हुआ, और वृद्ध जामवन्त के कहने पर वे कल्याणकारी दिव्य शक्ति की पूजा करने को तत्पर हुये। पूजा की साधनावस्था में उनका मन आकाश या मनोकाश की उच्च भूमियों को पार करने लगा। वे क्रमशः प्रत्येक चरण पूरा होने पर देवी को एक कमल चढ़ाते जा रहे थे। अन्तिम जप होने से पूर्व वह दिव्य शक्ति राम की परीक्षा स्वरूप अन्तिम कमल को छिपाकर ले गई। कमल को न पाकर राम की विह्वलता एक क्षण को और बढ़ गई लेकिन वे हतोत्साह न हुये। उन्हें याद आया सीता उन्हें राजीवनयन कहा करती थी अतः अन्तिम पूजा के लिए कमल के स्थान पर क्यों न वे अपना नेत्र ही काम में लावें, पर ज्यों ही वे अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणित करने को तत्पर हुये और नेत्र निकालने को बायाँ हाथ (क्योंकि दाहिने हाथ से उन्हें अर्पित करना था) बढ़ाया कि दुर्गा हर्ष ध्वनि करती हुई प्रकट हो गईं और राम को दूसरे दिन संग्राम विजय करने का वरदान दिया— और

"जय होगी होगी हे पुरुषोत्तम नवीन"
यों कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।

अस्तु। 'राम की शक्ति पूजा' निरालाजी की काव्य कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है इसमें भाव और भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। सवाक् शब्द चयन, भावों को भी सजीव साकार सा कर देता है। रावण के कठोर प्रहारों से वानर सेना किस प्रकार विकल आक्रान्त एवं अव्यवस्थित हो रही थी उसी के अनुरूप से सेनानियों की मनःस्थिति भी हो रही थी।

रावण-प्रहार-दुर्वार विकल वानर-दल-बल-
मूर्च्छित-सुग्रीवाँगद-भीषण गवाक्ष-गय-नल
वारित सौमित्र भल्लपति, अगणित भलरोध
गर्जित प्रलयाब्धि क्षुब्ध हनुमत केवल प्रबोध
उद्गीरित वह्नि-भीम पर्वत कवि चतुः प्रहर—
जानकी मेरु उर-आशा-भर रावण सम्बर।

उक्त उद्धरण में स्थिति की भयंकरता, वातावरण की विक्षुब्धता तथा रण की भीषणता रूप रेखा पा गई है। रजनीचरों के पद चापों से धरती टलमल हो रही है इस "टलमल" शब्द में राक्षसों की गरुता का बोध तो निहित है ही पर साथ ही पृथ्वी की पादाक्रान्त स्थिति भी प्रत्यक्ष सी हो उठती है।

राम के, अपने इष्ट, के नेत्रों में अश्रुकण देखते ही हनुमान का तेजस्व किस भीषणता के साथ आन्दोलित-उद्वेलित हो उठता है उसका तीव्रतम रूप निरालाजी की शब्द शक्ति द्वारा ही मिलना सम्भव था। ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि के शब्द ही हृदय के उस भीषण प्रवेग के प्रतिरूप होकर उच्छ्वासित हो रहे हों, एकनिष्ठ हनुमान की वीरता, उनका पराक्रम शब्दों में झंकृत हो उठा है। उनकी मनःस्थिति प्रलयकारी स्थिति से किसी भी अंश में कम नहीं थी :—

शत घूर्णावर्त तरंग भंग उठते पहाड़
जल राशि, राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध-धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
शत वायु वेग बल।

वीरता तथा ओज के भाव का इस से सुन्दरतर चित्रण सवाक् शब्दों में अन्यत्र कठिन है। निराला की लेखनी में, उनके भावों में तथा उनके शब्दों में एक प्रकार की तीव्रता है, प्रखरता है, जो भारत का सांस्कृतिक विषय पाकर और भी प्रभविष्णु तथा चटकीले रंगों में निखार पा जाती है। इसी कारण वीरता एवं शौर्य के चित्रण का प्रयास सफलता का प्रतीक होकर ही आता है उनके लिये।

लेकिन कवि के नाते कोमल भावों तथा विविध अंग-मयी कल्पनाओं से भी वे तटस्थ नहीं है। दार्शनिकता में उनके मूल भाव खो नहीं जाते पर गूढ़ अवश्य हो जाते हैं। मानव-मन का विकास किस परिस्थिति में किस ओर होता है इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए, उन्होंने मानवीय कोमल अंश को भी स्पर्श किया है मनुष्य के संघर्ष-मय जीवन में, अर्द्ध विक्षिप्त अवस्था में कोई विगत मधुर स्मृति आकर किस प्रकार नव स्फूर्ति, नवीन जीवन का संचार कर देती है इसका, राम के चरित्र को लेकर निरालजी ने अच्छा उदाहरण दिया है। कुमारी सीता के प्रथम साक्षात्कार का, उनके सहज सौंदर्य का कवि ने बड़ा ही मनोरम, उद्दात, पवित्र एवं कारुणिक चित्र उपस्थित किया है। इसमें उनकी बुद्धितत्व की प्रधानता कम और भावना की अधिक है।

"याद आया उपवन
विदेह का प्रथम स्नेह का, लतान्तराल मिलन
नयनों का नयनी से गोपन-प्रिय-सम्भाषण—
पलकों का नत पलकों पर प्रथमोत्थान पतन।"

इसमें स्नेह की पुनीत भावना सन्निहित है—यहाँ शृंगार आया भी है तो अपने पवित्रतम रूप में। सीताजी के नयनों की ज्योति 'ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय' स्वर्गिक आलोक से कुछ कम नहीं। फिर वहाँ पार्थिक सौन्दर्य का वासना युक्त रूप किस प्रकार ठहर सकता था? अतः सीता की यह स्मृति शिष्ठ, सौम्य, माधुर्य पूर्ण एवं उज्ज्वल थी जिसने राम के हृदय में फिर से उत्साह भर दिया और उनके 'फिर विश्व विजय की भावना हृदय में आई भर'। उस स्निग्ध-स्नेह स्मृति ने उन्हें कर्तव्य पथ से विमुख नहीं किया वरन उनमें कर्मण्यता का एक आकुल उन्मेष किया।

राम तथा अन्य पात्रों के चरित्रों में भी कुछ विशेषता का प्रदुर्भाव हुआ। राम का विषाद, उनका गाम्भीर्य, वीरता और साहस उनके पुरुषोत्तम नाम को सार्थकता देता है। विभीषण में उनकी वह दैत्य भावना कुछ धूमिल-सी हो उठी है। हम उसमें दीनता का अभाव ही पाते हैं। कदाचित् इसका कारण विशेष परिस्थिति ही हो। यहाँ वह राम के मित्र सदृश उपस्थित होता है। राम को प्रोत्साहन देने के निमित्त अनेक प्रकार से उनके बल को उभाड़ने की चेष्टा करता है—कभी सीता को कष्टदायक स्थिति का स्मरण दिला कर, कभी अपने को लंकापति मानने की वचन बद्धता की स्मृति जगा कर राम को आश्वस्त करना चाहता है। उसमें एक मित्र के समान सहृदयता है, एक भक्त के समान नम्रता एवं दीनता नहीं।

राम की साधनावस्था में मन की उर्ध्वगति का चित्र हृदयगम्य होने की अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा रखता है क्योंकि निराला तो हैं ही बुद्धि-प्रधान।

इस प्रकार सीता-नारी प्रकृति की मूल शक्ति की प्रताड़ना का अन्त करने के लिये राम ने कल्याणकारी शक्ति सम्पन्न शिव पुरुष की उपासना से अहं के प्रतीक रावण का बध किया और शाश्वत मर्यादा की रक्षा की। विश्व रचना में इस प्रकार की परस्पर विरोधी शक्तियों का संघर्ष और अन्त में उनके सामंजस्य का विषय भारतीय साहित्य का मूलाधार रहा।

कालिदास ने भी कुमार सम्भव में शंकर और पार्वती के मिलन में इसी रहस्य का उद्‌घाटन किया है—

पौराणिक देवासुर संग्राम भी इसी तथ्य का प्रति-पादन करता है। रामायण और महाभारत का मूल प्रतिपाद्य इन्हीं सद्‌वृत्तियों तथा दुर्वृत्तियों का संघर्ष ही है।

राम-रावण के युद्ध का 'निराला' जी ने नवीन संस्करण किया है। सीता (स्नेह पवित्रता और नारीत्व-सृजनत्व का प्रतीक) कष्ट, तपस्या और वियोग यातना के पश्चात् राम (शक्ति कल्याण बुद्धित्व पुरुष के प्रतीक) को प्राप्त करती है।

विश्व की शाश्वत प्रगति के लिये सृजन शक्ति का यही महत्व है। काव्य भी एक सृजन है। दिव्या शक्ति के संसर्ग से सृजन की गति बनाये रखना पुरुष (चेतन) की सबसे बड़ी शपथ है। राम यहाँ वही मर्यादा-पुरुष है, सीता वही सृजन शक्ति। अहं का प्रतीक रावण दोनों को अलग करके संसार में ध्वंस का कारण बना पर अन्त में वही हुआ जो होना चाहिये। जीवन कभी बाधाओं से थँमता नहीं, वेग से आगे ही बढ़ता है।

राम की शक्ति-पूजा का यही मूल भाव है।

विचार-विमर्श

हमारा अनुवाद-साहित्य

महेन्द्र कुमार 'मानव' एम.

कुछ लोगों का ख्याल है कि जिस समाज के साहित्य में अनुवाद प्रचुर होता है वह समाज उन्नत नहीं कहा जा सकता तथा उसके साहित्य का दिवालियापन ही प्रकट होता है। बहुधा लोगों को खास कर बंगवासियों को कहते सुना गया है कि हिन्दी में है क्या सिवाय बंगला के कुछ उपन्यासों के अनुवाद के? माना कि हिन्दी में बंगला के उपन्यासों तथा और पुस्तकों का अनुवाद है लेकिन उससे यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी में कुछ है ही नहीं। तब तो फिर हमको अँग्रेजी साहित्य को बिल्कुल ही तुच्छ समझना पड़ेगा क्योंकि उसमें अनुवादों की संख्या बहुत बड़ी है। जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी, इटालियन, ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, फारसी, अरबी, चीनी, जापानी, पाली, प्राकृत, तिब्बती, स्पेनी, पोर्चुगीज आदि संसार की प्रमुख भाषाओं के चुने हुए फूलों का अनुवाद हम अँग्रेजी भाषा में पाएँगे। उलटे इस अनुवाद साहित्य के कारण अँग्रेजी भाषा का गौरव है।

मुझे तो दुःख इसी बात का है कि अपनी हिन्दी में अभी अच्छे अनुवाद हैं ही नहीं। अधिकांश बँगला से अनुवाद हुए हैं लेकिन वे भी त्रुटियों से भरे पड़े हैं। 'चाबुक' नामसे निरालाजी के पुराने लेखों का संग्रह निकला है। उसमें निरालाजी ने अनुवादकर्त्ताओं की खूब खबर ली है। मुझे तो उन अनुवाद कर्त्ताओं के साहस पर ही आश्चर्य होता है कि बँगला के ज्ञान के बिना वे अनुवाद करने कैसे बैठ जाते हैं। मूल से तो हमारे यहाँ बहुत कम अनुवाद होते हैं। जो कुछ विदेशी भाषाओं से अनुवाद हुए हैं वे अँग्रेजी के जरिये हुए हैं। इसलिए जो अँग्रेजी जानते हैं वे लोग उनको हिन्दी में पढ़ना पसन्द ही नहीं करते और यह स्वाभाविक भी है। तथा जो अँग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद हुए भी हैं वे कम से कम हिन्दुस्तान की हिन्दी में तो नहीं हुए हैं हाँ उसको अँग्रेजी हिन्दी कहा जा सकता है। अनुवाद में विदेशी नामों की जगह पर देशी नामों को रखने की रीति को भी मैं अनुचित समझता हूँ। आप अनुवाद में भले ही शहरों और व्यक्तियों के नाम भारतीय कर दें लेकिन वातावरण, रहन-सहन वगैरह तो विदेशी ही रहेगी और देशी नाम रखने से खिचड़ी बन जायगी जिससे पाठक को मति भ्रम ही होगा। जैनेन्द्रजी ने टालस्टाय की कहानियों का अनुवाद किया है लेकिन नाम ग्राम बदल दिए हैं।

जब हम किसी विदेश की पुस्तक का अनुवाद पढ़ते हैं तो स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है कि वहाँ के रीति-रिवाज कैसे होंगे आदमियों के नाम, आकृति वगैरह कैसी होगी। अगर अनुवाद में हमको वही चीज न मिली जिसको हम खोजते थे तो निराशा के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आता। अतः यह भारतीयकरण अच्छा नहीं।

हाँ, तो पहले हम अपने अनुवादों पर एक दृष्टि डाल लें। सब से पहले हमारी दृष्टि हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के प्रकाशन शरत्-साहित्य पर जाती है। अनुवाद अच्छे हुए हैं तथा प्रेमीजी की देख-रेख में किए गए हैं। उनको प्रामाणिक माना जा सकता है। शरत् के अभी तक जितने अनुवाद हुए हैं उनमें ये सब से अच्छे हैं। तथा मूल्य की दृष्टि से भी सर्व साधारण तक पहुँच सकते हैं। प्रेमीजी ने मुंशी-साहित्य भी प्रकाशित करना शुरू किया था लेकिन उसके २-३ भाग ही निकल पाए और अड़चनें आ गईं। आप मूल पढ़िये या अनुवाद, दोनों में एक सरीखा आनन्द आता है। कहीं-कहीं पर अनुवाद-कर्ताओं ने जरूर मक्खिकास्थाने मक्खिका रख दिया है। अनुवादक की दृष्टि भाव पर रहनी चाहिए। एक भाव को एक भाषा में जिन शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है उसी भाव को दूसरी भाषा में व्यक्त करने के लिए अन्य शब्दों का आश्रय लेना पड़ेगा। सिर्फ पर्यायवाची शब्द रखने से

काम नहीं चलेगा। इसके लिए दोनों भाषाओं पर एक-सा अधिकार होना जरूरी है। सरस्वती प्रेस बनारस से भी कुछ अच्छे अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। गल्प-संसार-माला के एक-एक भाग संग्रहणीय है। उनसे हम अखिल भारत के कहानी लेखकों और कहानी साहित्य का परिचय पाते हैं। लेकिन अभी ऐसे अनुवादों की बहुत आवश्यकता है। 'माँ', 'गाड़ी वालों का कटरा' भी अच्छे अनुवाद हैं। 'हंस' ने अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की गतिविधि से हिन्दी-भाषियों को परिचित कराने में बड़ी सहायता की है। लाला सीताराम बी० ए० ने कुछ संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया था लेकिन अभी तक उनके बढ़िया संपादित संस्करण नहीं निकले हैं। मराठी, गुजराती आदि साहित्य से तो हिन्दी जनता अभी बहुत कम परिचित है। तामिल, तेलेगू, कन्नाड की तो बात न कीजिये। हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा अगर इस दिशा में कुछ काम करे तो उसे अच्छी सफलता मिल सकती है। अभी तक हिन्दी और बँगला का गठ बन्धन रहा है लेकिन अब समय आ गया है जब भारत की सभी प्रमुख भाषाओं का साहित्य हिन्दी में अनूदित हो जाना चाहिए। एक तो इससे हिन्दी के प्रचार में भी सहायता मिलेगी तथा अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में भी सुविधा होगी। तथा भारत में एक नई राष्ट्रीयता का जन्म होगा जिसके विशाल सागर में प्रान्तीयता की क्षुद्र ऊर्मियाँ समाविष्ट हो जायँगी। आज हम अँग्रेजी भाषा में मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के इतिहास को पढ़ते हैं। अब समय आगया है कि हिन्दी-प्रेमी भारत की अन्य भाषाओं की ओर ध्यान दें तथा हिन्दी-साहित्य के भंडार को भरपूर कर दें।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है; उसमें अभी कई विषयों पर पुस्तकें ही नहीं है, अतः प्रारम्भ में अनुवाद द्वारा ही काम चलाना पड़ेगा। राजनीति, अर्थशास्त्र, व्यापार, चिकित्सा-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, रसायन-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र आदि विषयों पर अभी हिन्दी में पुस्तकें नगण्य सी ही हैं। हमको अपनी दृष्टि सर्वतोमुखी रखनी है, तभी कल्याण होगा। कविता और कहानी लिखने से ही काम नहीं चलेगा। विश्व-विद्यालय इस काम में नेतृत्व ग्रहण कर सकते हैं लेकिन अभी तक उनका रुख इस ओर पूर्णरूपेण फिरा नहीं है। जहाँ जहाँ हिन्दी को माध्यम स्वीकृत कर लिया गया है वहाँ भी शिक्षक और विद्यार्थी अँग्रेजी में ही पढ़ाना-पढ़ना पसन्द करते हैं। प्रयाग विश्व विद्यालय में तथा अन्य विश्व विद्यालयों में भी बी० ए० में अँग्रेजी ऐच्छिक विषय है लेकिन करीब-करीब सभी विद्यार्थी अँग्रेजी लेते हैं लघुता की भावना से बचने के लिए।

भारतीय भाषाओं के साहित्य का तो हिन्दी में अनुवाद हो ही जाना चाहिए और वह आसानी से हो भी सकता है अगर कुछ उत्साही कार्यकर्ता उस ओर ध्यान दें। लेकिन मेरी कई वर्षों से इच्छा रही है कि हिन्दी में विदेशी भाषाओं से प्रामाणिक अनुवाद होना चाहिए। और वह भी अँग्रेजी के जरिए नहीं प्रत्युत मूल से ही हिन्दी में आना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि हिन्दी के अच्छे विद्वान विदेश जाँय और वहाँ रह कर उन भाषाओं को सीखें, लोगों की रहन-सहन और बोल-चाल से परिचित हों; फिर वहाँ के साहित्य को अपनी भाषा में लाएँ। उदाहरण के लिए दस विद्वान जर्मनी जाँय, दस फ्रांस जाँय, दस इटली जाँय, दस चीन जाँय, दस रूस जाँय, वहाँ रह कर उन-उन भाषाओं का अध्ययन करें, फिर वहाँ के साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करें। हिन्दी-साहित्य को विश्व में प्रचारित करने के लिए वे दूसरी ओर से भी प्रयास कर सकते हैं। वे हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य को उन-उन भाषाओं में अनुवाद कर सकते हैं। लेकिन यह गौण काम ही होगा। इस ओर यदि देश के धनी मानी सज्जन ध्यान दें तो शीघ्र ही बहुत कुछ हो सकता है। कला-कौशल और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बहुत से भारत के पूँजीवादी, भारतीय विद्यार्थियों को अपने खर्चे से विदेश भेजते हैं। अपने बजट में से कुछ वे उन साहित्यिकों को भी रख सकते हैं। भारत और चीन के बीच संस्कृति के पारस्परिक ज्ञान के लिए जो उद्योग चल रहे हैं वे श्रेयस्कर हैं। अब लड़ाई समाप्त हो गई है, अमेरिका का प्रभाव भी भारत में नजर आने लगा है अतः अब अमेरिकन साहित्य पहले की अपेक्षा

[शेष १०५ वें पेज पर देखिये]

साहित्य में अश्लीलता की व्यञ्जना

बैजनाथप्रसाद खेतान बी० ए०

साहित्य में अश्लीलता वहीं तक ग्राह्य है, जहाँ तक 'शिव' की भावना उसमें प्रच्छन्न रूप से बनी रहे। नग्नता अगर अपने मूल में नग्न नहीं, तो उसकी ओर से उपेक्षा का कोई अर्थ ही नहीं होता। गरीबी और बेबसी के बोझ से दबी हुई निःसहाय भिखारिणी का अङ्ग प्रदर्शन करुणा की उद्भावना में प्रेरणा भले ही दे, पर वहाँ कामोत्तेजना नहीं हो सकती। अगर किसी के साथ यह भी संभव हुआ तो इसमें भी संदेह नहीं, उससे बढ़ कर कुरूपता, अश्लीलता और नग्नता कहीं नहीं दिखलायी देगी। लेकिन यह ज्वलंत सत्य है कि इस भिखारिणी के अङ्ग प्रदर्शन में गणिका के अङ्ग प्रदर्शन की सी वृत्ति नहीं है। उसके रग-रग में तो अतृप्त वेदना परिवेष्ठित है। वह करे तो क्या करे? वह वस्त्र से अपने को ढके तो कहाँ से ढके?

नग्नता के दो पहेलू इस तरह हमारे सामने आये। एक नग्नता बेबसी के कारण है, दूसरी जान-बूझ कर वैभव—विलास के बीच रंगरेलियाँ मनाती हुई दिल खोल-कर सम्पूर्ण अङ्गों का खुला प्रदर्शन कर रही है जिससे कि वह दूसरे की तामसिक वृत्तियों को जाग्रत कर सके। जीवन में दोनों ही यथार्थ हैं लेकिन साहित्य में किस यथार्थ की अभिव्यक्ति हो, यह एक प्रश्न है।

प्रकृतिवाद के प्रवर्त्तक एमिल जोला (Emiel Zola) ने अपने सिद्धान्त की विवेचना करते हुए लिखा है:—

"मेरी केवल एक इच्छा थी, यदि एक मनुष्य स्वस्थ और हट्टा-कट्टा है और एक स्त्री अतृप्त काम है, तो उसमें पशुत्व ढूँढना ही मेरी कला की परिणति है।"

इसे हम यथार्थवाद का उग्रतम रूप कह सकते हैं। प्रकृतिवाद के सिद्धान्त का जहाँ तक संबंध है, वह मानव प्रकृति के विश्लेषण को ही काया की संज्ञा देता है। मानव प्रकृति के विश्लेषण का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि योनि-सम्बन्धी क्रियाओं का ही कलाकार प्रर्यवेक्षण करे। कहते तो शर्म आता है, ख्यातनामा Renan ने L' Abbesse de jouarre नाटक में यहाँ तक लिख दिया कि स्त्री के साथ संभोग करना सौन्दर्य की उपासना है। शायद यह फ्रेंच साहित्य की संस्कृति हो। संभवतः यही कारण है कि फ्रेंच-साहित्य में नैतिक-पतन की सीमा यहाँ तक कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, युवती, कामासक्त नग्नकामिनी और उसके साथ संभोग की क्रियाओं में शेष हो रही। मोपासाँ प्रकृतिवाद का समर्थक था। उसने भी इस सिद्धाँत की पुनरावृत्ति की और उसे सीमा तक पहुँचा दिया। यही कारण है कि नग्न व्यभिचार कामुकता, लम्पटता और नारी-जीवन के कुत्सिततम अङ्ग के चित्रण की सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचना उसके साहित्य में मिलती है।

आज के बौद्धिक युग में हिन्दी साहित्य की उतनी तो नहीं, हाँ कुछ अंशों में वैसी ही परिस्थिति हो रही है। मैं ऐसे कहानीकारों और उपन्यासकारों को जानता हूँ जो कहने के लिये तो कहते हैं कि मैं साहित्य में अश्लीलता का प्रदर्शन इसलिए करता हूँ कि यह जीवन का सत्य है पर उससे भी बढ़ कर सत्य तो यह है कि उन्हें स्वयं अश्लीलता के वर्णन में ही मजा मिलता है। दलीलें भी उनकी लम्बी चौड़ी होती हैं। उनके शब्दों में 'सेक्स पर इसलिये लिखता था और हूँ कि और कुछ लिखने के लिये कलम उठाते ही मेरी आँखों के सामने अगिनत जानी पहिचानी, आस पास की दुनियाँ उठाई हुई, अपने काम जीवन से असन्तुष्ट रुष्ट और संसार की प्रचलित परिभाषा में दुष्ट स्त्रियों का चरित्र एक पल में आ खड़ा होता है।"

यह उच्छृंखल उद्धरण ख्यातनामा उपन्यासकार सर्वदानन्द वर्मा के 'अनिकेतन' उपन्यास की भूमिका से

उद्धृत किया गया है। माना कि उनके तर्क मान्य हैं पर कलाकार तो हम उसे ही कहेंगे जो जीवन के कटु विष को अमृत बना कर अपनी कला में उड़ेले। यथार्थवाद और आदर्शवाद के समन्वय की यहाँ आवश्यकता होगी और वह समन्वय ही हमें कुछ सन्देश दे सकेगा। कमजोरियों की अभिव्यक्ति तो बहुत होती है, पर उनके दैविक स्वरूपों का भी चित्रांकन किया जाय, यह आवश्यक है क्योंकि मनुष्य में सत्व और तम दोनों का सामञ्जस्य है।

मैंने-बूढ़ों बुजुर्गों को कहते सुना है कि उपन्यास और कहानियाँ मत पढ़ा करो, बिगड़ जाओगे। संभवतः इसका यही कारण है कि आधुनिक कहानियों और उपन्यासों में वे केवल गन्दगी ही पाते हैं। हो सकता है, सभी की कृतियों के साथ उनके सिद्धान्त लागू न हों पर इसमें उनकी गल्ती नहीं। सच पूछा जाय तो उन्होंने सबों की कृतियों का विशद अध्ययन नहीं किया है। वे तो पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर ऐसी धारणा बनाये हुए हैं जिसकी अधिकांशतः कहानियाँ छिछले रोमांस पर केंद्रित होती हैं। पत्र-पत्रिकाएँ सामयिक युग की विचार धारा को व्यक्त करती हैं। तो क्या यह हम कहें कि हिन्दी साहित्य फिर रीति युग की ओर लौट रहा है? कच-कुच-कटाक्ष में ही अब क्या हमारी कला शेष हो जायगी?

कहने के लिये लोग कहते हैं कि आज के युग में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्त्व है। भौतिकता की वे दुहाई देते हैं। अध्यात्मिकता के अनुयायियों को प्रतिक्रियावादियों की संज्ञा दी जाती है, पर यथार्थ तो यह है कि विषय वासना की हो और वे अधिक लिप्त हुए हैं। आज का युग चार्वाक—युग की ओर लौट गया है, उस चार्वाक युग की ओर जिसकी विशिष्टता पुनर्जन्म की अवहेलना, ईश्वरीय अस्तित्व पर अनासक्ति, परलोक-कल्पना की उपेक्षा और नियति पर अविश्वास तक ही परिमित थी। उनकी दृष्टि में दुःख तो संसार में रहेगा ही, फिर वैभव विलास को वे क्यों छोड़ें? आज के बौद्धिक विशेषज्ञों की भी यही दृष्टि है।

इन्हें देखते हुए दुःख होता है। युग को 'रमण' कृत 'मास्को' और जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' की आवश्यकता नहीं, उसे तो 'दिन कर' की 'हुँकार' और 'रेणुका' चाहिये और सोहनलाल द्विवेदी की 'प्रभाती' और 'भैरवी'। द्विवेदीजी के शब्दों में साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि जनता के सदाचार की रक्षा करे, न कि उनके मानस-पटल पर व्यभिचार के मधुर मोहक चित्र अंकित करे।

[२२० वें पृष्ठ का शेष]

ज्योत्सना—ले० श्री शिवचन्द्र नागर। प्राप्ति स्थान—मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद। पृ० सं० ७२, मूल्य ॥-)।

किसी 'कहानी' के स्मृति-रूप में कवि ने 'ज्योत्सना' में अपनी करुण वेदना की आह भरी सिसकियाँ सँजोयी हैं। सिसकियों में कितना दम है, यह तो नहीं कहा जा सकता। पर वेदना की इन थपकियों में उसके उल्लास और अवसाद का परिचय अवश्य मिलता है। यह निश्चित है कि इन करुणा-विगलित गीतों में शृंगारी भावनाएँ ही मुखरित हुई हैं—

> स्वर्ग की शुभ कल्पना सी,
> निविड़ तम में चन्द्रिका सी।
> फूल सी तुम छू पड़ी थीं,
> कृष्ण कुहू में तारिका सी।

'सी' के इस सम्वादी स्वर ने गीतों में कमनीयता ला दी है।

व्यक्तिगत जीवन की परिधि से बाहर कवि की कुछ अनुभूतियाँ समष्टि के अँचल में बिखर गई हैं। निर्झर, सरिते, ताजमहल, कृषक की झोंपड़ी में उसके कवित्व का अच्छा विकास हुआ है। अस्पष्ट रेखाओं द्वारा वस्तु-चित्रों का सुन्दर रूप अंकित हो सका है। 'कृषक की झोंपड़ी' की इन पंक्तियों में भावों का गुम्फन साकार हो उठा है—

> क्या समाधि में विरत यह
> एक सात्विक योगिनी है।
> या विधुर - वैधव्य से
> पीड़ित युगों की शोकिनी है?

सब मिला कर 'ज्योत्सना' में कवि के भीगे प्रणय-गीतों की तरल अभिव्यक्ति है।

—मोहनलाल

आलोचना

महादेवी की रहस्य-साधना---लेखक—प्रो॰ विश्वम्भर 'मानव' एम॰ ए॰। पृष्ठ संख्या १२६। मूल्य २)

वर्तमान हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की बाढ़ आई और चली सी गई। किन्तु महादेवीजी अब भी उस रहस्यमय वातावरण में दीप-शिखा रूप स्वयं जल कर क्षीण आलोक उत्पन्न कर रही हैं। दीप-शिखा यद्यपि स्वयं प्रकाश्य होती है तथापि कभी-कभी आवरण हटाने की आवश्यकता होती है। मानवजी की यह पुस्तक महादेवीजी की रहस्य-साधना के समझने में पाठकों के मन का आवरण हटाने के लिए ही लिखी गई है।

इसके आरम्भ में तो एतिहासिक पृष्ठ-भूमि के रूप में छायावाद और रहस्यवाद के विवेचन के साथ उनके अविद्वान् और विद्वान आलोचकों की थोड़ी-बहुत खबर ली गई है। शुक्लजी की सगुणोपासना में लेखक ने वही आपत्ति दिखलाई है जो शुक्लजी ने निर्गुण के और अज्ञात के प्रति प्रेम में। लेखक महोदय ने महादेवीजी द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का उल्लेख कर उनके काव्य के समझने के लिए उपादेय सामग्री दी है। महादेवीजी के रहस्यवाद का 'पंचदशी' आदि वेदान्त ग्रन्थों से सम्बन्ध जोड़कर उसको एक दृढ़ आधार-भूमि प्रदान की गई है किन्तु महादेवीजी पर बौद्धधर्म का जो प्रभाव है उसकी ओर बहुत कम संकेत दिखाई पड़ता है।

लेखक ने महादेवीजी की कृतियों से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनका दुखवाद उनको प्राप्त अत्यधिक लाड़ दुलार की प्रतिक्रिया नहीं है। किन्तु फिर भी वे कवयित्री की रहस्य-भावना को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति का ही फल मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने विरह की अनुभूति को ही नहीं माना है वरन् मिलन की अनुभूति की भी क्षीण आभा दिखाई है। इसमें यह सन्देह है कि अनुभूति वास्तविक है अथवा काल्पनिक है। वास्तविक अनुभूति में जो सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है उसका आभास महादेवीजी के जीवन में पाते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक मिलन के ही कारण है। संसार से वैराग्य कई कारणों से हो सकता है। उनमें एक निराशा भी हो सकती है।

चिन्तन और मनन के भावना का पुट मिलने से वह रहस्यवाद में परिणित हो जाता है। महादेवीजी ने चिन्तन मनन पर्याप्त किया है। उसमें जो भावना आई वह वास्तविक ब्रह्म-सम्बन्ध से आई या अपने ही मानसिक भावों के प्रक्षेपण से यही विचारणीय है।

लेखक महोदय ने साधना पक्ष में हठयोग को महत्व नहीं दिया है वह तो ठीक है, किन्तु आत्म-शुद्धि के लिए साधन में यम-नियम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेखक ने महादेवी के साथ विरह को ही साधना का रूप दिया है।

आलोचक महोदय ने महादेवीजी के रहस्यवाद को कबीर, जायसी, मीरा, रवीन्द्र, प्रसाद, निराला और पन्त से तुलना की है। उससे न केवल महादेवी के ही समझने में आसानी होगी वरन् भारतीय रहस्यवाद की परम्परा पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

आलोचक महोदय महादेवीजी की प्रशंसा में अत्युक्ति की कोटि में पहुँच गये हैं। वे लिखते हैं 'वैदिक-काल से लेकर आज तक महादेवी जैसी असाधारण व्यक्तित्व की

स्त्री लेखिका ने ऐसी अतुल मेधाविनी दार्शनिक कवियित्री ने, इस भारत भूमि में जन्म नहीं लिया।' इतिहास इस बात का साक्षी है और आज तक का भारतीय वाङ्मय इस तथ्य की घोषणा शताब्दियों तक करता रहेगा।

हम अपने समय के साहित्य के महत्व को किसी प्रकार कम न करके अत्युक्तियों के विलास में नहीं पड़ना चाहते हैं। मैत्रेयी, मदालसा, यशोधरा, मीरा का एक से एक बढ़कर व्यक्तित्व था। उनमें कवित्व कितना था यह नहीं कहा जा सकता। मीरा में कवित्व तो था ही, दार्शनिक चिन्तन चाहे न हो किन्तु अनुभूति की तीव्रता पर वह चिन्तन न्यौछावर किया जा सकता है। फिर भी महादेवीजी का काव्य इस युग के लिए गर्व का विषय रहेगा। —गुलाबराय एम० ए०।

प्रसाद साहित्य की तीन पुस्तकें

कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ - ले०—प्रो० विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक—राधाबाई पंडित, शिवाजी प्रकाशन मन्दिर लखनऊ। मूल्य २)

प्रसादजी साहित्य के उन अमर कलाकारों में से हैं, जिन्होंने साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारतापूर्वक दान दिया है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के आलोक से साहित्याकाश आज पूर्ण प्रकाशित हो रहा है। ऐसे साहित्यकार की ओर हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ समालोचकों का ध्यान आकृष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। समालोच्य पुस्तक के विद्वान् लेखक ने प्रसादजी के प्रादुर्भाव काल की पूर्वावस्था का स्पष्ट परिचय कराते हुए हिन्दी-साहित्य की उन प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण किया है जिनको गति देने में प्रसादजी का प्रमुख योग-दान है। हमारा तात्पर्य रहस्यवाद और छायावाद से है। "रहस्यवाद छायावाद" और प्रसाद शीर्षक निबन्ध में प्रतिपाद्य विषय को परिभाषाओं की जटिलता से बचाते हुए पर्याप्त स्पष्ट तथा सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। प्रसाद प्रधानतः अन्तर्वृत्ति-निरूपक (Subjective) कवि हैं। व्यष्टि और समष्टि दोनों का दर्शन वे अपने अन्तर में करते हैं। दर्शन के लिए वे आँखों को बन्द कर लेने वाले प्रेमियों में से हैं—जैसाकि उर्दू के किसी कवि ने कहा है—

उल्टी ही चाल चलते हैं आवारगाने इश्क,
आँखों को बन्द करते हैं दीदार के लिए।

वस्तुतः कवि को समझने के बाद ही उसके काव्य की अन्तरात्मा में प्रवेश किया जा सकता है—यह सत्य यद्यपि सभी काव्यों के अध्ययन के लिए सर्वथा ग्राह्य तथा मान्य प्रतीत होता है, तो भी अन्तर्वृत्तिनिरूपक काव्यों के अध्ययन के लिए विशेष रूप से मान्य है। अन्तर्वृत्ति निरूपक कवि के मानस को समझे बिना उसके काव्यों को हम यथोचित रूप से नहीं समझ सकते। अस्तु, रहस्यवाद-छायावाद और प्रसाद, प्रगतिवाद और प्रसाद तथा प्रसाद का नियतिवाद शीर्षक प्रारम्भिक निबन्धों में श्री शर्माजी ने कवि प्रसाद के मानसिक विकास का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया है। प्रसादजी के काव्य ग्रन्थों का अनुशीलन करने वालों के लिये ये निबन्ध उपयोगी सिद्ध होंगे। शर्माजी की अन्तर्दृष्टि पैनी तथा विश्लेषण और वर्णन-शैली सरल है।

पुस्तक के उत्तरार्द्ध में चित्राधार, काननकुसुम, करुणालय, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर तथा कामायनी पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। 'महाराणा का महत्व' शीर्षक खण्डकाव्य लेखक ने विचार-कोटि में नहीं रखा। आँसू मुक्तक काव्य है तथा कामायनी प्रबन्ध-काव्य। इन दोनों ही काव्यों में प्रसादजी ने अपने को अधिक से अधिक व्यक्त किया है। कामायनी पर 'कामायनी' तथा 'कामायनी में दर्शन' शीर्षक दो निबन्ध हैं। आँसू पर आँसू, उसका भावपक्ष तथा कलापक्ष शीर्षक तीन निबन्ध और ४३ पृष्ठ के परिशिष्ट में आँसू की पंक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार प्रबन्ध काव्य के विवेचन तथा स्पष्टीकरण में मुक्तक के तृतीयांश में ही विचार किया गया है, जिससे निबन्धों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। आँसू का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक का मुखपृष्ठ सुन्दर है परन्तु छापे की भूलें बहुत अधिक हैं। यत्र-तत्र पुस्तक में इन्वर्टेड कामाओं का अत्यधिक प्रयोग पाठकों को उलझन में डालने वाला है। 'आज' 'कल' 'समय' मिथ्या आदि अनेक शब्दों को देखकर उनके पारिभाषिक होने का भ्रम होने लगता है।

प्रसादजी के दो ऐतिहासिक नाटक—लेखक—प्रो० कृष्णनन्दन सहाय, एम० ए० । प्रकाशक—सहाय एण्ड सन्स, बांकीपुर (पटना) और भागलपुर । मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में अजात शत्रु तथा ध्रुवस्वामिनी पर आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है । प्रारम्भ में हिन्दी का नाट्य साहित्य-शीर्षक निबन्ध में नाट्य-साहित्य का विकास संक्षेप में तथा सुन्दर-ढङ्ग से दिखाया गया है । तदनन्तर दोनों नाटकों पर ऐतिहासिक आधार, चरित्र-चित्रण, रचना पद्धति, संवाद, भाषा, अभिनेयता, हास्य, तथा तत्कालीन भारत प्रभृति शीर्षकों के आधार पर विवेचना की गई है । प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक इतिहास के उस धूमिल भाग से चुने हैं, जो प्राचीन बौद्ध-जैन साहित्य, पुराणों, संस्कृत नाटकों तथा साहित्य-शास्त्र आदि ग्रन्थों में अव्यवस्थित रूप से बिखरा हुआ है । इस प्रकार इस कोटि के नाटक रचने में प्रसादजी के सम्मुख इतिहास-कार तथा नाटककार का द्वैध कर्त्तव्य रहा है । ऐतिहासिक सत्य की रुक्षता से रक्षा करने के लिये उन्होंने कल्पना और भावना का भी अश्रय लिया है । अजात शत्रु के प्रधान पात्र बुद्धदेव, बिंबसार, अजात शत्रु, प्रसेनजित, उदयन आदि इतिहास प्रसिद्ध पात्र हैं । इनके अतिरिक्त वासवी, पद्मावती, छलना, मागंधी, मल्लिका, शक्तिमती, देवदत्त, विरुद्धक, बन्धुल इत्यादि भी जातकों तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा अनुमोदित हैं । नाटक के पात्रों में दिखाया गया विरोध भी इतिहास सम्मत है । लेखक ने कई घटनाओं को कथानक के संघठन और विकास के विचार से अवश्य अनुमान-विधान द्वारा प्रस्तुत किया है, जैसे—बिम्बसार का राज्याधिकार त्याग, विरुद्धक तथा अजात की अभिसंधि, बंधुल को हत्या तथा मागंधी-श्यामा आम्रपाली का एकीकरण । प्रसादजी ने इस एकीकरण को कल्पना-जन्य स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही एकीकरण का उद्देश्य है ।' विद्वान् समालोचक ने काशी की वेश्या श्यामा को उदयन की रानी बनाना ऐतिहासिकता तथा औचित्य की दृष्टि से गर्हित ठहराया है । किन्तु ऐसा निष्कर्ष निकालने में ऐतिहासिक परिस्थितियों की सर्वथा उपेक्षा की गई है । वेश्याओं के वर्ग तथा व्यवसाय का तत्कालीन समाज में सम्मान होता था और सामाजिक परिस्थितियाँ भी आज जैसी जटिल न थीं । कणवेर जातक तथा थेरी गाथा में काशी की वारविलासिनी सामावती (श्यामा) का जिस प्रकार वर्णन मिलता है उससे हमारे कथन की यथेष्ट पुष्टि होती है । विद्वान् समालोचक के इस विचार से हम सहमत हैं कि इस नाटक में मगध, कोशांबी तथा श्रावस्ती तीन राज्यों की कथाओं को एक सूत्र में गुम्फित कर कथानक को काफी जटिल और दुर्बोध बना दिया है । इतना विस्तृत कथानक एक बड़े उपन्यास के लिए ही उपयुक्त था । फलस्वरूप इसमें पात्रों की बाढ़ सी आगई है । दर्शकों की स्मृति उनका भार वहन कर सकेगी इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता । विस्मृत पात्र का परिचय प्राप्त करने के लिए उपन्यास में पन्ने उलटने की जो सुविधा प्राप्त है वह रंगमंच पर अप्राप्य है ।

ध्रुव स्वामिनी में प्रसाद जी ने गुप्त वंशावली को एक विस्मृत कड़ी से जोड़ा है । ऐतिहासिक पूर्व में चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं । परन्तु स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डा० सिलवा लेवी, जायसवाल तथा राखालदास बनर्जी इत्यदि ऐतिहासिकों के अनुसंधान के आधार पर राम गुप्त को बीच में प्रति-ष्ठित किया गया है । नाटक का कथानक पूर्णतः इतिहास सम्मत हैं । अमोघ वर्ष के संजान पत्र लेख, राष्ट्र कूट नरेश गोविन्द चतुर्थ के सांगली और कैंबे के ताम्र पत्र तथा अबुल हसन की मुजमलुत्तवारीख कथानक का समर्थन करते हैं । यत्र-तत्र काल्पनिक दृश्यों की योजना से नाटक की श्री वृद्धि हुई है और चन्द्रगुप्त का चरित्र विखर गया है । अभिनय की दृष्टि से नाटक—केवल तीन अंक का होने के कारण—बहुत सुन्दर है । किन्तु अंकों का दृश्यों में विभाजन न होने से घटनाओं में कुछ अस्वाभाविकता आगई है । नाटकों की विवेचना आरम्भ से इति तक युक्तिसंगत है ।

प्रसादजी की कला—सम्पादक, गुलाबराय, एम. ए. । प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा । मूल्य १॥)

प्रसादजी हिन्दी भारती के उन उपासकों में से हैं,

जिन्होंने बहुविधि कला कृतियों से उसकी पूजा-अर्चना की है। उनके साहित्य के सम्बन्ध में अब तक दस-ग्यारह आलोचनात्मक पुस्तकें हमारे देखने में आई हैं। कोई काव्य के सम्बन्ध में, कोई नाटक के, कोई उपन्यास के—इस प्रकार प्रायः सभी पुस्तकें किसी एक अंग विशेष की विवेचना करने के कारण एकांगी ही ठहरती हैं। विषय-निर्वाह की गम्भीरता की दृष्टि से भले ही वे अपने में पूर्ण हों, किन्तु प्रसाद की कला के सर्वाङ्गीय दर्शन उनमें से किसी में भी सुलभ नहीं। यद्यपि वैसा करना उनका उद्देश्य नहीं है तो भी इस प्रकार के एक ग्रन्थ की अपेक्षा तो बनी ही रहती है जो इस अभाव की पूर्ति करे। हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ लेखक श्री गुलाबरायजी द्वारा सम्पादित प्रस्तुत पुस्तक इस आवश्यकता की पूर्ति करती है। प्रसादजी की बहुमुखी कला के विकास के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हमें इस ग्रन्थ में भले ही उपलब्ध न हो, पर प्रसादजी की सर्वाङ्गीण कला के दर्शन सर्वसुलभ हैं। प्रसादजी की बहुरंगी कला को प्रस्तुत करने में यह ग्रन्थ प्रिज्म (Prism) का कार्य करता है। पुस्तक के आरम्भ में आत्म-कथा शीर्षक प्रसादजी की कविता है। आगे विविध विद्वानों द्वारा लिखित बीस निबन्धों के विषय इस प्रकार हैं—प्रसादजी की जीवन-कथा, कविवर प्रसाद, प्रसादजी की कविता, प्रसादजी के छन्द, प्रसादजी के गीत, प्रसादजी की भाषा, कामायनी की भाव-मूलक व्याख्या, कामायनी, कामायनी : इड़ा-मीमांसा, प्रसादजी के नाटक और पात्र-कल्पना, कामना, अजातशत्रु : एक दृष्टि, चन्द्रगुप्त, प्रसादजी के उपन्यास, प्रसादजी की कहानी कला प्रसादजी की विचार-धारा, प्रसादजी का प्रकृति वर्णन-प्रसादजी के निबन्ध, आँसू की प्रेम-मीमांसा। निबन्धों की सूची से ही पुस्तक उपयुक्त पृष्ठ-भूमि तैयार करती है तथा स्थान-स्थान पर उनकी कला को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक निर्देश (Suggestion) भी देती हैं। प्रसादजी के पाठकों के लिए यह पुस्तक संग्रहणीय है।

—शां० प्र० पाठक एम. ए.

कविता

सारस की जोड़ी—ले० श्री गोविन्दवल्लभ त्रिपाठी प्रकाशक—अरविन्द—प्रकाशन—मन्दिर, राजगढ़। पृ० सं० ४४ मूल्य ।।।) ।

पुस्तक में सन् ३६ में रचित कवि के १५ उच्छ्वास गीत हैं। इन उच्छ्वासों में त्रिपाठीजी अपने कवि को समझने की कोशिश करते हैं। प्रणय की तरल अनुभूतियों से कवि का मानस स्पंदित हो रहा है। यौवन की किरणों ने उसके गीतों में विलास का मद बिखेर दिया है। उसके संस्मरणों में उल्लास और अवसाद दोनों का प्रवलेह है। सन्तोष का विषय यही है कि वह अपनी शृंगारी भावनाओं पर कोई आवरण नहीं डलता।

आज चाहते व्याकुल होकर
दीप-वासना तप्त-अधर
उन अधरों का स्पर्श

पर सौन्दर्य की सुषमा देखने में ही कवि अपने को नहीं भूल जाता है। जीवन के ठोस यथार्थ से उसके प्रणय-गीत टकरा उठे हैं और उनमें गति आई है। 'पतझड़ का पेड़' और भूकम्प' उसे आकर्षित करते हैं। इसी आकर्षण में नत्रीकता का संदेश है।

पुस्तक का अनुकाँत-छंद-विधान सफल बन पड़ा है।

चित्तौड़—ले० श्री 'परदेशी' साहित्यरत्न। प्रकाशक ग्वालियर—प्रकाशन मंदिर गुना (ग्वालियर स्टेट)। पृ० संख्या ६२, मूल्य १)

पुस्तक कवि की प्रथम कृति है। कवि का निवेदन है कि यदि पाठकों को इसमें से एक भी पंक्ति पसन्द आई तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

परदेशी जी में हमें वीर रस के एक उदीय मान कवि की प्रतिभा संकोच में सिमटी हुई मिलती है। यह छोटी सी पुस्तक उसका सुन्दर प्रमाण है। यह कृति कवि की वीर पूजा Hero warship की भावना का प्रतिफलन है। चित्तौड़ वीरता की प्रतिमूर्ति है। चित्तौड़ी वीरों की ही कवि पूजा नहीं करता, चित्तौड़ की भी वह पूजा करता है। उसकी मान्यता है कि 'चित्त तोड़ दिये अरि के इसने, चित्तौड़ इसी से नाम पड़ा।' और वह चित्तौड़ को उसके वीरों का स्मरण करा कर जगा रहा है। इस जागरण-गान में क्रान्ति का आह्वान है—

ऐ उठ, विप्लव के दूत ! जाग
ऐ प्रलयंकारी पूत, जाग
घर घर में भीषण लगी आग
तू रण के भैरव भूत, जाग ।

अपनी दिशा में पुस्तक एक अच्छा प्रयास है ।

--मोहनलाल

उपन्यास

चढ़ती धूप—लेखक श्री अंचल, प्रकाशक श्री गया प्रसाद तिवारी बी० काम, अध्यक्ष हिन्दुस्तानी पब्लीकेशन्स, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ३३२ । मूल्य ४॥)

लेखक ने इसको मौलिक सामाजिक उपन्यास कहा है । यद्यपि इसकी मूल समस्या सामाजिक है तथापि इसकी अन्तिम परणति राजनीतिक है । ममता और मोहन प्रामीण हिन्दू परिवारों के अपेक्षाकृत उदार वातावरण में बढ़े हैं । दोनों एक दूसरे को प्रेम करते हैं और साथ ही आदर्श मान कर उपासना भी करते हैं । इस उपासना के अन्तस्तल में वासना की क्षीण झलक कभी-कभी दिखाई पड़ जाती है । कभी तो वह बालिका के वय-सुलभ चापल्य में (जैसे धूल डाल देना) और कभी प्राकृतिक सौन्दर्य की अतिरञ्जित प्रशंसा में (जैसे प्राणों ने प्राणों से बन्धना इन्हीं लहरों के मिलन से सीखा है) चमक उठता है यद्यपि वह गुरुशिष्या के व्यवहार में अप्रासङ्गिक और अस्वाभाविक प्रतीत होती है तथापि उसका उतना पुट उपन्यास को आदर्शवाद की दूषित सीमा से बचाये रखता है । इतना प्रेम करने पर भी वे विवाह बन्धन में नहीं पड़ते हैं । यहीं इस उपन्यास की सामाजिक समस्या है । मोहन ने अपना दृष्टिकोण दो तीन बार स्पष्ट किया है । वह अपने पिता से कहता है विवाह पर ही पुरुष और नारी का पारस्परिक सम्बन्ध कायम हो सके ऐसी मेरी मान्यता नहीं । वह मेरे लिये विवाह से बड़ी है । अपने से अलग कर के मैंने उसे नहीं देखा' यह आदर्श बहुत ऊँचा है किन्तु इसके पालन में कम से कम ममता का तो बलिदान हो ही जाता है । वह पतिगृह में सुखी न रह सकी । मोहन के विशेष अनुरोध पर वह अपने पति को शरीर दे सकी मन न दे सकी । मोहन ने अपने को देश के कार्य के लिये सुरक्षित रखने के लिये देश को ममता की सेवा से वञ्चित रक्खा । विवाह की सम्भावना न हो तो दूसरी बात थी ? इस विवाह के न होने में मोहन के हठ के अतिरिक्त उसके पिता का रूढ़िवाद भी उत्तरदायी है । रूढ़िवाद ने सर झुका लिया था किंतु मोहन के आदर्शवाद ने सर नहीं झुकाया । मोहन पीछे अपनी सफाई देते हुए कहता है मेरा मतलब साफ़ है 'ममता मुझे जान से प्यारी थी । मेरा आदर्श मुझे ईमान की तरह प्यारा है । मैं जान दे सकता हूँ ईमान नहीं' ईमान खतरे में समझना यह मोहन की कमजोरी थी । विवाह कर लेने से उसके आदर्शवाद में खरोंच भी न आती और ममता का भी जीवन बन जाता । वास्तव में मोहन का सैद्धान्तिक हठवाद ही ममता के बलिदान के लिए उत्तरदायी है । कानपुर जाने से पूर्व ममता के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठा था कि वह जिस क्रान्ति में भाग लेना चाहता था उसमें उसके जीवन को पग-पग पर खतरा था । क्या उसके मरने के बाद ममता दुःखी न होगी और निष्प्रयोजन न हो जायगी 'ऊपर की सृष्टि करने मोहन यहाँ नहीं आया । क्या ममता में इतना बल है कि नई पीढ़ी के निर्माण में योग देकर अपना नारीत्व वह सफल कर सके' मोहन ने ममता की परीक्षा नहीं ली उससे पूछा भी नहीं और उसे उसके अयोग्य ठहरा दिया । मोहन के मरने के बद ममता ने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी । विवाह कर के मोहन अपने बताये हुये इस आदर्श की पूर्ति भी कर सकता था साम्यवादी व्यवस्था में वह समर्थन बनेगी । आज जो प्रेमिका और पत्नी दो अलग संज्ञाएँ हैं उस समय नहीं रहेंगी । मोहन के चरित्र की यह विशेषता है कि वह रूढ़िवाद से तो बाहर गया किन्तु मर्यादा और शिष्टता का उलंघन नहीं किया । मोहन की दुर्बलता का अन्तिम उद्घाटन यद्यपि मर्यादा के बाहर हो गया है तथापि उसमें एक विशेष शिष्टता और करुणा है । जहाँ मोहन इतने प्रलोभनों से बचता रहा । उसका अन्तिम व्यवहार उसके पूर्व मर्यादा की रक्षा को संदिग्ध अवश्य बना देता है किंतु अंतिम दृश्य को विशेष करुणा प्रदान

करता है तथ्य के इतने निकट आ जाने पर दूसरे दिन ही गोली का शिकार बन जाता है।

इस उपन्यास के सामाजिक पक्ष में तो मोहन के पिता का रूढ़िवाद और धन का लालच ही विशेष उल्लेखनीय है जिसके कारण रूढ़ि के प्रति विद्रोह की क्षीण झलक आ जाती है किन्तु शेष बातों के लिए न समाज उत्तरदायी है और न मोहन उसे उत्तरदायी ठहराता है। रहा यह प्रश्न कि समाज पुरुष और स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध समझ नहीं सकता इसके लिए समाज को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं। पहले तो अब काफी स्वतन्त्रता आती जा रही है और मोहन और तारा का अन्तिम व्यवहार इस बात का प्रमाण है कि मोहन जैसा आदर्शवादी भी प्रलोभनों से सुरक्षित नहीं रह सकता। विवाह राष्ट्रसेवा में बाधक नहीं है। सब लोग मोहन की भाँति अविवाहित रह भी नहीं सकते हैं। इस उपन्यास में तारा और मोहन के सहयोग में यह अवश्य दिखा दिया है कि सेक्स के अतिरिक्त भी स्त्री और पुरुष के सहयोग में कुछ सम्मिलित ध्येय हो सकते हैं। समाज में इतनी उदारता आने की जरूरत है। और आ भी गई है किन्तु आजकल के युवक-युवती को यौन उद्देश्य से परे दिखाना। आदर्शवाद को दूषित सीमा तक पहुँचाना है। मोहन और ममता में भी यौन-भावना को ऊपर न आने देने की चेष्टा करने पर भी वह कहीं-कहीं सर उठाती दिखाई पड़ती है। ममता द्वारा मोहन के लिए भैया का अत्यधिक प्रयोग वासनामय प्रेम पर भ्रातृ-प्रेम का भव्य आवरण डालने की चेष्टा प्रतीत होती है। फिर भी आदर्शवाद के जिस सूत्र में वे बँधे हुए हैं कच्चा धागा नहीं है। न वह हो सकता है।

इस उपन्यास का एक राजनीतिक पक्ष भी है। मोहन गान्धीवाद के आदर्श में पला है फिर किसान सभाओं के सूत्र से वह मजदूर आन्दोलन में पहुँच जाता है और वर्ग संघर्ष में विश्वास करने लगता है। उसके सारे प्रोग्राम को वह अपना लेता है। गान्धीवाद का प्रभाव इतना ही है कि मजदूर लोग अहिंसात्मक आन्दोलनों को स्वीकार करते हैं। शायद इसीलिए कि मजबूरी का नाम सब्र है। अहिंसा की मानसिक वृत्ति उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की गई है। चर्खा का स्पष्ट विरोध है। कहा गया है कि भारतवर्ष में लोग इतने दिन से चर्खा चलाते आये हैं। मुहम्मद गोरी के समय में भी चर्खा चलाते थे किन्तु हारे। वास्तव में हार-जीत चर्खे और मशीन पर निर्भर नहीं है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आजकल के युग में मशीन का महत्व है लेकिन चर्खा इसलिए निन्दनीय नहीं कि जब मुसलमान आये तब भारतवासी चर्खा चलाते थे। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जर्मनी और जापान मशीनों का प्रयोग करते थे तभी हारे।

फिर भी इस पुस्तक में मार्क्सवाद और गान्धीवाद के समन्वय का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। मोहन के संस्कार इसके लिए उत्तरदायी हैं।

पुस्तक की भाषा प्रवाहमय है और कहीं-कहीं वह कवित्व की ओर भी अग्रसर हुई है। यत्र-तत्र सुन्दर मुहावरों का जैसे गंगा की गैल में मदार के गीत किसे अच्छे लगेंगे प्रयोग हुआ है। कुछ प्रयोग ऐसे नये हैं जिनका समर्थन करना कठिन होता है जैसे ममता को मैंने अपने समस्त निर्माल्य से प्यार किया है।

इसमें कुछ वाक्य ऐसे हैं जो सूक्ति बनने की क्षमता रखते हैं जैसे—मानवता का पूर्ण उत्कर्ष होने पर ही संसार में देवत्व का अवतरण होगा। मनुष्य जिस पर अपना अधिकार समझता है—जिसे प्यार करता है उसे ही तो मारता है। उपमाएँ भी कुछ नई और पीटी लकीर से बाहर की हैं देखिए:—जैसे नाव के पीछे पानी की रेखाएँ चलती हैं—जैसे फाल के पीछे हल के दरार चलते हैं—उसी तरह उनके पीछे जनता चलती थी।

इस उपन्यास में समाजवादी व्यवस्था तो काफी है और संघर्ष और विप्लव की पुकार भी है किन्तु इसका मूल संदेश कर्तव्य की दृढ़ता है जो विफलता को भी सफल बना देती है।

—गुलाबराय एम० ए०

[शेष पृष्ठ २१४ पर]
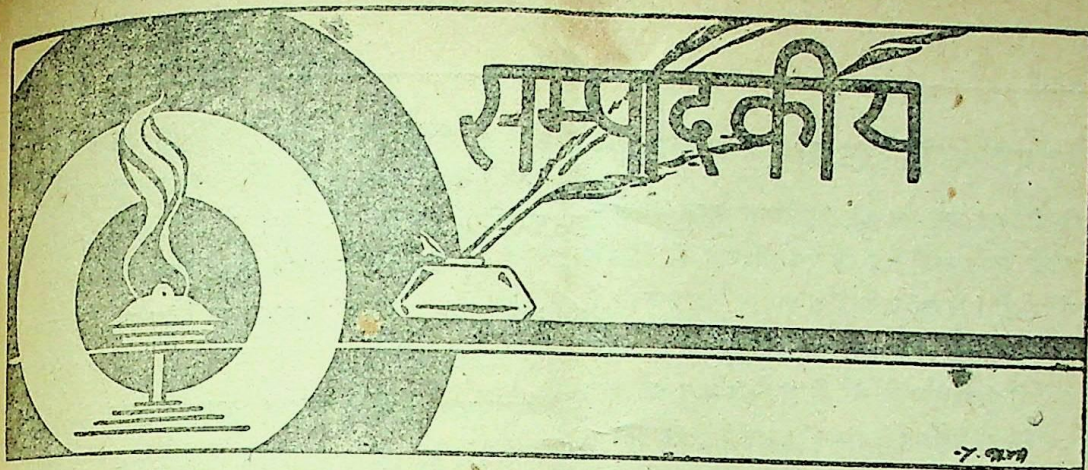
बाबू जी की स्मृति में—

स्व० बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने हिन्दी की जो सेवा की है उसके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के लिए हम शीघ्र ही 'साहित्य सन्देश' का एक विशेषांक निकालेंगे जिसकी विस्तृत योजना अगले अंक में प्रकाशित की जायगी। 'छायावाद अंक' इस अंक के बाद निकलेगा। बाबू साहब के मित्रों, साथियों और शिष्यों से हमारा अनुरोध है कि इस काम में हमें यथेष्ठ सहायता दें जिससे विशेषांक बाबू साहब के गौरव के अनुरूप निकाला जा सके।

हिन्दी में अनुवाद ग्रन्थ—

विचार-विमर्श के स्तम्भ में अनुवादों के सम्बन्ध में एक नोट छपा है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि किसी साहित्य की महत्ता उसमें अनुवादित ग्रन्थों पर नहीं निर्भर रहती तथा झूठी पत्तल चाटकर कोई जीवित नहीं रह सकता तथापि दूसरे साहित्य के रत्नों के बिना हमारा साहित्य फीका रहता है। कालिदास, भवभूति, माघ के ग्रन्थों को अनूदित कर कौनसा साहित्य गौरवान्वित न होगा। विश्व-कवि रवीन्द्र, कथा-सरितसागर, हितोपदेश, शकुन्तला और आजकल के युग में कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि का अनुवाद सभी सभ्य भाषाओं में हुआ है। बर्नर्डशा और गाल्सवर्दी के नाटक भी सार्वदेशिक महत्व रखते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव विचार-विमर्ष में दिये गये हैं।

संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद साहित्य-सम्मेलन करा रहा है। हिन्दी में अब केवल अनुवादों से काम न चलेगा। आजकल विचार का युग है। हमको ऐसे अनुवाद चाहिए जिनमें कि विषय के समझने के लिए विद्वत्तापूर्ण सहायक टिप्पणियाँ और भूमिकाएँ हों। अब वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब संस्कृत के विद्यार्थियों को अङ्गरेजी में उत्तर न देकर हिन्दी में उत्तर देने पड़ेंगे। उस समय ऐसे अनुवादों की विशेष आवश्यकता होगी। प्रान्तीय भाषाओं में लिखे हुए वैज्ञानिक ग्रन्थों के अनुवाद अंग्रेजी के ग्रन्थों के अनुवाद की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकते हैं किन्तु तभी जबकि वे प्रामाणिक हों। प्रान्तीय भाषाओं के सरस साहित्य के भी सम्पर्क में आना हमारे लिए आवश्यक है। विदेशी साहित्य का वातावरण भिन्न होने के कारण वहाँ का सरस साहित्य हमारे लिए इतना उपयोगी न होगा जितना कि प्रान्तीय। फिर भी शाश्वत भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य संक्षेप या कुछ परिवर्तित रूप में हमारे यहाँ अनूदित हो जाना कमनीय है। क्या साहित्य-सम्मेलन या नागरी-प्रचारिणी सभा विद्वानों का सहयोग प्राप्त कर ऐसी सूची तैयार करायेगी जिनमें अनुवाद करने योग्य ग्रन्थों की नामावली मिल सके। उन ग्रन्थों का चाहे अनुवाद न भी हो सके तो भी विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों को यह तो ज्ञात रहेगा कि वे किन ग्रन्थों की सहायता ले सकते हैं। यदि विभिन्न भाषाओं के विद्वान् जो हिन्दी साहित्य से भी परिचित हो ऐसे तुलनात्मक लेख लिखें जिनमें कि यह प्रकाश डाला जाय कि कौन किस भाषा से क्या ले सकता है तो प्रान्तीय सहकारिता के साथ जातीय-साहित्य में भी उन्नति हो सकेगी।

बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट का एक सत्प्रयत्न—

हिन्दी विश्व विद्यालय की आयोजना बहुत दिनों से चल रही है किन्तु अभी तक वह एक सदिच्छा की कोटि से ऊंची नहीं उठी। विक्रम जयन्ती के अवसर पर उज्जैन में उद्घाटित होने वाली आयोजना शायद युद्धकालीन आवश्यकताओं से आविर्भूत हो गई किन्तु जिस वस्तु का बीज सामाजिक चेतना में है वह अवश्य ही फलवती होकर रहेगा। किन्तु उसके लिए साधन उपस्थित करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में जो सब से बड़ी कठिनाई पेश की जाती है वह पाठ्य पुस्तकों की। हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम इसलिए नहीं बनाई जाती कि उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों का अभाव है और पाठ्य पुस्तकें इसलिए नहीं लिखी जाती कि अभी हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं है। इस दूषित व्रत को तोड़ने के लिए ही बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट ने बी० ए०, बी. कॉम. आदि पढ़ाने योग्य पुस्तक लिखवाने का निश्चय किया है। हम इसका स्वागत करते हैं और अपने लेखक बन्धुओं से निवेदन करते हैं कि वे इस आयोजन में सहयोग देकर हिन्दी के माथे से यह कलंक दूर करें कि उसमें उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाने योग्य साहित्य नहीं है। ट्रस्ट, पारिश्रमिक और रॉयल्टी दोनों ही दे रहा है।

इस सम्बन्ध में हमारा यह सुझाव है कि ट्रस्ट को कुछ अधिक कार्यशील होने की आवश्यकता है। उसको निम्न प्रारम्भिक कार्य अपनी ओर से कर लेना आवश्यक है।

१—विभिन्न प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनों से लिखा-पढ़ी कर के उनके यहाँ से ऊँचे परिमाण की पुस्तकों की सूची मंगाये। अपने लेखकों को उन पुस्तकों का सुझाव दें। उनकी पारिभाषिक शब्दावली से भी वे लाभ उठा सकते हैं।

२—जिन विषयों की वे पुस्तकें लिखाना चाहते हैं उन विषयों पर लिखी हुई कम से कम दस पुस्तकों को जो नितान्त आवश्यक हो लेखकों को सुलभ करा दें और बाकी की सूची उनको दे दें।

३—पुस्तक के विषयों पर भारतीय विद्वानों की खोज और भारतीय दृष्टिकोण को बतलाने वाले ग्रन्थों का दिग्दर्शन करा दें।

४—वर्तमान हिन्दी साहित्य में से पाठ्य-क्रम में आने योग्य पुस्तकों को छांट लें और उसकी सूची प्रकाशित करा दें।

जो महाशय इस आयोजनमें दिलचस्पी रखते हों वे मंत्री प्रकाशन समिति बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट पिलानी से लिखा पढ़ी करें।

साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व—

यह पद हमेशा से ही बड़े उत्तर दायित्व का रहा है। किन्तु हमको खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस पद को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ बहुत कम निभाया गया है। महात्मा गांधी के सम्मेलन से त्याग-पत्र देने तथा हिन्दी विरोधी विविध आन्दोलनों के जोर पकड़ने के कारण भाषा का प्रश्न महत्व का हो गया है। भाषा के प्रश्न के महत्वके सदुपयोग के लिए दिशा निर्देश करना आवश्यक है। साहित्य परिषद का कार्य प्रायः दो घंटे में समाप्त हो जाता है। सम्मेलन के संयोजकों को चाहिए कि वे ऐसा कार्य-क्रम बनायें जिसमें कि साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने के लिए पूरा समय मिल सके। उदयपुर की स्वागत समिति ने काफी से ज्यादा उत्साह दिखलाया है। उसके अनुकूल ही सम्मेलन की सफलता होनी चाहिए। वरन् उसके चरितार्थ करने में साल भर प्रयत्नशील रह सकें और अपने व्यक्तित्व के बल से सम्मेलन के बल को द्विगुणित करदें।

भाषा के प्रश्न के साथ ही साथ साहित्य-सम्मेलन को साहित्य की गतिविधि पर भी विचार करने की आवश्यकता है। युद्ध की समाप्ति से प्रकाशन की सम्भावनाएँ बढ़ेगी और उन सम्भावनाओं के साथ ही सभापति के प्रश्न का महत्व और भी बढ़ जाता है। वास्तव में हमको ऐसे सभापति की आवश्यकता है जो सम्मेलन के लिए भाषा का ऐसा सर्वमान्य ध्येय निर्धारित कर सके जिसमें राष्ट्रीय भावना की मूल सांस्कृतिक चेतना पर कुठाराघात न हो। ऐसा ध्येय निर्धारित करना जितना कठिन है उतना ही कठिन उसका प्रचार और पालन कराना है। हमारे निर्वाचित सभापति ऐसे हों जो उस ध्येय को केवल निर्धारित ही न कर सकें। बल्कि उसका प्रचार और पालन करा सकें।

— हमारा लोकप्रिय प्रकाशन —

स्व० श्री रामचन्द्र शुक्ल का भाषण मुफ्त ! बुकसेलरों को भारी रियायत !!

सार्वजनिक वाचनालयों को

विशेष सुविधा

मीरा (आलोचनात्मक)—श्री श्यामापति पाण्डेय साहित्य रत्न, पृ० सं० ११२, मू० १=)
मेघदूत विमर्श (सांग विवेचन)—श्री रामदहिन मिश्र, पृष्ठ संख्या २३८, मूल्य २।।=)
हिन्दी के सामाजिक उपन्यास (आलोचना)—श्री पं० ताराशंकरजी पाठक, पृष्ठ संख्या १४६, मूल्य १।।)
फल संचय (फ्रुटगेदरिङ्ग का अनुवाद)—स्व० विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, मूल्य १।।)
स्वस्थ शरीर भाग १, २—श्री डॉ० सरजूप्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या २२०,
जलधारा (कहानी संग्रह)—लेखक प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त' पृष्ठ संख्या १७४ मू० १=)
विज्ञान और आविष्कार—श्री सुख सम्पतिराय भंडारी, पृष्ठ संख्या २७४ मूल्य १=)

श्री मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर।

पुस्तक विक्रेताओ !

हमारे अपने प्रकाशनों का स्टाक समाप्तप्राय है। बचा हुआ स्टाक आकर्षक दरों और रेल महसूल सम्बन्धी सुविधाओं सहित हम निकाल रहे हैं। आप इस विज्ञापन को देखते ही विवरण मँगाने के लिए कार्ड लिखिये। भविष्य में फिर कभी ऐसा अवसर नहीं आवेगा।

व्यवस्थापक—

मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद।

हिन्दी जगत के उच्चतम प्रकाशन

आधुनिक हिन्दी जगत में श्री काशी विद्यापीठ के प्रकाशनों की गणना उच्चकोटि के साहित्यों में है। देश तथा विदेश के सभी विद्वानों ने इनकी प्रशंसा की है। राष्ट्र की उन्नति के लिए इन प्रकाशनों का अध्ययन बहुत ही उपयोगी तथा आवश्यक है। प्रत्येक विषय सम्बन्धी पुस्तकें रोचक एवं आकर्षक भाषा में लिखी गई हैं।

प्रकाशित पुस्तकें—

(१) समाजवाद— (लेखक) श्री सम्पूर्णानन्द
(२) गणेश " "
(३) राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास—ले० श्री कन्हैयालाल
(४) जापान रहस्य—ले० श्री चमन लाल
(५) अफलातून की सामाजिक व्यवस्था—ले० श्री गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०
(६) राजपूतों का प्रारम्भिक इतिहास—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए० एल-एल० बी०
(७) मीरकासिम—ले० श्री हरिहर नाथ शास्त्री
(८) संसार की समाज-क्रान्ति—ले० डा० जी० एस० खैर पी० एच० डी०
(९) अंग्रेज जाति का इतिहास—ले० श्री गंगाप्रसाद एम० ए०
(१०) सौन्दर्य विज्ञान—ले० श्री हरिवंश सिंह शास्त्री

प्रकाशक—

श्री काशी विद्यापीठ, बनारस छावनी।

हमारे यहाँ हिन्दी भाषा की सभी पुस्तकें मिलती हैं।

हमारे नवीन तम प्रकाशन

१—**शिक्षा का माध्यम**—लेखक आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल, भूमिका लेखक—महात्मा गान्धी — मूल्य ।||)

२—**भारत के आर्थिक निर्माण पर गान्धी वादी योजना**— लेखक—आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल, भूमिका लेखक-महात्मा गाँधी — मूल्य २||)

३—**किसान राज्य (पंच वर्षीय-योजना)**— लेखक— प्रान्तपति पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल — मूल्य २||)

४—**हमारा स्वाधीनता संग्राम**—लेखक—प्रान्तपति पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल — मूल्य १||)

५—**शिकार**—लेखक—श्री० पं० श्रीराम शर्मा — मूल्य १|)

6. Maulana Abul Kalam Azad by Mahadeo Desai With a forward by Mahatma Gandhi — Price 3/8/

प्रकाशक तथा विक्रेता—

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि० होस्पिटल रोड, आगरा।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से भी मिल सकती हैं।

कुछ विचार
'लीग आफ नेशन की हैल्थ कमेटी' ने खुराक में फलों का सेवन
अधिक बताया है। परन्तु प्रत्येक फल हर मौसम में नहीं मिलता इसलिए
वैज्ञानिकों ने अँग्रेजी ढङ्ग से मुरब्बे तैयार किये हैं जो मुद्दत तक रक्खे रहने पर
भी इनमें से ताजी फलों की तासीर नहीं जाती। हमारे ये मुरब्बे ताज
और साफ फलों व सफेद और साफ की हुई चीनी से तैयार होते हैं, जिनके
सेवन से ताक़त व तन्दुरुस्ती बढ़ती है।
JAMS
CC
BRAND
वस्तुएं व्यवहार में लाइये
जाम
CC
BRAND
JAMS
APPLE
जी॰ जी॰ फ्रूट प्रिज़र्विंग फ़ैक्टरी आगरा
जी॰ जी॰ इण्डस्ट्रीज़

रामचरनलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।

अक्टूबर १९४५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०

सञ्चालक
महेन्द्र

विषय सूची

हिन्दी की नई पुस्तकें

भाग ७] आगरा, अक्टूबर १९४५ [अङ्क ७

प्रगतिवादी समीक्षा-शैली

श्री शिवनाथ एम० ए०, सा० र०

[प्रगतिवाद आजकल के प्रमुख वादों में से है। इस लेख में लेख महोदय ने दिखलाया है कि प्रगतिवाद ऐसे वादों में है जो विदेश से आया है और इसका सम्बन्ध केवल साहित्य सृजन से ही नहीं है वरन् इसकी एक विशिष्ट आलोचना शैली है। यह मार्क्स के भौतिकवाद के आश्रित है और इसके अनुकूल अर्थ ही जीवन की प्रधान प्रेरकशक्तियों में से है। इस बाद से प्रभावित साहित्य समीक्षा भी सामाजिक और आर्थिक विवेचना पर निर्भर है। लेखक का कहना है कि प्रगतिवाद आर्थिक दृष्टि को प्रधानता देता हुआ आलोचना में और दृष्टियों के लिये गुंजाइश रखता है। लेकिन कितनी यह विचारणीय है। --सम्पादक]

हिन्दी साहित्य में मतवाद का आगमन कोई नई घटना नहीं है। भक्तिकाल में प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः यह आ चुका है। छायावाद-रहस्यवाद-युग में भी यह किसी न किसी रूप में आया। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि हम साहित्य-क्षेत्र में मतवाद के संनिवेश का समर्थन करते हैं। परन्तु इतिहास पर दृष्टि पड़ने पर यह सत्य अवश्य सिद्ध होता है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि हिन्दी-साहित्य में जो मतवाद आए वे साहित्य या कला के माध्यम से, अर्थात् साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता के साथ और जो मतवाद प्रचार की वृत्ति लेकर आए उनका खंडन ही हुआ, उसमें साहित्य के तत्व न होने के कारण संत-साहित्य का कुछ अंश ऐसा ही है।

प्रगतिवाद के मूल में भी मतवाद की सत्ता है, इसे स्वीकार ही करना पड़ता है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में आये अन्य मतवादों से इसमें भिन्नता है। यह विदेशी है और इसका प्रधान क्षेत्र समाज-दर्शन है। हिन्दी-साहित्य में आए अन्य मतवाद स्वदेश के ही हैं और विशुद्ध दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं। कहा जाता है कि छायावाद-रहस्यवाद भी विदेशी मतवाद से प्रभावित है।

हिन्दी में सम्भवतः समीक्षा के क्षेत्र में किसी मतवाद का आगमन अभी तक नहीं हुआ था। मतवाद से प्रभावित किसी साहित्य की समीक्षा में मतवाद का परिचय अथवा विवेचन अवश्य किया जाता है। परन्तु कोई ऐसा मतवाद जिसने समीक्षा-शैली को प्रभावित किया हो,

अब तक हिन्दी में नहीं आया था। मार्क्स का समाजवाद समीक्षा-शैली का आधार बना है, अतः प्रगतिवादी समीक्षा शैली में समाजवाद का आधार-ग्रहण आवश्यक हो जाता है। मार्क्स के समाजवाद ने हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा-शैली को ही प्रभावित नहीं किया, इसने वर्तमान-काल में अन्य देशों की समीक्षा-शैली को भी प्रभावित किया है।

मार्क्स के मतानुसार इस जड़-चेतन मय अनेक रूपात्मक दृश्य जगत की अभिव्यक्ति भूत तत्व अथवा पदार्थ (Matter) के सतत् परिवर्तन से हुई है। जगत् का मूल कारण भूत ही है। इसीके सतत परिवर्तन और विकास से सृष्टि का निर्माण हुआ। भूतों का परिवर्तन सृष्टि-निर्माण के पूर्व भी चलता रहा है। इस परिवर्तन का परिणाम यह सृष्टि है ही, वर्तमान में भी चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। अर्थात् भूत सतत प्रवहमान अर्थात् परिवर्तन शील है, वे नित परिवर्तित अथवा नूतन रूप धारण करते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में भूत निर्मित जगत् भी नित्य परिवर्तन की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। उसमें भी नित्य परिवर्तन, नित्य नवीनता कर रही है, और परिवर्तन वा नवीनता का क्रम प्रतिक्षण जारी है, क्योंकि भूत प्रतिक्षण गतिशील है।

भूत जड़ है, फिर चेतन की सृष्टि कैसे हुई? मार्क्स दर्शन कहता है कि जड़ भूतों में परिवर्तन होते होते एक ऐसी अवस्था आती है जब चेतन की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार चेतन का मूल जड़ ही स्थिर होता है। चेतन परिवर्तनशील जड़ का ही विशिष्ट रूप है, इसका गुण है। इस मीमांसा का निष्कर्ष यह है कि जिस जगत्, जिस समाज, जिस किसी भी स्थिति में हम रहते हैं, उसमें शाश्वत परिवर्तन चल रहा है। यहाँ सब कुछ गतिशील है, स्थिर नहीं।

मार्क्स दर्शन का कथन है कि इस सतत परिवर्तन शील समाज का आधार आर्थिक व्यवस्था है। किसी समाज की उन्नति-अवनति का कारण उसकी उन्नत-अवनत आर्थिक व्यवस्था ही होती है। समाज की उत्पादक शक्ति के द्वारा उत्पादक सम्बन्ध स्थापित होते हैं, इन उत्पादक सम्बन्धों का सम्मिलित रूप ही समाज की आर्थिक व्यवस्था है। सीधे-सीधे यों कहें कि समाज की आर्थिक व्यवस्था उसकी उत्पादन विधि पर आश्रित है। मार्क्स ने एक स्थल पर कहा है कि 'वस्तुतः इसी आर्थिक आधार पर समाज का वैधानिक और राजनीतिक ढाँचा विकसित होता है।'

समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर केवल वैधानिक और राजनीतिक ढाँचा ही नहीं खड़ा होता प्रत्युत उसके सभी रूप-रंग, उसकी सभी क्रियाएँ उसके सभी अंग आर्थिक व्यवस्था पर टिके रहते हैं। अभिप्राय यह कि समाज की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सभी अवस्थाओं का मूलाधार उसकी आर्थिक व्यवस्था है। मार्क्स और एंगेल्स ने कहा है कि व्यक्ति की भौतिक व आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के साथ ही उसकी बुद्धि और हृदय में भी परिवर्तन होता है। भौतिक अथवा आर्थिक उत्पादन में परिवर्तन के साथ-साथ बौद्धिक और हृदय सम्बन्धी कृति में भी परिवर्तन होता है।

What else does the history of ideas prove, then that intellectual production changes its character in proportion as material production is changed?

—Marx and Engels's Coumunist Manifesto.

इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाज तथा समाज-स्थित व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन समाज की आर्थिक उक्त व्यवस्था पर निर्भर है। मार्क्स और एँगेल्स का यह दर्शन इतिहास के अनुशीलन पर स्थित है। इन लोगों के इस सिद्धान्त को इतिहास के साक्ष्य के अनुसार स्थापित किया है। हमारे देश में अर्थ को प्रधान रूप से समाज और जीवन के साथ जोड़ने तथा संस्कृति पर उसके प्रमुख प्रभाव की बात सर्वमान्य नहीं हो सकी है। इसका कारण यह है कि अर्थ को प्राचीन काल में विशेष अथवा कुछ भी महत्व नहीं दिया जाता था; यह जीवन-निर्वाह का अति सामान्य साधन-मात्र समझा जाता था। पुरुषार्थों में (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) इसका महत्व विशेष नहीं है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि जीवन में अर्थ की कोई न

कोई स्थिति सभी कालों में रही है। प्राचीन काल में भी यह जीवन का साधन माना जाता था। आधुनिक काल में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आ पड़ी हैं कि अर्थ का विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। परन्तु विचार करने पर विदित होगा कि अर्थ जीवन का साधन सभी कालों में रहा है और सम्भवतः भविष्य में भी रहेगा। मार्क्स-दर्शन ने भी समाज और जीवन को आर्थिक व्यवस्था के आधार पर टिका कहा है। अभिप्राय यह कि अर्थ को ही परम पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया है। समाज को अर्थ पर अवलम्बित कर ही के वे रुक नहीं जाते, उनकी दृष्टि उसकी संस्कृति पर भी है, जो अर्थ के अनुरूप चलती है। हम कहना यह चाहते हैं कि मार्क्स दर्शन में जीवन में धन अर्थ-प्राप्ति का प्राधान्य नहीं है, वरन् किसी समाज वा व्यक्ति के जीवन का वह आधार-मात्र है, जिसके अनुसार वह उठता-गिरता है। मार्क्स-दर्शन की विवेचना अर्थ-पर होती है, वह समाज और जीवन के लिए इसकी प्राप्ति के प्राधान्य का प्रतिष्ठापक नहीं है। भ्रम फैला है कि मार्क्स-दर्शन जीवन में अर्थ को प्राधान्य देता है, यह बात सत्य नहीं, वह जीवन की विवेचना में अर्थ को प्राधान्य देता है।

साहित्य और संस्कृति की विवेचना के लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था की मीमांसा के आधार को ग्रहण करने की बात यहाँ स्वीकृत इसलिए नहीं हो पाती कि अर्थ को यहाँ विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था और अब भी प्रायः नहीं दिया जाता है। यहाँ प्राचीन काल में जीवन-निर्वाह के साधन की प्राप्ति में सामान्यतः अर्थ की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आज हम इसके लिए अर्थ की आवश्यकता का अनुभव अवश्य करते हैं। परन्तु अर्थ को जीवन में प्राधान्य न देने का तात्पर्य यह तो नहीं है कि उसका प्रभाव हमारे जीवन पर नहीं पड़ता। समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ते हुए हमारी संस्कृति या हमारे साहित्य पर भी पड़ता है। यह बात दूसरी है कि किसी काल में हम इस पर प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं और किसी काल में यह परोक्षतः ही हमें प्रभावित करता है।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी है। वह यह कि मार्क्स और एँगेल्स के आर्थिक व्यवस्था के आधार पर समाज की स्थिति को स्वीकार करने के साथ ही समाज के विकास में महापुरुषों, उदात्त विचारों आदि का सहायक होना भी अस्वीकार नहीं किया है। परन्तु प्रधानता अर्थ को अवश्य दी है। 'एँगल्स ने खुद सन् १८६० में 'सोशलिस्ट एकेडमी' के संपादकों को दो पत्र लिखे थे, जिनमें उन्होंने इस मिथ्या धारणा का खण्डन किया है और बताया है कि समाज के विकास में विचारों के महत्त्व को मार्क्स ने इन्कार नहीं किया है, उन्होंने सिर्फ यह बताया है कि प्रधान भाग आर्थिक तत्व का ही होता है।' (आचार्य नरेन्द्रदेव कृत 'समाज वाद-लक्ष्य तथा साधन')

निस्सन्देह ही यह स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य समाज के साथ चलता है। समाज के अनुरूप ही साहित्य होता है और वह प्रधानतः समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर अवलम्बित रहता है। जिस प्रकार समाज के ढाँचे के निर्माण पर किन्हीं परिस्थितियों में उदात्त विचारों, महापुरुषों आदि का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार परिस्थितिवश ऐसा साहित्य वा साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है जो समाज के आर्थिक ढाँचे को प्रभावित करे और उसे विकास के मार्ग पर लगाए। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि समाज परिवर्तनशील है, अतः उसके अनुसार चलने वाला साहित्य भी परिवर्तनशील है। वह भी सदैव एक-सा नहीं रहता। समाज के अनुसार ही परिवर्तित होता है। निष्कर्ष यह कि यदि किसी साहित्य वा साहित्यकार की समीक्षा वा मीमांसा करनी है तो जिस समाज में वह साहित्य वा साहित्यकार निर्मित हुआ वा रहा है उसको दृष्टि-पथ में रख कर, उसकी मीमांसा कर यह कार्य (समीक्षा) करना होगा: अर्थात् साहित्य की मीमांसा समाज की मीमांसा को अलग रख कर नहीं की जा सकती। और समाज की मीमांसा उसकी आर्थिक अवस्था को दृष्टि में रख कर करनी होगी।

समाज और उसके आधार पर चलने वाला साहित्य दोनों परिवर्तन शील है। परिवर्तन शील वस्तु की मीमांसा कैसे की जाय? इस पर विचार करने के लिए ध्यान में

यह रखना है कि परिवर्तन क्रम में कुछ काल तक परिवर्तन पूर्व काल से विशिष्ट अथवा भिन्न होता है, निस्संदेह ही इस भिन्नता का कारण परिस्थितियाँ होती हैं। जहाँ से परिवर्तन क्रम में भिन्नता आरम्भ होती है और वहाँ तक यह चलती है, इन दोनों के मध्य का समय किसी विशिष्ट काल वा युग के नाम से अभिहित किया जाता है। साहित्य और समाज में किसी युग के निर्णय का कारण यह भिन्नता वा विशिष्टता ही होती है। यह भी स्मरण रखना है कि जहाँ से साहित्य किसी विशिष्ट परिवर्तन की ओर मुड़ता है मीमांसा वहीं से की जाती है। अर्थात् जहाँ से कोई काल वा युग प्रारम्भ होता है मीमांसा वहीं से होती है। एक और बात पर भी दृष्टि रखनी है, वह यह कि नवीन परिवर्तन अथवा नवीन काल वा युग प्राचीन परिवर्तन अथवा प्राचीन काल वा युग से ही निकलता है। अभिप्राय यह कि नवीन युग प्राचीन युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। प्राचीन की भूमिका पर नवीन को खड़े होने की बात मार्क्स ने भी कही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी साहित्य की मीमांसा करते समय उसकी पूर्व पीठिका की मीमांसा आवश्यक है, जिन परिस्थितियों में वह निर्मित हुआ है उनकी मीमांसा आवश्यक है। छायावाद-रहस्यवाद युग की मीमाँसा के लिये द्विवेदी युग की मीमांसा आवश्यक है, क्योंकि उसी युग से होता हुआ यह युग आया है। छायावाद-रहस्यवाद युग की मीमांसा के लिए द्विवेदी युग की सामाजिक परिस्थितियों की भी मीमांसा करनी होगी, जिनके परिणाम स्वरूप यह युग निर्मित हुआ है। तात्पर्य यह कि किसी युग की मीमांसा उसके मूल की अवस्था अथवा परिस्थिति के आधार पर होनी चाहिये। पीछे को बिना देखे हम आगे को नहीं देख सकते, निष्कर्ष यही है। इस विवेचना से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि साहित्य की मीमांसा साहित्य के इतिहास की मीमांसा तथा समाज के इतिहास की मीमांसा के आधार पर निर्भर है; कारण कि मनन की प्रक्रिया पूर्वापर संबद्ध है ?

किसी समाज या वस्तु का विकास सदैव एक ही दिशा में नहीं होता। विकास वा परिवर्तन की धारा परिस्थिति-वश मुड़ती रहती है। मार्क्स-दर्शन के अनुसार उसके मुड़ने का भी कारण है। वह यह कि विकास-क्रमकी अवस्था विशेष में आंतरिक विरोध Internal contradiction उत्पन्न होते हैं, जिनका दर्शन समाज या साहित्य के किसी काल वा युग के आरम्भिक विकास की अवस्था में नहीं होता, परन्तु मध्य वा अन्त के आस-पास होता है, परिस्थितिवश और आरम्भ में भी आंतरिक विरोध के दर्शन हो सकते हैं। ये आन्तरिक विरोध भी विकसित होते रहते हैं जिनके कारण समाज वा साहित्य के किसी काल वा युग में संघर्ष होता है और इस संघर्ष के परिणामस्वरूप विकास की नवीन अवस्था आविर्भूत होती है। अभिप्राय यह कि किसी काल वा युग की साम्यावस्था Euilibrium में आन्तरिक विरोध उत्पन्न होते हैं, जिनके विकास से संघर्ष होता है, और संघर्ष के फलस्वरूप नवीन साम्यावस्था स्थापित होती है। समाज और साहित्य के विकास वा परिवर्तन में यह क्रम सदैव चला करता है। छायावाद-रहस्यवाद युग में वैयक्तिकता, पलायनवाद आदि के ऐसे आंतरिक विरोध उत्पन्न हुए कि उसी युग के कवियों द्वारा लोकवादी और प्रवृत्तिशील साहित्य की सर्जना आरंभ हुई और साहित्य की एक नवीन अवस्था सामने आई।

विकास का परिवर्तन की इस प्रक्रिया के विषय में वह नियम भी ध्यान में रखना चाहिए कि परिणाम का परिवर्तन (Quantitative change) बढ़ते-बढ़ते जब चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब उसमें से ही गुण का परिवर्तन (Qualitative change) आरम्भ होता है। जल गरम होते होते जब चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब वे दूसरा रूप धारण करते हैं और अचानक धारण करते हैं– जैसे आगका रूप अचानक दिखाई पड़ता है। मार्क्सदर्शन में इसी अचानक परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। साहित्य क्षेत्र में भी यह अचानक परिवर्तन संक्षिप्त होता है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाज का साहित्य एक साम्यावस्था के पश्चात् परिवर्तनवश दूसरी साम्यावस्था का क्रम बराबर चला करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक साम्यावस्था कुछ काल तक समान रूप से चला करती है। अभिप्राय यह कि कुछ काल तक किसी

समाज का साहित्य की प्रवृत्ति समान होती है और इसी कारण उस काल को किसी विशिष्ट काल वा युग के नाम से पुकारा जाता है।

समीक्षा विवेचना प्रधान होती है और प्रगति-वादी समीक्षा शैली विवेचनात्मक है, इसमें सन्देह नहीं। ऊपर की मीमांसा से यह लक्षित हुआ होगा कि इस समीक्षा में समाज की विवेचना का प्राधान्य है, समाज की विवेचना के आधार पर यह समीक्षा चलती है। इस समीक्षा का रूप कुछ कुछ वैसा ही है जैसा ऐतिहासिक समीक्षा का होता है। ऐतिहासिक समीक्षा में भी समीक्षा साहित्य के समाज की विवेचना करनी पड़ती है। ऐतिहासिक समीक्षा से मिलती जुलती होने पर भी इसकी निज की विशेषता भी है। वह है समाज की आर्थिक योजना जो इस समीक्षा का मूलाधार है। इस प्रकार यह समीक्षा शैली समाज और अर्थ दोनों को लेकर चलती है।

प्रगतिवादी समीक्षा अपने तीन रूप हमारे संमुख लाती है—(१) आर्थिक आधार (Economic Foundation) (२) सामाजिक अवस्था (Social Foundation) (३) सामाजिक मनोवृत्ति (Social psychology) में तीनों रूप परस्पर संबद्ध हैं। आर्थिक आधार पर सामाजिक अवस्था का निर्माण होता है और सामाजिक अवस्था के अनुसार समाज के व्यक्तियों का हृदय और बुद्धि बनती है, जो साहित्य के स्रोत हैं। प्रगतिवादी समीक्षा के इन रूपों को दृष्टि-पथ में रखने वाले दो प्रकार के समीक्षक पश्चिम में दिखाई पड़ते हैं। एक तो वे हैं जो साहित्य-निर्माण में समाजिक मनोवृत्ति की प्रधानता स्वीकार करते हैं और आर्थिक आधार तथा सामाजिक अवस्था की गौणता। उनका मत है कि ये दोनों रूप सामाजिक मनोवृत्ति को प्रभावित करते हैं। दूसरे वे हैं जो आर्थिक आधार को ही प्राधान्य देते हैं। विचार करने पर विदित होगा कि मूलतः दोनों प्रकार के समीक्षक अर्थ पर दृष्टि रखते हैं। यह दूसरी बात है कि एक इसे गौण मानता है और दूसरा प्रधान। एक की दृष्टि अर्थ पर पहले जाती है और दूसरे की बाद में। जब अन्ततः अर्थ पर ही जाना है, तो प्राधान्य उसी को क्यों न दिया जाय? इसके अतिरिक्त सामाजिक अवस्था और सामाजिक मनोवृत्ति भी तो आर्थिक अवस्था के अनुरूप ही रखनी है।

प्रतीत होता होगा कि इस समीक्षा-शैली में समाज और अर्थ की ही मीमांसा है साहित्य की नहीं। स्मरण यह रखना है कि इस भूमिका पर साहित्य-निर्माण की परिस्थिति जान लेने के पश्चात् समीक्षा-साहित्य के सभी अंगों की समीक्षा का पूरा-पूरा अवकाश रहता है। और इस शैली के सच्चे समीक्षक समाज और अर्थ की मीमांसा के साथ ही विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी साहित्य की मीमांसा करते हैं।

कवि अपने काव्य से पृथक् नहीं—

"कवि की अनुभूति का ज्ञान या उसके आत्म-भाव की प्रतिष्ठा उसकी पदावली के अतिरिक्त या उससे निरपेक्ष होकर नहीं हो सकती। जहाँ तक काव्य सम्बन्धी अनुभूति है, वह पदावली से अपनी सत्ता को पृथक् नहीं कर सकती। कवि में अनुभव करने और अनुभव को पदावली में व्यक्त करने की शक्ति भिन्न नहीं है। ग्राहक कल्पना और विधायक कल्पना के नाम से विश्लेषण के लिये हम एक विभाजन कर सकते हैं; किन्तु दोनों का क्रम एक दूसरे के साथ इतना मिला हुआ है कि कलाकार के जीवन में हम दो गतियाँ नहीं देख सकते। जहाँ तक वह कवि है—अनुभूति-सम्पन्न है, वहाँ तक वह अपने काव्य से भिन्न कुछ भी नहीं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अपने काव्य से पृथक् कुछ है ही नहीं।"

—सुधांशु

औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता

(हिन्दी उपन्यासकारों की समीक्षा)

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०, साहित्य-रत्न

[अगस्त १९४५ के अङ्क में इस शीर्षक का जो लेख छपा है उसमें हिन्दी उपन्यासों का विवरण कम था। इस लेख में लेखक द्वारा हिन्दी के प्रमुख उपन्यासों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आलोक डाला गया है। लेखक का दृष्टिकोण कहीं-कहीं प्रचलित मत से स्वतन्त्र अवश्य है किन्तु उससे हिन्दी उपन्यास की गति-विधि का अच्छा परिचय मिल जाता है। —सम्पादक]

साहित्य-संदेश के अगस्त ४५ के उपर्युक्त शीर्षक के मेरे लेख पर संपादकीय टिप्पणी द्वारा यह कहा गया कि हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता पर विस्तृत आलोचना मैं लिखूँ। उसी बात को लेकर मैं आगे हिन्दी के आधुनिक करीबन २० औपन्यासिकों को चुनकर, उन पर अपने अभिमत को व्यक्त करने का प्रयत्न इस लेख में करूँगा। साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी उपन्यास किन इयत्ताओं में से गुजरा और गुजर रहा है इस पर विस्तृत प्रकाश अंत में डालूँगा।

प्रेमचन्द-पूर्व के 'परीक्षा-गुरु' से 'मंगल-प्रभात' तक के उपन्यास बहुत कुछ वृहत्कथा के आदर्श पर थे। पाठकों के कौतूहल को जागृत रखना, यही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी की ऐयारी, तिलस्मी-जासूसी रचनाओं ने हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से चाहे बहुमूल्य सेवा की हो; उनमें लेखक का पात्रों के प्रति रुख कुछ ऐसा है कि कथा का घटना प्रवाह अविच्छिन्न रहे, पात्र मरते-जीते चले जायँ—असंभव संभव होता रहे—किसी भी प्रकार से अरबोपन्यास के नायक की भाँति 'आगे क्या हुआ?' यह पाठक की चिरन्तन जिज्ञासा अतृप्त रखी जाय, लहकाई जाय और आगे बढ़ाई जाय।' 'रक्तमंडल' या 'चन्द्रकान्ता संतति' में इसी कारण से न-ही नायक-नायिका परस्पर मन को समझने का प्रयत्न करते हैं और न कोई सामाजिक विपत्ति, परिस्थिति जन्य बाह्य विरोध या दबाव पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देता है। सब कुछ इस प्रकार लेखक की इच्छानुसार घटित होता जाता है, मानों उस कथा-पात्र को संसार में स्वयं चलने की शक्ति ही न हो। एक प्रकार से ऐसे जड़ीभूत, गतिहीन वातावरण में मन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(१) प्रेमचन्द और (२) प्रसाद—'मनोवैज्ञानिक गुत्थी' को आधार मानकर कहानी लिखने का आरम्भ हिन्दी में प्रेमचन्द ने किया, जैसा कि उन्होंने स्वयं 'ग्राम जीवन की कहानियाँ' की भूमिका में कहा है। व्यापक माननीय सहानुभूतियों से प्रेमचन्द का भावुक हृदय सदा भरा रहने के कारण, सेवा-सदन से गोदान तक के पात्रों के सामाजिक परिपार्श्व को कहीं नहीं भूलते। उनके पात्र इसी कारण 'सजीव' होते हैं। जब जीव है तो उन्हें मन है। मगर उनमें से कई हैं जिन्हें अपना मन मारना पड़ता है। मन है कि होरी 'गोदान' करे, पर 'छः' सौ पृष्ठों के अन्त तक होरी की 'मन की मन ही माँहि रही'। यह क्यों—इस कारण मीमांसा में उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता प्रेमचन्द में शुरू हो जाती है। जब समाज और व्यक्ति का संघर्ष है, तो वह प्रेमचन्द के निकट व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के रूप में प्रधान होकर सामने आया है। सेवा-सदन की नायिका की पति द्वारा उपेक्षा, रंग-भूमि के सूरदास का अन्य पात्रों से सम्बन्ध, गबन के नायक का पाप की रूढ़ धारणा से भागने का प्रयत्न, अपने ही अन्तर्द्वन्द्वों से प्रपीड़ित गोदान का मि० मेहता, और निर्मला के वैधव्य की परिस्थिति से उत्पन्न समस्याएँ। इन सब उदाहरणों में प्रेमचन्द व्यक्ति पात्रों की आत्मा में बैठते हैं, उनके अनु-

भाव-आवेग, विचार-विकारों के संघर्षों को पकड़ते हैं; परन्तु एक पात्र का अन्य पात्रों से सामाजिक और वैयक्तिक सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता उत्पन्न करता हैं। इसमें समाज को वे एक 'रंगभूमि'--गणित में दिए हुए निश्चित परिणाम की भाँति--अपरिवर्तनीय मान सकते हैं। फलतः जो भी परिवर्तन उपन्यास में उत्पन्न होते हैं, वे पात्रों के ही हृदय परिवर्तन, आत्मिक पश्चात्ताप या ऐसी ही किसी घोर घटना-विघटना से निर्मित होते हैं। फलतः व्याख्यान सुन कर वेश्यावृत्ति से पराङ्मुख होकर सेवा-सदन की नायिका अपने मौलिक सतीत्व में प्रतिष्ठित हो उठती है और गबन का नायक परिस्थितियों के विचित्र तर्क से पापी से पुण्यात्मा सिद्ध हो जाता है, निर्मला अपनी प्रत्येक कृति का समर्थन खोजने में विफल पाठकों की करुणा की अभ्यर्थिका बन जाती है। और इसी प्रकार से एक ऐसे भावात्मक, नामाख्यहीन, अशरीरी तत्व की सृष्टि होती है, जिसे प्रेमचन्द आदर्श मानते हैं और वही पात्रों को अन्ततः पुनः लेखक की इच्छा पर नचने के लिये बाध्य करते हैं। यही प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी कमजोरी और सबसे बड़ी सार्थकता है। 'घृणा के प्रचारक' से लगाकर 'नोन-तेल-लकड़ी के लेखक' तक सब प्रकार की बातें उनकी कला को 'उपयोगितावादी' सिद्ध करने में कही गई। फिर भी जन-जन के मन के वे लोकप्रिय कलाकार इसलिये बने कि प्रेमचन्द की समस्त पात्र-सृष्टि अन्ततः उनके युग के भाव-अभावों की स्वप्न-पूर्ति का माध्यम बनी। परिणामतः प्रेमचन्द के सभी पात्र साधारण हैं, अति साधारण। अतः उन्होंने जिस व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का प्रश्रय लिया—उसमें केवल विश्लेषण तक ही उपन्यासकार सीमित रहा। प्रकाशचन्द्र गुप्त अपने लेख 'गोदान : एक नजर' में कहते हैं—'शायद मध्य-वर्ग और उच्च-वर्ग के पात्रों में प्रेमचन्द उतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचन्द नहीं समझ सकते। प्रेम के दृश्य तो उनके असफल से हैं। किन्तु नीच ग्रामीण का हृदय भारत में गान्धी को छोड़ कर प्रेमचन्द के बराबर कौन समझ सका है? होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया? प्रकाशचन्द्रजी ने अपने उसी लेख में प्रेमचन्द को मनोविज्ञान के कुशल आचार्य माना है और 'स्ट्रीम ऑफ़ कांशसनेश' के आचार्य फ्रायड को कह कर प्रेमचन्द का टेकनीक वही है, ऐसी गोलमोल बात कहडाली है। अहमदअली ने कहा था कि 'प्रेमचन्द की सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृत्ति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी।' परन्तु इसका अर्थ डा० रामविलास की 'प्रेमचन्द' पर लिखी पुस्तक में जिस प्रकार उनमें वे खुद भी नहीं सोचते थे ऐसी प्रगतिशीलता के दर्शन करना नहीं। प्रो० अशफाकहुसैन ने कहा था कि 'प्रेमचन्दजी साम्यवादी तो थे, परन्तु उग्र और कट्टर साम्यवादी नहीं।' संक्षेप में, प्रेमचन्दजी हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता लाने वाले प्रथम प्रमुख रचनाकार माने जा सकते हैं। परन्तु फिर भी मनोवैज्ञानिकता बहुत स्थूल अर्थ में प्रेमचन्द में प्रयुक्त मिलती है।

सन् ३८ में 'वीणा' में 'तीन अमर कलाकार' नामक एक लेख में मैंने प्रेमचन्द, प्रसाद और शरतचन्द का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। 'प्रेमचन्द समय के लेखक थे, प्रसाद हृदय के'—इस छोटे से सूत्र से मैंने उसमें दोनों के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणों का अन्तर व्यक्त किया था। प्रसाद के दो ही उपन्यास हैं कंकाल और तितली। उनके नाटकों की भाँति इनमें भी सहसा-परिवर्ती घटना-चक्र, पात्रों का नाटकीय राग-विराग, एकसी सम्भाषण-शैली और काव्यात्म प्रकृति-वर्णन पाये जाते हैं। प्रसाद के निकट समस्या एक ही है और वह है मानव का नियति से संघर्ष! दुख मौलिक है, अतः उसकी दशा असम्भव है। सामाजिक वैषमता में प्रसाद व्यक्ति के दुख का कारण-सरणि नहीं खोजते। प्रेम-निराशा, नायिकाओं की अतृप्त लालसा, पात्रों के परस्पर विचारों में पार्थक्य—यही इस दुख का मूल कारण है। अतः समाधान कुछ नहीं है। समाधान बौद्धों की भाँति दुख से समझौता कर लेना है। कहीं-कहीं धर्म-चर्चा भी हो जाती है। परन्तु कहीं भी (सिवा घंटी के) एक भी पात्र ऐसी स्पष्टता से कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इकाई बनकर प्रसाद में सामने नहीं आता कि प्रसाद की शैली के मनो

विज्ञान का कुछ निश्चित स्वरूप बतलाया जा सके। पात्र लेखक के 'मूड्स' में तैरते-उतराते रहते हैं—कहीं वे अत्यधिक प्रसन्न हैं, कहीं अत्यधिक चिन्तित। प्रसाद आधुनिक परिभाषा में बहुत कुछ बरतावबादी मनोवैज्ञानिक की भाँति पात्रों के बाह्यान्तर आदि के विवरणपूर्ण वर्णनों में खो जाते हैं—उनके भीतरी संघर्षों तक जैसे वे धीरज नहीं रख पाते। कतिपय कहानियों में और कामायनी में जैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रसाद में मिलता है वैसा न तो उनके नाटकों में है और न उपन्यासों में ही। प्रसादजी एक उच्चवर्गीय श्रीमान् कला-रसिक की भाँति भाषागत नक्काशी, व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, दर्शन और प्राचीन इतिहास के ही चक्कर में इतने फँसे रहे कि उनका मनोविज्ञान रूढ़, अतएव स्थिर रहा। प्रसाद के उपन्यासों में अन्य चमत्कार हों, परन्तु मनोवैज्ञानिक कोई विशेषता नहीं मिलती।

प्रकृतिवादी (३) उग्र (४) निराला और (५) भगवतीचरण वर्मा—वैसे तो कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि कई उपन्यासकार माध्यमिक काल में हिन्दी में लिखते रहे, पर ऊपर दिये हुए कवियों के नाम उनकी अनोखी शैली के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। उग्र और निराला हरएक ने हिन्दी में आधा दर्जन उपन्यास दिये होंगे। दोजख की आग, बुधुआ की बेटी, चन्द हसीनों के खतूत, जीजीजी—ये उपन्यास मुझे इस समय याद आ रहे हैं। अपनी छलछलाती, पैनी, व्यङ्गपूर्ण शैली में भावनाओं को उभार-उभार कर रखने में उग्रजी लाजवाब हैं। परन्तु उन्होंने समाज के एक ही अंग पर अधिक वार-प्रहार किया है। पाठकों की रुचि वे बखूबी समझते हैं और पात्रों के मानसिक विकास में स्वयं बाधा बनकर नहीं खड़े रहते। अतः उनके कई पात्र अतिभावुक और मानसिक दृष्टि से रुग्ण होने पर भी उनका चित्रण अतिशय स्वाभाविक उन्होंने किया है। परन्तु अन्ततः विचारों में प्राचीन आदर्शों की मर्यादा की रक्षा अनिवार्य मानते रहने के कारण 'जीजीजी' में आधुनिक नारी के प्रति वे असहिष्णु हो उठे हैं। प्रेमचन्द का आदर्श यदि टाल्स्टाय था तो उग्र का आदर्श उन्हीं के शब्दों में महाभारतकार हैं। निराला महाकवि के नाते प्रसिद्ध हैं—उनके उपन्यास उतने सफल नहीं। लिली, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा आदि में अन्तिम कृतियाँ (यदि उन्हें उपन्यास कहा जाय) उत्तम व्यंग-चित्र प्रस्तुत करती हैं। परन्तु कहीं भी पात्र को समग्रता से स्पष्ट रूप से वे सामने नहीं ला पाते। कुछ आधुनिकता का समर्थन उनकी रचनाओं में मिलता है। परन्तु न तो वैसी मनोवैज्ञानिक समस्या-विशेष है—न समाधान की ओर कोई विशेष प्रयत्न। वे अन्तर्द्वंद्व से प्रपीड़ित व्यक्ति की भाँति जल्दी-जल्दी में उपन्यास पूरा कर डालते हैं। नारी उनके निकट देवी है या मा! बिना किसी मानसिक ग्रन्थि के वे मात्र नारी को नहीं सोच पाते। शैली काव्यात्मक होने के कारण कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छटाएँ मिल जाती हैं।

उपर्युक्त दोनों लेखकों से भिन्न 'चित्र-लेखा,' और 'तीन बरस' का लेखक है। चित्र लेखा मुख्यतः समस्या उपन्यास है। पाप और पुण्य, वेश्या और सन्त, संयम और भोग, ज्ञान और आवेग, प्रेम और वासना, धर्म और अधर्म, श्रद्धा और नास्तिकता, स्वामित्व और सेवा, ब्रह्मचर्य और गृहस्थी का पद पद पर संघर्ष इस छोटे से उपन्यास में उपस्थित है। संवादों में बड़ी कुशल तर्क मीमांसा है। परन्तु लेखक का दृष्टिकोण अन्ततः स्पष्ट न होने के कारण अनातोलकी थाया के प्रति जिस सहानुभूति से पाठक का मन बरबस भर आता है, वह चित्रलेखा के प्रति नहीं होता। चित्र लेखा में मनोवैज्ञानिकता लाने का लेखक ने बहुत सुन्दर प्रयत्न किया है—परन्तु वह वाद-विवाद से आगे नहीं बढ़ पाती। वह कथा की वस्तु को अन्दर से भरकर आगे नहीं ठेलती। अतः वह मनोवैज्ञानिकता बहुत ही कृत्रिम, काठ-खुदी सी लगती है। 'तीन बरस' में इससे अधिक चतुराई से मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया गया है। परन्तु फिर भी लेखक एक समाज शास्त्री की भाँति प्रश्नों को उठाकर उन्हें छोड़ देना चाहता है, उनकी तह में पहुँचने की कोशिश नहीं करता। उसका उन प्रश्नों के प्रति रुख एक अहंतापूर्ण कलाकार की तीव्र उपेक्षा का अधिक है बजाय एक मनोवैज्ञानिक के।

अतः 'एक दिन' का गद्यपद्य बहुत गड़बड़ है। परस्पर विरोध में परस्पर विरोध के आनन्द के खातिर ही लेखक उलझता जान पड़ता है और यह मानसिक दशा बहुत स्वस्थ नहीं। जिस नये पन के साथ भैंसा गाड़ी के कवि ने प्रेम संगीत से अपनी कविता को मोड़ा था, वह गद्य में नहीं निवाहा गया।

(६) वृन्दावनलाल वर्मा और (७) राहुल सांकृत्यायन—यद्यपि दोनों व्यक्तियों के रचनाकाल और दृष्टिकोण में करीबन एक पीढ़ी का अन्तर है, फिर भी दोनों को साथ साथ इसलिए लिया है कि दोनों ने ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में दिये हैं जिनकी हिन्दी में बहुत कमी है। वृन्दावनलालजी के 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़-कुण्डार' में प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप से लेखक की मनसा पर जो अतीत के प्रति मोह है वही व्यक्त हुआ है। 'कुण्डली-चक्र', 'लगन', 'कोतवाल की करामात' आदि में कुछ सामाजिक दृष्टि से भी उपन्यास रचना का प्रयत्न वर्माजी ने किया है, परन्तु बावजूद 'विचार-विमर्श' में सद्गुरुशरण जी अवस्थी की लगन की प्रशंसा के और 'हिन्दी के सामाजिक, उपन्यास नामक पुस्तक में पृ० १११ पर वर्माजी को हिन्दी का शरच्चन्द्र कहने के, मुझे तो वृन्दावनलालजी का पात्रों से अधिक घटनाओं को, उनके नाट्यात्मक प्रत्यावर्त्तनों को महत्व देना विशेष रुचा नहीं। ऐतिहासिकता उपन्यास में होने पर भी चरित्र-चित्रण कितना सफलता से हो सकता है यह राखाल बाबू के मूल बँगला 'शशांक' 'करुणा,' 'धर्मपाल' में, पो० ना० शाह की मूल मराठी और हिन्दी में अनूदित 'सम्राट अशोक' और 'छत्रसाल' में, क० मा० मुंशी की मूल गुजराती 'पाटणनी प्रभुता,' 'पृथ्वीवल्लभ', 'लोपामुद्रा' आदि में पाया जाता है। वृन्दावनलालजी अनावश्यक वर्णनों में स्काट की भांति उतरते हैं, और पात्रों के मनोव्यापार गौण हो जाते हैं। फिर पात्रों की चर्चा होती है तो अति भावुकता से। पूरा उपन्यास कई घटनाओं के थेगरों का एक अद्भुत 'पैचवर्क' बन जाता है। प्रसादजी के उपन्यास जिस दोष से असफल हैं, वृन्दावनलालजी के उपन्यासों में भी वही सहसा-परिवर्ती खंड-खंड में विकीर्ण, सामग्री का अभाव पाये जाने वाले पात्र मिलते हैं।

राहुल वृन्दावनलालजी की अपेक्षा इस बात में अधिक कुशल हैं। सिंह 'सेनापति' 'जय यौधेय' यह दो ही उपन्यास ऐतिहासिक भित्ति वाले हैं, 'जीने के लिए' और अन्य 'सोने की ढाल' आदि सामाजिक काल्पनिक हैं—परन्तु सर्वत्र राहुलजी अपने जिस उद्देश्य को लेकर चले हैं—उस दृष्टि से पात्रों को उभारने में सँवारने में उन्होंने कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी है। प्राचीन भारत के विषय में राहुलजी की अपनी धारणाएँ हैं (पुरातत्व और नृसंस्कृति विकास-विज्ञापन के आचार्यों में उस विषय में ऐकमत्य नहीं। परन्तु आदिम सभ्यता की पार्श्वभूमि पर चरित्रों को उठाने में कहीं कहीं राहुल अपने आधुनिक संस्कारों से अभिभूत होकर अनैतिहासिकताएँ कर जाते हैं, प्रचार और कला का मिश्रण उनकी सोद्देश्य रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। अतः पात्रों के मन में शायद ही राहुल जी कहीं गहरे उतरे हैं। वे परिस्थितियों के जाल को बड़ी ही सुदृढ़ परन्तु सूक्ष्म रेखाओं में पात्र के आसपास बुन देते हैं। परिणामतः पात्र उसमें एक ऐतिहासिक अनिवार्यता के तर्क से बढ़ता, चलता है। मानो उस पात्र की परिस्थिति से ऊपर अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा नहीं। वैज्ञानिक भौतिकवाद में राहुलजी का विश्वास अनजान में उनकी उपन्यास कला को घोंटकर, उनमें से तत्त्व-जिज्ञासु के तीव्र पूर्व-ग्रहों को सामने ला रखता है। इतिहास गौण हो जाता है, उस पर लेखक के मंतव्य प्रधान। ऐसी अवस्था में मनोविज्ञान को, पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। राहुल के सभी उपन्यास एक प्रकार से नायिका शून्य हैं। जीवन के कर्म-पक्ष को प्रधानता देने के कारण पात्रों का भावपक्ष कमजोर पड़ जाता है। अभी हिन्दी में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों की आवश्यकता बराबर बनी हुई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाण भट्ट की आत्म कथा' कुछ अंशों में इस अभाव की पूर्ति कर पायेगी ऐसी मुझे आशा है। परन्तु भारतीय इतिहास इतना वृहद् और विशाल है, लेखकों को उससे स्फूर्ति क्यों नहीं मिलती, यह आश्चर्य है।

(८) जैनेन्द्रकुमार और (९) सियारामशरण गुप्त—जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में एक प्रकार से मनोवैज्ञानिकता विशेषतः भारतीय नारी अन्तःकरण का एक बहुत ही सहानुभूति पूर्ण चित्र मिलता है। 'शुतुर्मुर्ग पुराण' के लेखक ने जैनेन्द्र के सभी पात्रों को अतृप्त काम से पीड़ित और अन्य आलंबनों द्वारा रति भाव की पूर्ति करने वाले सिद्ध किया है। नन्ददुलारे वाजपेयी जी भी जैनेन्द्र के पात्रों को अस्वस्थ, अशरीरी, अस्वाभाविक मानते हैं। अज्ञेय ने कल्याणी पर अपना मंतव्य देते हुए उसकी नायिका में 'आत्म-प्रपीडन' भाव परिलक्षित किया है। किन्तु देवराज उपाध्याय और डा० देवराज ने जैनेन्द्र के पात्रों का अधिक सहानुभूति पूर्ण विवेचन किया है। इन सब मतों के होते हुए भी जब जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करनी होगी, तब निस्संशय हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाने का श्रेय उन्हें देना होगा। पात्र भी दो ही चार चुनकर, उनके अन्तर्द्वन्द्वों में पैठने की लेखक की शैली हिन्दी में अपने ढंग की एक है। और उनके बाद के सभी औपन्यासिकों ने कम अधिक प्रमाण में उसे ग्रहण किया है। गांधीवाद में जैनेन्द्रजी की आस्था, उनमें के कलाकार को खा गई यह दृश्य स्पष्ट है। जो उनके पात्र रक्त मांस के थे आरंभिक कथा उपन्यासों में, वे अन्तिम उपन्यासों में आकर अधिकाधिक निराकार, ज्यामिती की आकृतियों की भाँति काल्पनिक और प्रमेयों को सिद्ध करने की सुविधा की दृष्टि से केवल अंकित, जान पड़ने लगे हैं। परिणामतः उनमें का मानवीय अंश कम होता जाकर चिन्तन के प्रतीक मात्र वे बचे रहते हैं। जब लेखक अपनी चिंताधारा को स्पष्ट करने के हेतु पात्र बनाता बिगाड़ता है, तब उसमें मानवीय याथातथ्य, स्वाभाविकता की कसौटी से वास्तववाद को ढूँढ़ना व्यर्थ होगा। कल्याणी पढ़कर मैंने जो पत्र जैनेन्द्रजी को लिखा उसमें उस पत्र के 'एबनार्मल' होने का जिक्र था—जैनेन्द्रजी ने उत्तर में लिखा- 'वैसे आज नार्मल पर कौन है? नार्मल ही कहाँ निश्चित है?' 'सुनीता' और 'त्याग पत्र' में रूढ़ नीति मूल्योंको जोचुनौती है वह मनोविश्लेषण के मोह में पड़कर लेखक ने कल्याणी में आकर जैसे मन्द कर दी है। इस बीच में 'प्रस्तुत प्रश्न' का सभी प्रश्नों को अहिंसा की मारफत से देखना शुरू हो गया है और मनोविज्ञान आध्यात्म की कुहेलिका में अवैज्ञानिक हो गया है। अब जैनेन्द्र कोई उपन्यास कभी लिखेंगे भी बहुत शंका है। उनमें की सृजन-शक्ति अब जैसे दूसरे मार्गों में, उपन्यासकला की दृष्टि से कहें तो 'बहक' गई है। नेता जैनेन्द्र ने कथाकार जैनेन्द्र खो दिया है।

गान्धीवाद के प्रबल संस्कारों के दूसरे उल्लेखनीय औपन्यासिक हैं सियारामशरण गुप्त। उन्होंने कवि की आत्मा पाई है, अतः वे जैनेन्द्र की भाँति दार्शनिकता के फेर में इतने जल्दी खो नहीं जाते। रस की सृष्टि उनके निकट अधिक सार्थ है, बनिस्बत ब्रह्म जिज्ञासा के। परिणामतः उनके दो ही उपन्यास 'देखन में छोटे लगें, घाव करत गम्भीर' हैं। 'नारी' और 'गोद' में एक ग्रामीण स्त्री जमुना की पति-भक्ति का पुत्र में केन्द्रित होना और गोद में दो भाई दयाराम और शोभाराम के भ्रातृ-प्रेम के बीच में पार्वती मातृत्व-भाव का एक परस्पर-बन्धक का काम करना बहुत ही सुन्दर शैली से चित्रित है। जहाँ जैनेन्द्र के पात्रों का मनोवैज्ञानिक निरूपण कुशल सम्वादों द्वारा होता है, वहाँ सियारामजी की रचना में संयमित प्रसंगों का चुनाव, अन्य पात्रों का प्रधान पात्रों से सम्बन्ध तथा स्थल-स्थल पर दी हुई अकारण उपमाओं द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किये गये हैं। जैनेन्द्रजी ने अहिंसा अथवा अनासक्ति को उसके अतिवादी छोर तक एक कठोर तार्किक की भाँति पहुँचाया है। परंतु सियारामजी ने अपने पात्रों को सर्वत्र स्वाभाविकता की मर्यादा में संरक्षित रखा है। अतः कहीं भी वे ग्रामीण आदर्शों को अतिक्रमित नहीं करते। सुनीता के हरिप्रसन्न के सम्मुख विवस्त्र होने या कल्याणी के या बुआ के जीवन के अन्तिम भागों में सामाजिक दृष्टि से अधःपतित होने की जो असाधारण परिस्थिति जैनेन्द्र उपस्थित करते हैं, सियारामजी के उपन्यासों में वैसी स्त्री-समस्या सामने आती ही नहीं। सियारामजी की नारी-सृष्टि वैसी आवेगों से आविष्ट नहीं, और न ही पुरुष-पात्र अन्तर्द्वन्द्वों से

प्रपीड़ित। जैनेन्द्र जहाँ मनोविश्लेषक हैं, सियारामजी रूढ़ समाज मर्यादा में व्यक्ति की मानसिक दुर्बलताओं का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं। अतः संघर्ष जैनेन्द्र का प्रिय विषय है। रुद्ध आत्मा की विद्रोही छटपटाहट, असन्तोष और घुमड़न से उपजी तकलीफ का चित्रण उन्हें कहीं-कहीं दस्तोवहस्की के निकटतम पहुँचा देता है। परन्तु सियारामजी की नारी टाल्स्टाय की अन्ना की भाँति है। उसके भीतर एक दृढ़, अटूट, आस्तिकता है। अतः संघर्ष होता भी है तो भावनाओं के ही बीच में, भाव और बुद्धि, विकार और विचार के बीच में नहीं। दोनों की शैली पर शरद् बाबू का प्रभाव है—चरित्र के प्रति दोनों ही करुणा-कातर हैं—प्रेमचन्द की भाँति चरित्रहीन को किसी भी उपाय से चरित्रपूर्ण सिद्ध करने की चिन्ता में व्यग्र नहीं और न ही उग्र या नागर की भाँति उसके प्रति व्यंग-वितृष्णा से क्रुद्ध या झुँझलाहट से भरे।

(१०) अज्ञेय (११) इलाचन्द्र जोशी—अज्ञेय के 'शेखर' के केवल दो ही भाग अभी प्रकाशित हुए हैं। और पता नहीं—तीसरा भाग क्या और हो। प्रथम भाग से जितना मुझे सन्तोष हुआ था दूसरे भाग से उतनी ही झुँझलाहट। प्रकाशचन्द गुप्त ने 'विशालभारत' में, अमृतराय ने हंस में और नगेन्द्र ने 'साहित्य-सन्देश' में शेखर की विस्तृत सुन्दर आलोचनाएँ लिखी हैं। यहाँ प्रयोजनीय है शेखर के मनोविश्लेषण में लेखक का दृष्टिकोण। स्पष्टतः शेखर जिस परिस्थिति में आत्मालोचन कर रहा है वह साधारण नहीं है। शेखर व्यक्ति भी साधारण नहीं है। वह प्रकाशचन्द्रजी के शब्दों में चाहे 'अनारकिस्ट' हो चाहे इलाचन्द्रजी के शब्दों में घोर अहंवादी या नरोत्तम नागर के शब्दों में यातना का दर्शन प्रचारित करने वाला। हरिप्रसन्न Turned inside out या नगेन्द्र के शब्दों में एक प्रच्छन्न हेतुवादी या नियति विश्वासी—यह निश्चित है कि शेखर एक बहुत ही उत्तम कलाकृति है जिसमें मन की बारीक-बारीक हलचलों के 'स्नैपशाट्स' संगृहीत हैं। एक प्रामाणिक मनोविश्लेषणवेत्ता की भाँति शेखर अपने गत-जीवन की महती प्रेरणाओं का, आवेगपूर्ण क्षणों का, उसके उद्धत, घृणा-विश्वासी एतादृशत्व को उलट देने वाले क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का निर्माण जिन हथौड़ों-छेनियों की चोटों से हुआ है उन सब का रसपूर्ण स्मरण करता है। परन्तु केवल सिंहावलोकन शायद शेखर का अभिलसित नहीं है। उस सिंहावलोकन की ओट में वह एक प्रखर बुद्धिवादी के नाते आत्म-विश्लेषण और साथ ही युगीन संघर्षों का भी दर्शन कराना चाहता है। मैं अपने गत लेख के अन्त में बता चुका हूँ युगीन संघर्षों के दर्शन का दावा ग़लत है। दो भागों के हज़ार-डेढ़ हजार पृष्ठों में एकाध जगह ट्राटस्की स्तालिन तुलना, अमृतसर में भत्त दे' चिल्लाने वाले पंजाबी, आतङ्कवादी आन्दोलन के सेनापति आज़ाद की दूसरे भाग के अन्त में झाँकी, कांग्रेस में 'वलन्टेरी' और जेल—ये कुछ स्थल छोड़ कर बाह्य आर्थिक-राजनैतिक जीवन के उत्थान-पतन का कहीं भी वर्णन नहीं है। सभी पात्र सच्च भद्र-वर्ग के हैं। शायद अत्ती और जेल के पागल को छोड़ कर कहीं भी सर्वसाधारण निम्न स्तर की जनता या जीवन का उल्लेख नहीं है। फलतः सभी पात्र एक प्रकार के 'शोसलवैक्यूम' में तैरते रहते हैं। एक स्थल पर शेखर अवश्य कुछ जीवन-संघर्ष में पड़ा हुआ दिखाई देता है, परन्तु वह बहुत थोड़े से समय के लिए। परिणामतः शेखर के मन के जो कुछ भी संघर्ष या द्वन्द्व हैं वे शेखर के अपने असामान्य होने के कारण असामान्य प्रश्न हैं—सर्वसाधारण के नहीं हैं। मैंने 'स्वतन्त्र' साप्ताहिक (झाँसी) में एक लेख 'उपन्यासों के वे क्रान्तिकारक नायक' शीर्षक से (२ मई १९४३) लिखा था जिसमें शरद् बाबू के 'श्रीकान्त' के इन्द्रनाथ, 'पथ के दावेदार' के डा० सव्यसाची, रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय' के अतीन, 'घरबाहर' के सन्दीप, वि० स० खाँडेकर की 'उल्का' के चन्द्रकान्त, जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न, यशपाल के दादा कामरेड और अज्ञेय की शेखर की एक परिहासमय काल्पनिक संवाद के रूप में नारी-प्रेम, क्रान्ति, देश-प्रेम और मृत्यु के सम्बन्ध में इन विभिन्न पात्रों के विचारों को उपस्थित किया था। मेरा निष्कर्ष था कि शेखर बहुत कुछ असामाजिक है और इस कारण से वह क्रान्ति-नेता नहीं बन सकता।

इलाचन्द्र जोशी के 'घृणामयी' में 'सरस्वती' में धारावाहिक चलने वाले 'निर्वासित' तक के उपन्यासों में अज्ञेय की ही भाँति एक व्यक्तिवादी कलाकार के दर्शन होते हैं। अज्ञेय यदि फ्रायड की धारणाओं से अधिक प्रभावित हैं तो इलाचन्द्रजी युग के (देखिये विजनवती की भूमिका और साहित्य-सर्जना में शरच्चन्द्र पर लेख) युग भारतीय अध्यात्मवादियों के बहुत निकट आता है चूँकि वह एक रहस्यात्मक चिर-उपस्थित सर्वान्तरात्मा में विश्वास करता है। परन्तु 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में लेखक का मौन विकृतियों पर अटकना पुनः उसी असामाजिकता में लेखक को डाल देता है, जिसका एक रूप अज्ञेय में है। सन्यासी इस दृष्टि से इलाचन्द्र का सब से सफल उपन्यास है। सारी शैली की कुछ अस्वाभाविकता छोड़ कर उसमें लेखक अपने प्रतिपाद्य के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत सचेष्ट और जागरूक है। यदि अज्ञेय उद्धत अहं के चित्रण में सफल हैं तो इलाचन्द्र आहत अहंशून्यता के। उनके पात्र हीन-ग्रन्थि से पीड़ित हैं। अतः वे कई स्थलों पर अनावश्यक कड़ेपन और अनास्था व्यक्त करते चलते हैं—जो कि आधुनिक युग का एक अवश्यम्भावी अभिशाप है। क्या ही अच्छा होता यदि ये पात्र अपनी झुँझलाहट कुछ व्यापक सामाजिकता पर भी उँडेल देते।

राष्ट्र-कवि माखनलाल जी चतुर्वेदी

श्री 'दिनकर'

[पं माखनलाल चतुर्वेदी हमारे प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं। 'हिम किरीटिनी' उनकी पुस्तकों में प्रमुख है। विहार के प्रमुख कवि दिनकर द्वारा श्रद्धाञ्जलि रूप से समर्पित इस पुस्तक की आलोचना, जो सहयोगी योगी में वलिशाला ही तो मधुशाला शीर्षक में प्रकाशित हुई है, हम पाठकों के लाभार्थ उद्धृत कर रहे हैं। लेखक का कथन है कि माखनलाल जी की प्रत्येक मनोदशा में वलिदान की मधुरता किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान रहती है। यही इस लेख का मूल स्वर है। —सम्पादक]

पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु साहित्य में उनके व्यक्तित्व के ये चार गुण अलग-अलग प्रतिविम्बित नहीं होते; साधना की आग में पिघल कर सभी एकाकार हो जाते हैं। उनकी कवितायें उनके इन चार रूपों की मिश्रित व्यञ्जना हैं। भक्त और प्रेमी साधारणतः योद्धा और क्रान्तिकारी से कुछ भिन्न होते हैं; किन्तु जब हृदय और आत्मा ने माखनलाल जी को कवि बनने को मजबूर कर दिया, तब शरीर और विचार ने भी कवि के सामने अपने माथे टेक दिए और चारों धारायें मिल कर एक ही प्रभाव में बहने लगीं।

कभी कभी यह कहा जा सकता है कि कविता माखनलालजी के जीवन का कोई प्रमुख अङ्ग नहीं, वरन् उनकी अलस-लीला-भूमि है। इस कथन से यह व्यञ्जित होना चाहिये कि कविताएं वह मनोविनोद के लिए रचते हैं, दरअसल, जीवन का लक्ष्य कुछ और है। लेकिन, उनकी कविताओं में से जो सत्य ध्वनित होता है, वह इस कथन के सर्वथा विपरीत है। उनके व्यक्तित्व के सभी अंग परस्पर मीलित और एकाकार हैं तथा उनमें से एक की समस्या सभी की समस्या और एक का निदान सभी का निदान है। उनके भीतर के योद्धा, विचारक, प्रेमी और भक्त, सब के सब एक ही लक्ष्य की ओर चलते हैं और कविता के द्वारा चतुर्वेदी जी ने आत्म-विकास की

जो सीढ़ियां बनाई हैं उनमें से प्रत्येक पर इन सभी यात्रियों के पद-चिन्ह हैं। उनके जीवन में साधना और सिद्ध, ज्ञान और कर्म तथा शरीर और आत्मा में भिन्नता नहीं है। ऐसा नहीं है कि आत्मा उन्होंने भगवान को और शरीर स्वदेश को दिया है। देश-भक्ति उनके लिए परोपकार का प्रतिमान नहीं, आत्म-विकास का ही माध्यम है। इसी प्रकार उपासना उनके लिए केवल आत्मा का ही धन नहीं, शरीर की सम्पत्ति है। शरीर और मन एवं अस्तित्व के सारे उपकरणों को उन्होंने एक ही आराध्य के चरणों पर न्यौछावर कर दिया है। वही आराध्य उनकी मन की दुनियां वृन्दावन का गोपेश एवं चर्मचक्षु के सामने 'हिम-किरीटिनी' का मानचित्र बन जाता है। गीतों में विनय और मनुहार से वह जिसे रिझाना चाहते हैं, कारावास और शूली की तपस्या से भी उसे ही प्रसन्न करना उनका ध्येय है। माखनलाल जी की कविताओं में शासन के प्रति आक्रोश के भाव नहीं हैं। इसका प्रधान कारण यह नहीं है कि अहिंसा उनकी कलम को रोक देती है प्रत्युत् यह कि दमनजनित कष्टों को उन्होंने प्रियतम के मार्ग की कठिनाइयां समझ कर बड़े ही प्रेम से अंगीकार कर लिया है। कर्म का जो क्षेत्र युग के हाथों उन्हें उपलब्ध हुआ, उसी में तपस्या करके वह आराध्य की ओर बढ़ना चाहते हैं। दमनजनित कष्टों को वह अपने लिए हेय नहीं समझते। उनकी दृष्टि से शूली में एक अनिर्वचनीय स्वाद तथा मरणज्वार में मोहकता और लावलापन है। स्वयं मरण भी एक त्यौहार है क्योंकि इससे बलिदान की पूर्णता व्यंजित होती है और बलि के पूर्ण होने से आराध्य प्रसन्न होता है। माखनलाल जी की कविताओं में दमनजनित यातनायें विकास की सीढ़ियां, आत्मा की दीप्ति और धर्म का उपकरण बन कर उपस्थित हुई हैं। राष्ट्र-सेवा और आराध्योपासना, एक ही लक्ष्य की ओर जाने वाली ज्योति की दो पगडण्डियां हैं; प्रत्युत यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि कवि के शब्द-कोष में ये एक ही साधना मार्ग के दो विभिन्न नाम हैं। देश के लिए शूली पर चढ़ने वाला उनकी कल्पना का तपस्वी अपने प्राण विसर्जित करते हुए शायद यह कहेगा कि 'देवता! यह लो मेरी पूर्णाहुति और मुझे स्वीकार करो।'' इसी प्रकार उनकी कल्पना का योगी ध्यानस्थ होने पर शायद यह कहेगा कि "प्रभो, मेरी वैयक्तिक मुक्ति किस काम की यदि मेरा प्यारा देश मुक्त नहीं हुआ?'

उनकी कल्पना को एक कली (जो कवि के राष्ट्र-सेवा-निरत व्यक्तित्व की ही प्रतिमूर्त्ति है) कहती हैं—

मैं बलि का गान सुनाती हूँ
प्रभु के पथ का बनकर फकीर
मां पर हँस हँस बलि होने में
खिंच, हरी रहे मेरी लकीर

यह मातृ-भूमि के लिए मस्तक चढ़ाने वाले एक योद्धा का उद्गार है, जो देश के लिए बलिदान होने को ही प्रभु की आराधना का सच्चा मार्ग मानता है। जन्मदात्री के ऋण से मुक्त होने के लिए समय की मांग पर अपना अस्तित्व मिटा देने में ही तपस्या की पूर्णता तथा आराध्य की राह की सच्ची फकीरी है।

यह योद्धा—माखनलाल का बलिदान है, जिससे भक्त-माखनलाल की फकीरी पनपती है। लेकिन कभी ऐसा भी होता है जब भक्त-माखनलाल ही योद्धा माखनलाल पर न्यौछावर हो जाते हैं—

उठा दो वे चारों कर-कंज
देश को लो छिगनी पर तान
और मैं करने को चल पड़ूं
तुम्हारी युगल-मूर्ति का ध्यान।

महात्मा तुलसीदासजी को राम का वह रूप प्रिय था जिसमें वह धनुष और बाण धारण किये हुए हों। माखनलालजी श्याम के उस रूप के उपासक हैं, जिसमें वह कवि के प्यारे देश को हाथों हाथ लिए हों। एक ओर तो वह बलिपन्थी को 'ही-तल में हरि को बन्द कर के'' केहरि को ललकारने का आदेश देते हैं, दूसरी ओर स्वयं हरि से बलिपन्थियों के देश को छिगुनी पर तान लेने का आग्रह करते हैं। उनके भीतर का योद्धा, भक्त और भक्त-योद्धा है। वह बलिदान का पुष्प आराध्य के चरणों पर बिखेरते हैं और साथ ही बलिदान में भाग लेने के लिए उसे निमन्त्रण भी देते हैं।

माखनलालजी का हृदय सूफी कवियों के समान प्रेम विह्वल और कातर है। उनमें सूफियों की आकुलता, तड़प और विदग्धता का अतिरेक है। भेद इतना ही है कि जहाँ सूफियों की वेदना का आधार परमात्मा से काल्पनिक विरह की अनुभूति थी, वहाँ माखनलाल जी की वेदना जीवन की वास्तविकता से उत्पन्न हुई है। सूफियों का दर्द खयाली था, सच्चाई उसे मनुष्य की विह्वलता से मिली थी। माखन लाल जी का दर्द सच्चा है, विह्वलता उसे सिर्फ सुन्दर बनाती है। सूफियों की वेदना, शून्य में जन्मी थी और मिट्टी पर आकर सत्य हुई। माखनलालजी की वेदना मिट्टी से जन्मी है, आकाश उसे केवल अलौकिकता प्रदान करता है। सूफियों की वेदना निराकार से साकार हुई। माखनलाल जी का दर्द साकार से उत्पन्न होकर निराकार में जाकर दिव्य हो गया। सच्चाई कल्पना की अपेक्षा अधिक प्रभविष्णु होती है। यही कारण है कि माखनलालजी की चीख सूफियों की चीख की अपेक्षा अधिक वेधक एवं करुण है। किसी अज्ञात सत्ता से वियोग की कल्पना के कारण जो अश्रु निकलते हैं, उनमें उन आंसुओं की अपेक्षा तड़प और अकुलाहट की मात्रा अवश्य ही न्यून होगी, जो नंगी पीठ पर बेंतों के प्रहारों के कारण बहते हैं। खयाली आग में जल कर चीखने वाले हृदय की आह उस आह की बराबरी नहीं कर सकती, जो दमन की प्रत्यक्ष ज्वाला में पड़ कर तड़पने वाले हृदय से निकलती है। दमन-जनित यातनाओं को माखनलालजी ने आराध्य के वरदान के रूप में अङ्गीकार किया और उन्हें अपनी शुद्धि का मार्ग भी मान लिया। इसी यातना में उनका विरह बजता है, उनकी आध्यात्मिक वेदना बोलती है तथा उनका भक्ति-विह्वल हृदय पुण्य स्नान करता है।

ये यातनाएँ उनकी कविताओं में अत्यन्त लुभावनी और सरस होकर व्यंजित हुई हैं। उनका रस काव्य से अधिक मधुर, रमणी से अधिक मोहक, सुधा से अधिक सरस तथा यज्ञ से भी अधिक पवित्र है। इस रस में योद्धा का तेज, भक्त की विह्वलता, प्रेमी के अश्रु और कवि की साधना, सभी मिले हुए हैं। यह रस सभी रसों का सार है। जिसने इसे चक्खा उसने सभी रस चख लिए। जो इससे वंचित रहा, उसे किसी भी रस का स्वाद नसीब नहीं हुआ।

> मत बोलो बेरस की बातें
> रस उसका जिसकी तरुणाई
> रस उसका जिसने सिर सौंपा
> आग लपेट, भभूत रमायी
> जिस रस में कीड़े पड़ते हों
> उस रस में विष हँस हँस डाले।
> आओ गले लगो ऐ साजन,
> रेतो तीर कमान संभालो।

पराधीन राष्ट्र के प्रत्येक प्रश्न का निदान बलिदान में है। जो देश को स्वाधीन देखना चाहता हो, वह देश के लिए अपना जीवन न्यौछावर करे; जिसे जन्म-बन्ध से मुक्ति की अभिलाषा हो, वह देश के लिए यातनाएँ सहे; जिसे सरसता का स्वाद लेना हो, वह तरुणाई अर्थात् बलिदान सीखे, यातनाओं को स्वीकार करना इस युग की सब से बड़ी तपस्या है। रस उसका जिसने सिर सौंपा; जिसने मस्तक उत्सर्ग करने में आनाकानी की, उसे रस की प्राप्ति कहाँ से होगी?

बलिदान की रसमयी उत्तेजना, बलिदानी की मनोभूमि का आध्यात्मिक अन्वेषण, बलिदान की पूर्णता पर विजयोल्लास, बलिदान को कृष्णार्पण की वस्तु समझना और अपरिग्रह तथा त्याग की महिमा की आध्यात्मिक टीका, माखनलालजी की कविता में ये स्वर बार-बार गूँजते हैं। प्रेम हो या अध्यात्म, प्रकृति दर्शन हो अथवा कल्पना का लीला-विलास, माखनलालजी की प्रत्येक मनोदशा में बलिदान की मधुरता किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। केवल विद्यमान ही नहीं रहती, प्रत्युत वर्ण्य विषय में अलौकिक तेज एवं माधुर्य की सृष्टि कर देती है। देश के लिए यातना सहन की प्रक्रिया उनकी दृष्टि में धर्म का सबसे उज्ज्वल रूप है। इसे वह कहीं भी नहीं भूल सकते। प्रकृति की सुन्दरताओं को देखते-देखते उन्हें बेड़ियों में बँधे अपने स्वदेश-मन्दिर की याद आती है, बाँसुरी बजाते-बजाते उन्हें रण-डंका बजाने की चाह होती है। गान आरम्भ करने के साथ ही उनमें आक्रोश जग पड़ता है और वह स्वर से नभोवितान को कम्पा देता

चाहता है, तब वह यह कह कर उसकी वर्जना करते हैं कि वह किसी अन्य देवता पर पहले ही चढ़ चुके हैं। प्रेमिका जब उन्हें वरण करने को आती है, तब वह मील का पत्थर बन जाते हैं और यह व्यंजित करते हैं कि उनका हृदय वहाँ अन्यत्र अर्पित हो चुका है। पूजा के लिए समुद्यत होने पर उनके मुँह से अनायास ही निकल पड़ता है—

"जब निसदिन अलख जगाता हूँ
तब नई प्रार्थना क्या होगी ?"

और वह पूजा के आडम्बर को छोड़ कर उठ जाते हैं। यह सच भी है, क्योंकि जिसका सारा जीवन ही कृष्णार्पण का रूपक हो, वह घड़ी दो घड़ी में विशिष्ट प्रकार की पूजा क्यों करे ? आँसुओं का उद्‌गम सोचते हुए वह कहने लगते हैं—

छूटा हुआ बाण हूँ क्या मैं ?
धार मोथरी सी जानी
धन्वा पर चढ़ने से पहले
चढ़ा रही उस पर पानी।

तथा आराध्य की 'खोज' में जब वह अध्यात्म की भूमि में प्रवेश करते हैं, तब भी बलिदान और वीरता उन्हें नहीं भूलती:—

बलि के कम्पन में जो आती
भटकी हुई मिठास
यौवन के बाजीगर, करता हूँ
उस पर विश्वास।
× × ×
हिन्द महासागर देने को
राजी हुआ न द्वार
लाता हूँ वे घड़ियाँ होवे
बड़ा काफिला पार।

जिन अवस्थाओं की राजनीतज्ञ-कृत अनुभूतियों से राजनीति के नीरस सिद्धाँत निकलते हैं, उन्हीं अवस्थाओं की कविकृत अनुभूतियों से रसमयी कविता का जन्म होता है। माखनलाल जी की रचनाएं इस कथन का ज्वलन्त प्रमाण हैं। राजनीति साहित्य की द्रोही नहीं, उसके पास ही बहने वाली एक भिन्न धारा है। जब वह साहित्य की धारा से आकर मिलती है, उसका अपना रूप विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं प्रत्युत साहित्य की झोली की एक मुट्ठी स्वर्णधूलि राजनीति के सारे वेश को रंग देती है और वह साहित्य की संगति में कुछ से कुछ बन जाती है। माखनलाल जी को राजनीति से प्रेम है। कहने को तो एक बार उन्होंने यहाँ तक कह डाला था कि,

सखे बतादे कैसे गाऊँ
अमृत मौत के दामन हो,
जगे एशिया, हिले विश्व,
औरराजनीतिकानामनहो।

किन्तु सच पूछिए तो राजनीति के क्षेत्र में उनका प्रवेश साधक के रूप में हुआ—ऐसे साधक के रूप में जिसे आत्म विकास के लिए एक ऐसा क्षेत्र चाहिए था, जिसे हृदय श्रद्धापूर्वक सहज ही स्वीकार कर ले और राजनीति के सिवा कोई दूसरी शक्ति उन्हें यह क्षेत्र नहीं दे सकती थी। कवि के मुख से 'अमृत' विशेषण पाकर भी राजनीति कभी यह दावा नहीं कर सकती कि उसने माखनलालजी से अपना प्रचार करवाया है। राजनीति उनके मस्तक पर नहीं चढ़ी, उनके हृदय में प्रविष्टि होकर कविता की विशाल जलराशि में डूब कर खोई गई। समुद्र कवि का हृदय है, राजनीति उसमें लवण की भाँति विलीन है; लहराती कविता राजनीति का अस्तित्व अब शेष कहाँ कि अपनी कोई अलग तरंग फेंके; जिसकी गन्ध से हम प्रमुदित और प्रमत्त हैं वह स्पष्ट ही साहित्य का फूल है, राजनीति तो पौधे की जड़ के नीचे मिट्टी में गल कर कब की विलीन होगई। माखनलालजी जीवन के सभी उपकरणों को लेकर कविता की राह से अध्यात्म की ओर जा रहे हैं; उनके सम्बल के वृत्त में गान्धी भी हैं और श्रीकृष्ण भी; देशोद्धार की प्रेरणा भी है और आत्मविकास की कामना भी; शृंगार की सरसता भी है और संयम की रुक्षता भी। तन मन, मिट्टी और आत्मा, सभी उनके साथ हैं। वास्तविकता के प्रत्येक उपकरण का सूक्ष्म तत्व एवं सभी तत्वों की रसमयी चेतना अपने पर खोल कर साहित्य के लीलाकाश में उन्हें

भली भाँति सम्भाले हुए हैं। वर्तमान साहित्य में वास्तविकता के सिन्धु-मन्थन से आदर्श की सृष्टि कर, उनकी कविताएँ एक ही उदाहरण हैं और हिन्दी को अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि उनके अङ्क में समस्त कविमंडली से भिन्न एक ऐसा स्रष्टा भी विद्यमान है।

आज से कोई पच्चीस वर्ष पूर्व जब 'प्रताप' में भारतीय आत्मा की 'तिलक' शीर्षक कविता छपी थी तब मैं कोई दस-बारह साल का था। किन्तु, मुझे भली भाँति याद है कि वह कविता मुझे अत्यन्त पसन्द आई थी और मैंने उसे कण्ठस्थ करके बहुत लोगों को सुनाया भी था। आगे चल कर मेरी मनोदशा के निर्माण में उस तथा भारतीय आत्मा की अन्य कविताओं ने बहुत ही प्रभाव डाला। मैं उनकी कविताओं को बड़े ही चाव से पढ़ता तथा अपने सहपाठियों को सुनाता था। किन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया, मेरे लिए उनकी कवितायें अधिक आकर्षक और साथ-साथ अधिक कठिन भी होती गईं। ऐसा लगता कि जैसे जैसे छायावाद का युग समीप आता गया, वैसे-वैसे माखनलालजी की वाणी अधिक गम्भीर तथा धूमिल होती गई। छायावाद की कुहेलिका का आरम्भ सबसे पहले उन्हीं की रचनाओं में हुआ था और शायद उसका सर्वाधिक गहन रूप भी उन्हीं को कुछ रचनाओं में विद्यमान है। बहुत अंशों में वह छायावाद के अग्रदूत थे। द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मकता को भेद कर सन् १९१३ ई० अथवा उसके पूर्व से ही वह हिन्दी के वक्षस्थल पर नई अभिव्यञ्जना की सुरम्य रेखायें खींचने लग गये थे, जो इस बात का स्पष्ट संकेत दे रही थीं कि हिन्दी कविता में अभिव्यंजना की कोई नई एवं बलवती शैली जन्म लेने जा रही है। अधिकाधिक सौन्दर्य सृष्टि के प्रयास में जन्म लेने वाली दुरूहता अगर छायावाद की कोई विशिष्टता थी, तो इसका आत्यन्तिक विकास माखनलालजी में हुआ। इस दृष्टि से वह चाहे छायावादी धारा के सब से बड़े प्रतिनिधि कलाकार भले ही न मान लिए जायं, किन्तु, दुरूहता को प्रश्रय देने का दायित्व उनके साथ रहेगा।

कोई कोई विद्वान्, कविता को वक्रोक्ति का पर्याय मानते हैं, जो बहुत अंशों में सही और दुरुस्त है। वक्रोक्ति ही कविता का वह प्रमुख गुण है जो उसे गद्य से भिन्न करता है। काव्य में कला का विकास अन्ततः वक्रोक्ति का ही विकास है। कला अथवा वक्रोक्ति जब अपने चरम विकास पर पहुँचती है, तब काव्य का रहस्य गद्योद्घाटनपटु उंगलियों से नहीं खुलता। माखनलालजी की कितनी ही कविताओं में वक्रोक्ति अपने चरम विकास पर पहुँची हुई मिलती है जहाँ अप्रतम सौन्दर्य पर रीझा हुआ रसग्राही हृदय तप करते करते हार जाता है, किन्तु सौन्दर्य का रहस्य-द्वार नहीं खोल पाता। उनकी कितनी रचनायें आलोचना को विकल और परास्त कर देती हैं। सामने जगमगाते हुए ताराओं को तो हम देखते हैं, किन्तु उसके पीछे की कुहेलिका को भेद नहीं पाते। भाषा सरल, कहने का ढंग अत्यन्त आकर्षक और चित्रों में तेज का अप्रतिम निखार सभी गुण एक से एक बढ़ कर हैं। किन्तु अक्सर ही पंक्तियाँ अपनी मस्ती में लहराती हुई हमारी ओर मुखातिब हुए बिना आगे बढ़ जाती हैं। कवि हमारे हाथों में भाव का छोर थमा कर स्वयं न जाने किस कुंज में अन्तर्धान हो जाता है। उसकी वाणी मधुर तो लगती है, किंतु यह समझ में नहीं आता कि वह किस आवेग पर चढ़ कर नृत्य कर रही है। ऐसे स्थलों पर उनकी कविताएं नेपथ्य की आवाज बन जाती हैं और उनका इतना ही महत्व मान कर पाठकों को सन्तोष कर लेना पड़ता है। कहीं-कहीं पूर्वापर सम्बन्ध का पता नहीं पाने के कारण पाठक अपनी ही विद्या-बुद्धि पर सन्देह करने लगता है किन्तु, तब भी सौन्दर्य की इस अबूझ पहेली को छोड़ नहीं सकता। जहाँ मूल-भाव अविश्लिष्ट रह जाते हैं, वहाँ वह स्फुट चित्रों पर ही सन्तोष कर लेता है। किन्तु हृदय में एक अतृप्ति बनी रह जाती है कि जानें इन चित्रों के पीछे किस मनोरम विषय की पृष्ठभूमि रही होगी। कहीं तो ऐसा मालूम होता है कि धरती की ही कोई चीज बहुत दूर आकाश में उछाल दी गई है; और कहीं ऐसा भासित होता है कि कल्पना उस लोक में विहार कर रही है, जहाँ के हू-बहू चित्र उठा लेने में तूलिका असमर्थ है।

अस्पष्टता और धुंधलेपन का कुछ कारण यह भी है कि माखनलालजी की कल्पना प्रायः रहस्यवाद की सीमा-

भूमि पर विचरण करती है। एक तो भक्त होने के कारण रहस्य लोक से उनका सहज-सम्बंध है ही। दूसरे, शैली से वह प्रथम कोटि के व्यक्तिवादी हैं। अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों से आत्म-कथा की रचना करने वाले हिन्दी में और भी कई श्रेष्ठ कवि विद्यमान हैं, किन्तु माखनलालजी की यह भी एक प्रचण्ड विशेषता है कि वह समूह की भावनाओं को भी वैयक्तिक अनुभूति का रूप दे व्यंजित करते हैं। राष्ट्र की वेदना उनके मुख से निजी वेदना के रूप में प्रकट होती है तथा उसमें वही माधुर्य विदग्धता एवं अस्पष्टता विद्यमान रहता है, जो प्रधानतः आत्म-कथाओं के गुण हैं। स्थूल जगत की भी जो तस्वीर वह उठाते हैं, संसार को उसका दर्शन उनके स्वप्नों के आवरण में ही हो कर मिलता है। दमन की यातनाओं के बीच जब वह चीखते हैं, तब उसकी चीख को हम सीधे नहीं सुन पाते, वरन् हमें तो आराध्य–मंदिर से टकरा कर लौटने वाली उनकी प्रतिध्वनि ही सुनाई पड़ती है।

माखनलाल जी की ऐसी रचनायें बहुत थोड़ी हैं, जिनकी विहार भूमि आदि से लेकर अन्त तक एक ही भाव लोक में हो। आसक्ति से आरम्भ कर के वह बलिदान में अन्त करते हैं और आक्रोश से चल कर करुणा में विश्राम लेते हैं। यह भी सम्भव है कि एक ही स्थल पर प्रेम, बलिदान, करुणा और आक्रोश के सिवा कितने ही अन्य-अप्रत्याशित भाव भी एकत्र मिल जायँ। किन्तु, सब के सब कविता के एक ही आनन्द सूत्र में ग्रथित रह कर काव्य का चमत्कार उत्पन्न करते हैं, जो प्रायः आलोचकों के लिए अनिर्वचनीय रह जाता है। अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों के समन्वय से उनकी कवितायें दुर्बोध भी हुई हैं तथा सुन्दर और समर्थ भी।

'हिमकिरीटिनी' की भूमिका में माखनलालजी ने कहा है—'दृष्टि का काम बाहर को भी देखना है और भीतर को भी' तथा 'अपने परम अस्तित्व तक ऊँचे उठ कर रह सकना, मुक्ति है।' और सत्य ही मिट्टी के सारे आवेगों को समेट कर वह सदैव अपने परम अस्तित्व की ओर उड़ना चाहते हैं। अध्यात्म तो धरती से दूर है ही, उसकी देश-भक्ति भी स्थूलता छोड़ कर बाह्य-जीवन से उठ कर मानस-जगत में चली जाती है और वहाँ पहुँच कर अध्यात्म के आकाश का एक अङ्ग बन जाती है।

घड़ियाँ जल-जल कर बनती
प्रियतम-पथ की फुल-झरियाँ
चढ़ते हैं एकान्त और
उन्माद स्वयं बन लड़ियाँ
आज पुतलियों ने फिर खोजा
चित्रकार का द्वार
जीवन के कृष्णार्पण की
नीवें फिर कर उठीं पुकार।

अथवा

मार डालना किन्तु, क्षेत्र में
जरा खड़ा रह लेने दो,
अपनी बीती इन चरणों में
थोड़ी-सी कह लेने दो,
कुटिल कटाक्ष कुसुम सम होंगे
यह प्रहार गौरव होगा
पद-पद्मों से दूर स्वर्ग भी
जीवन का रौरव होगा

दृष्टि का काम बाहर को देखना भी है और भीतर को भी, जब वह बाहर को देखती है, तब रचनाओं पर समय के पैरों के निशान पड़े बिना नहीं रहते। जब वह भीतर को देखती है, तब मनोभावनाओं की सतह ऐसी हो जिसमें अगणितों का उल्लास और उनकी भावना प्रतिबिम्बित हो उठी हो, और जिनकी कहानी अपने अवतरण में, दुहराहटों के दान से बची रह सकी हो?

—हिमकिरीटिनी की भूमिका से

नगेन्द्र जी की नवीन आलोचना-कृति

विचार और अनुभूति

प्रो० नागरमल सहल, एम. ए.

'The Corruption of a poet is the generation of a critic' ड्रायडन (drydin) के इस कथन में चाहे अतिरंजना से काम लिया गया हो, परन्तु यह निश्चित है कि श्रेष्ठ काव्य और श्रेष्ठ आलोचना का युग प्राय: एक कभी नहीं हो सकता।

हिन्दी के स्वर्ण-युग भक्ति-काल में कविता का ही प्राधान्य रहा, आलोचना का नहीं। भाषा का विश्लेषण करने वाला व्याकरण जैसे भाषा के प्रौढ़ विकास के पश्चात् ही स्थिर किया जा सकता है, उसी प्रकार मार्मिक भाव प्रेषक भावक को जन्म देने वाला भी कवि ही होता है। कवि प्रत्यक्ष जीवन की आलोचना करता है। मनोवेगों के आधार पर चाहे वह जीवन भौतिक न रह कर परिणामत: मानसिक ही अधिक बन जाता हो पर आलोचक सीधे जीवन को नहीं देखता। कम से कम आलोचक के रूप में क्योंकि उसका धर्म है कवि का मर्म समझना।

आधुनिक आलोचना का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-काल में ही होता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक साहित्य की प्रारम्भिक आलोचना चलना सीखने वाले बच्चे की तरह विश्रृंखलित और लड़खड़ाता हुआ प्रयत्नमात्र होती है। विकास-काल की दूसरी सीढ़ी पर नियमों में बँध कर चलने की प्रवृत्ति होती है। आखिर नियमों से तंग आकर उनको तोड़ फेंकने की प्रेरणा होती है। इस तीसरी सीढ़ी पर प्रारम्भ में आनन्द के आधार पर अबद्ध आलोचना होती है। यद्यपि समय पाकर यह उन्मुक्त स्वतन्त्रता भी नये बन्धनों का कारण बन जाती है। अंग्रेजी साहित्य में एलिजाबेथ-कालीन प्रयत्नशील आलोचना, पोपकालीन रूढ़िबद्ध आलोचना तथा कालरिज प्रभावित नव्यालोचना उपर्युक्त सोपानत्रय के क्रमिक निदर्शन हैं। देश और साहित्य की आलोचना में ही यह क्रम नहीं रहता। स्वयं आलोचक की आलोचना में यही क्रम लक्षित होता है। श्रीनगेन्द्र भी इसके अपवाद नहीं। 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेत : एक अध्ययन' प्रथम और द्वितीय काल की परिचायक आलोचना पुस्तकें हैं। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' तथा 'विचार और अनुभूति' द्वितीय और तृतीय काल की। ऐसा प्रतीत होता है जैसे नगेन्द्रजी प्राथमिक काल के आलोचक के रूप में विशेष रूप से हमारे सामने आये ही नहीं। नगेन्द्रजी की आलोचनाओं में क्रमशः विकास हुआ है। अब तक की उनकी आलोचनाओं में उनका चरम विकास 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक में देखने को मिलेगा जिसमें काव्यालोचन के साथ-साथ कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की भी समीचीन और युक्तियुक्त व्याख्या है।

आर्थिक विषमताओं तथा जीवन की अन्य अनेक बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण आज का मानव भावुक कम, बौद्धिक अधिक हो गया है। दर्शन और नीति-शास्त्र में उसकी इतनी रुचि नहीं, जितनी बुद्धिपरक विशेषत: मनोविश्लेषणात्मक नूतन मनोविज्ञान में। आलोचना के लिए यह बुरा नहीं, पर विशिष्ट वादों के आधार पर बिना हृदय तथा बुद्धि के पूर्ण संयोग के रची गई कविता और आलोचना दोनों ही बिगड़ जाती हैं।

नगेन्द्रजी की आलोचनाओं का आधार अंग्रेजी अधिक, संस्कृत कम है—यद्यपि संस्कृत की उपेक्षा नहीं। दोनों के समन्वय की चेष्टा भी स्पष्ट है जिसके पथ-प्रदर्शन का श्रेय आचार्य शुक्लजी को है। 'आलोचना की आलोचना' शीर्षक लेख में नगेन्द्रजी लिखते हैं—शास्त्रीय आलोचना-पद्धति के प्रतिनिधि हैं पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, प्रो० रामकुमार वर्मा, श्री सत्येन्द्र और प्रो० शिलीमुख। हम वाक्य को पूरा करने के लिए आगे कह सकते हैं—और प्रो० नगेन्द्र।

प्रभाववादी अथवा अभिव्यञ्जनावादी आलोचना नगेन्द्रजी में कम है। शायद अध्यापक होने के कारण भी उनकी आलोचनाओं में लेख के अन्त में निष्कर्ष निकाल कर रखने की प्रवृत्ति है—अध्यापक की भाँति पाठक को विद्यार्थी की तरह जैसे वे सारांश (notes) लिखा रहे हों। पाठक पर शायद उनको इतना भरोसा नहीं कि वह निष्कर्ष स्वयं निकाल लेगा। अपने युग के महान् आलोचक लांजाइनस (Longinus) ने आलोचक से Thiought passion दो बातों की आशा की थी। नगेन्द्रजी ने शायद इसी को ध्यान में रख कर पुस्तक का नाम 'विचार और अनुभूति' रखा। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि विकासशील नगेन्द्र की आलोचनाओं में दोनों का सम्यक् पुट है। समालोचना को 'भावुकता की कीड़ा' नगेन्द्र भी नहीं समझते यद्यपि 'यौवन के द्वार पर' आदि लेखों में कहीं-कहीं उनकी छेड़ने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। साधारणतः ये किसी सर्वकीलान रूढ़ि में विश्वास नहीं करते पर शुक्लजी की तरह रस, भाव, विभावादि का विवेचन पाश्चात्य शैली को अपनाते हुए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करते हैं। चिन्ता, कल्पना और भावुकता' तीनों का योग रहने के कारण नगेन्द्रजी की आलोचनाएँ कुछ अंशों में सृजनात्मक भी हैं। आलोचक नगेन्द्र स्वयं कवि भी हैं—इसलिए भाव-पक्ष अथवा कला-पक्ष किसी का भी इन्होंने तिरस्कार नहीं होने दिया है।

कुण्ठाजात काव्य को आदर्श न मानते हुए भी नगेन्द्र जी की आस्था और श्रद्धा इसी में है। 'साहित्य की प्रेरणा' में सीधे ढंग से न कह कर 'रस-विमुग्ध सुन्दरी' को समझाने का प्रयास भी कुण्ठाजात प्रतीत होता है। नगेन्द्रजी निश्चय ही फ्रायडमतानुवर्ती आलोचक हैं इसीसे तो 'काव्यं यशसेऽर्थकृते शिवेतरक्षतये सद्यः परनिर्वृतये' आदि उनको कम जँचते हैं। 'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' में 'काममोहितम्' पर अधिक जोर देना इसी का परिणाम है। 'करुणा में काम का अन्तसूत्र' ही काव्योद्भव का कारण है—इसे मानने के लिए हम प्रस्तुत नहीं। 'शोकश्लोकत्वमागतः' तथा 'Our sweetest songs are those that tell of sadest thoughts' Shelley एवं 'एकोरस:करुण एव' में काम की आवश्यक दुहाई नहीं है। 'वियोगी होगा पहला कवि' यह ठीक है पर 'अभाव और आनन्द के संयोग से' ही काव्य का जन्म होता है और वह भी कामजन्य—यह सर्वत्र ठीक नहीं। फिर आनन्द तो हुआ होगा काममोहित क्रौञ्च को। आदिकवि वाल्मीकि को तो विरतिता क्रौंची के प्रति (विशेषण रतिता इसलिए सही कि उसका प्रिय क्रौञ्च मृत्यु के ठीक पहले काममोहित था') करुणा की ही भावना प्रधान है। क्रौञ्ची के अभाव में कवि स्वयं वियोगी हो गया है, वह कामप्रवण क्रौञ्च के आनन्द में उत्फुल्ल नहीं।

स्व० शुक्लजी के साथ तथा स्व० प्रेमचन्द के साथ छायावाद परक होने के कारण नगेन्द्रजी ठीक न्याय नहीं कर पाये। शुक्लजी कविता को साधन मानते थे। साध्य नहीं यह ठीक है पर काव्यानन्द को वे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' न मानकर साधारण अनुभूति ही मानते हों ऐसी बात तो नहीं थी। केवल हृत्तन्त्री के तार झनकाने वालों को अगर शुक्लजी रस्ते पर न लाते तो हिन्दी कविता बड़ी लचर पड़ जाती। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने आधुनिक कविता को भी स्वस्थ स्फूर्ति प्रदान की है। छायावादी कविताओं का भी जैसा अर्थ वे करते थे वैसा अन्य प्राध्यापक से मेरे कम सुनने में आया। मनोविज्ञान में शुक्लजी की गति का पता 'चिन्तामणि' से ही बहुत कुछ लग सकता है। स्पष्टतः 'एकांगिता, हठधर्मी और मताभिमान' शुक्लजी से कम नगेन्द्रजी में नहीं—शुक्लजी में यह सब प्रगाढ़ पाण्डित्य, अध्ययन और विवेक की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित था पर नगेन्द्रजी में यह बहुत कुछ मार्क्स और फ्रायड की आधार-शिला पर स्थित है। छायावाद की परिभाषा उनकी साङ्गोपाङ्ग है पर यह मानना ही पड़ेगा कि छायावाद हिन्दी में प्रारम्भरूप में शैली का एक प्रकारमात्र ही था। १८६०–१६०० तक अंग्रेजी में लेखक के जैसे शतशः प्रयोग अपनाये गये। छायावाद भी द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से ऊब कर एक विशिष्ट कथन-शैली के रूप में अवतीर्ण हुआ था। थोथी रचनाओं के खोखलेपन की ओर ध्यान दिलाकर आचार्य शुक्लजी ने इसको शैलीमात्र नहीं रहने दिया, उसी के बाद ऐसी कविताओं

में खाली 'उस पार' न रहकर भावों की मांसलता लाक्षणिक वक्रता लिये हुए आई थी। 'वाणी के न्याय मन्दिर में' अगर वाणी द्वारा लिखा जाता तो प्रेमचन्द की सुनाई होती। नगेन्द्रजी के सामने प्रेमचन्दजी जैसे बोल ही नहीं सके। अदालतों में आखिर मामले सलटाये ही जाते हैं—न्याय कम होता है। निर्दोष व्यक्ति फाँसी पर लटक जाते हैं; घोर अपराधी सर्वथा बच जाता है। न्यायाधीश नगेन्द्र की सुधारवादी, आदर्शप्रिय प्रेमचन्द से कम पटती है। न्यायालय में जाने के पहले ही न्यायाधीश निश्चय कर लेते हैं कि अमुक अपराधी को बी० क्लास देनी है। नगेन्द्र ने जैसे पहले ही फैसला कर लिया था (बिना गवाही सुने ही—फिर यहाँ तो गवाही भी नगेन्द्र ही दिलाते हैं। मोतीलालजी नेहरू सरीखा कोई वकील नहीं) कि प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी के कलाकारों में स्थान नहीं मिलेगा क्योंकि उनके उपन्यास शायद कुण्ठाजन्य नहीं हैं। प्रेमचन्द की विशेषताओं के निरूपण का यह स्थान नहीं है।

नगेन्द्रजी द्वारा प्रगतिवाद के अध्ययन में प्रवृत्तियों का विश्लेषण तलस्पर्शी हुआ है—आर्थिकवाद में बँध कर चलने वाली कविता सप्राण हो ही नहीं सकेगी। असली कवितावाद के बन्धन को अनायास तोड़कर आगे निकल जाती है पर 'वाद' के साथ कवि का मानस यदि संयुक्त हो जाय तो वाद दब जाता है और मूल भावनाओं के सम्पर्क के कारण कवि-हृदय फूट पड़ता है। कविता की निस्यन्दिनी वहीं प्रकट हो सकती है; बाकी तो छन्दोबद्ध ऊपरी नाप-जोख तथा बाहरी लपक झपक ही रहेगी।

(हिन्दी में प्रगतिवाद का आदि ग्रन्थ गोदान है। ऐसे वाक्य प्रगतिवाद के शास्त्रीय और व्यावहारिक अर्थ-भेद की खाई को और गहरा कर भ्रम पैदा करते हैं। प्रगतिवादी गोदान ही को क्या प्रेमचन्द की सम्पूर्ण रचनाओं को शास्त्रीय अर्थ में प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। —सम्पादक।)

इसी तरह से Addison को रचनार्थ कहना भी सर्वथा भ्रामक है क्योंकि सृजनात्मक कल्पना (creative Imagination) की एडीसन को स्वप्न में भी कल्पना नहीं हुई थी—इसका भार तो वर्सफोल्ड ने एडीसन पर जबर्दस्ती लाद दिया है। एडीसन की कल्पना स्मृति-मूलक चित्र (Imagemaking) या (Memory Image) से बढ़ कर कुछ नहीं है 'हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवों का हम ने प्रत्यक्षीकरण न किया हो' 'स्वर्ग' और 'पर्वत' को हमने अलग-अलग देखा है। एक साथ स्वर्ग पर्वत अथवा दुग्ध-गङ्गा कह देने में ही एडीशन की कल्पना की सार्थकता है। नगेन्द्रजी कहते हैं कि कालरिज द्वारा किये गये Imagination और Fancy का वे अन्तर नहीं समझ सके। नहीं समझने का अर्थ सहमत नहीं होते ही प्रतीत होता है। कालरिज द्वारा दी हुई fancy की परिभाषा से टी. एस. इलियट महोदय (T. S. Elio) भी सहमत नहीं हैं। वे उसके कल्पना विच्छेद के पक्ष में नहीं हैं। 'But lt leams unlarise to talk of memory the connection with fancy and omit it altogather from the account of caignation. आई. ई. रिचर्डस और इलियट दोनों ने Fancy के सम्बन्ध में कालरिज के द्वारा की हुई व्याख्या पर घबराहट प्रकट की है। उन्होंने baffled शब्द का प्रयोग किया है।

जब बड़े-बड़ों का यह हाल है तो यदि बेचारे नगेन्द्रजी ही नहीं समझते तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर कालरिज के स्पष्टीकरण के लिए हम सहलजी के अनुगृहीत हैं।

पर अन्तर स्पष्ट इतना ही है कि एडीसन की कल्पना कालरिज की दृष्टि में असली सच्ची कल्पना नहीं, fancy मात्र है।

'Fancy is indeed no other than a made of Memory emancipated from the order of time and space.' जब भू Imagination 'disseves, diffuses, dissipates, in order to re-create—Coleridgi.

असली कल्पना नई सृष्टि है, वस्तुओं का पुनः संगठन मात्र नहीं। चाहे वह कितना ही आकर्षक क्यों न हो।

'विचार और अनुभूति' बहुत कुछ आधुनिक साहित्य का नवीन दृष्टि से लिखा हुआ सहानुभूतिपूर्ण इतिहास है। बिखरे हुए लेखों को यही ऐक्य-सूत्र में बाँधता है। इन आलोचनाओं में विवेक, ज्ञान, मनन और चिन्तन है। प्रसादजी पर नगेन्द्रजी ने कम लिखा है यह खटकने वाली बात है। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में दिये गये 'प्रसाद के नाटक' शीर्षक लेख इसमें दुबारा दिया गया है न जाने क्यों ?

नगेन्द्रजी आलोचना के अधिकारी हैं। उनमें लगन है। बुद्धि वैभव के साथ भावों को हृदयङ्गम करने का अनूठी क्षमता है। वे आज के विशिष्ट आलोचकों में से एक हैं। उनमें जितनी सहानुभूति और बुद्धि-विलास है उतनी अतलस्पर्शिनी प्रतिभा नहीं। पर यह शक्ति भी उनकी दिन प्रतिदिन बढो है। हम नगेन्द्रजी से भविष्य में और भी समृद्ध आलोचना की आशा रखते हैं। हिन्दी-साहित्य की जो उन्होंने सेवा की है वे स्मरणीय रहेंगी। उनकी चारों ही पुस्तकें मनन योग्य हैं। अन्तिम पुस्तक विशेषतः। आलोचक के दोष उनमें बहुत कम हैं गुण बहुत अधिक यही सबसे बड़ी उनकी विशेषता है। फ्रायड का अनुवर्तन और छायावाद का गठबन्धन उनकी सबसे बड़ी शक्ति और कमजोरी दोनों हैं।

सन्त-काव्य में शृङ्गार भावना क्यों ?

प्रो० कामेश्वरप्रसादसिंह एम० ए०

[जून के अङ्क में एक ऐसे लेख की माँग की गई थी, जिसमें सन्त-काव्य की शृङ्गारी भावना पर प्रकाश डाला गया हो। प्रस्तुत लेख उसी माँग की पूर्ति में लिखा गया है। विद्वान् लेखक ने सन्त-काव्य में शृङ्गारी भावना के ऐतिहासिक और साहित्यिक कारण दिए हैं। सन्तकाव्य की उपासना-पद्धति और उसका निर्गुण मार्ग की नाथ-परम्परा से सम्बन्ध को वे इसका प्रधान कारण मानते हैं। —सम्पादक]

हिन्दी-साहित्य-भण्डार में सन्त-साहित्य एक अद्भुत एवं शुभ्र रत्न है। सन्त कवियों की निराली वाणी से हिन्दी-साहित्य की आत्मा मुखरित है। सन्त कवि परम्परा से कबीर, दादू, सुन्दर, जगज्जीवन, पलटू, नानक, दूलन प्रभृति तत्व-शाली विशेष उल्लेखनीय हैं। वे प्रथम साधक हैं, तदुपरान्त कवि। आत्म-साधन उनका चरम लक्ष्य है। काम एवं अर्थ-लिप्साएँ साधना-पथ स्थित खाइयाँ हैं जिनमें पड़ साधकों का साध्य से महा-मिलन दुस्तर हो जाता है। अतः हमारे साधक सन्त-कवियों ने आत्म-पथ से नारी तथा मुद्रा तत्वों को विलग रखा। उनकी दृष्टि में नारी-समाज को सम्मान एवं गौरवपूर्ण स्थान नहीं। कबीर ने उस श्रेणी को नरक-कूप कह कर सम्बोधित किया है। नारी काल-भुजंगिनी है जिसकी विष-ज्वाला से निखिल विश्व जर्जरित है। अन्य साधक कवियों की नारी-भावना भी बहुत कुछ ऐसी है। पलटू स्वामी नारी के प्रति अपनी अटल धारणा को इस प्रकार अभिव्यञ्जित करते हैं—

असी बरस की नारि को, पलटू ना पतियाय।
जियत निकोबे तत्त को, मुए नरक ले जाय ॥
नारी पुरुष को ले मरी पुरुष नारी के साथ।
(नानो ज्ञान प्रन्थ)

देखा जाता है कि सन्त कवियों के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार नारी-समाज पुरुष-समाज का उत्थान करने वाला नहीं है। वह समाज ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में बाधक के रूप में अड़ा रहता है। परम्परानुगत प्रथा के अनुसार सन्तों ने नारी की तीव्र आलोचना की है। उन्होंने साहस पूर्वक अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा स्त्री के माया-

पाश से अलग रहने के लिए अपनी-अपनी आत्मा एवं श्रद्धानिष्ठ साधक भक्तों को बारम्बार सचेत किया है। वस्तु-जगत् में पर-नारी-सम्भाषण एवं सम्मेलन की बात तो दूर रही, कल्पना-जगत् में भी उसकी चर्चा तक निषिद्ध है।

नारी शृंगार-भावना का प्रतीक है। सन्तों के पुनीत तथा तात्विक विचार में शृंगारात्मिक भावना एकाग्रचित्तता की विनाशिका है। रति-भाव के एक हलके झोंके से महा-महिम्न तत्व-दर्शियों की ब्रह्म-निष्ठता तृण की नाईं उड़ जाती है। साध्य के प्राप्त्यर्थ वासनात्मिक एवं रागात्मिका वृत्तियों का हनन सापेक्ष है। रति सारी वासनाओं की जड़ है। अतः निर्गुण पथ के पथिकों के लिए रति का मूलोच्छेद वांछनीय है और उस पथ के सद् गुरुओं ने शृंगार की बड़े शब्दों में भर्त्सना की है। परन्तु शृङ्गार-भाव की तीव्रतम आलोचना के अतिरिक्त सन्त कवियों की रचनाओं में शृंगार-रस का पर्याप्त संचार दीख पड़ता है।

कबीर के लिए स्त्री-सौन्दर्य का स्निग्ध आकर्षण कुछ भी नहीं था, पर उसकी विश्रब्ध आत्मा विश्वात्मा के विरह में हृदय के उद्गारों एवं उच्छ्वासों का निष्कासण कर रही है—

बालम आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी,
मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगाया,
तब लग कैसा सनेह रे॥

उपर्युक्त पदांश में विप्रलम्भ का पूर्ण परिपाक हुआ है। कवि ने विभाव, अनुभावों संचारियों एवं स्थायी भावों को बलात संयोग से रस-निष्पत्ति नहीं की। रंग का संचार परिस्थिति के अनुकूल स्वतः हो रहा है—

'सबे कन्त सहेलियाँ, सगलिया करहिं सिंगार'
[नानक ग्रन्थ साहब]

× × ×

दुलहिन करो पिया का संग,
दुलहा तेरा गगन बसेरा बसे नैहर अंग।
[शिवदयाल सारवचन]

× × ×

व्याकुल विरह दिवानी, झड़ै नित नैनन पानी।
हरदम पी, दिल की खटकै सुधि-बुधि बदन हिरानी॥
नाड़ी बैद बिथा नहिं जाने क्या औखद दे आनी।
हिय में दागजिगर के अन्दर क्या कहि दरद बखानी॥
तुलसी यह रोग रोगिया बूझै जिसकी पीर पिरानी॥
[तुलसी साहब]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों की सुधामयी वाणी में शृंगार की लघु उर्मिल लहरियाँ अठखेलियाँ कर रही हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आत्मस्वरूप इन सन्तों के कर्मों और सरस वाणियों में सामञ्जस्य का अभाव क्यों? परन्तु बात ऐसी नहीं। विरोधाभास अलंकार की भाँति उनके कर्म और वाणी में विरोध की झलक के अतिरिक्त वस्तुतया विरोध नहीं है। सन्तों के शृङ्गार-वर्णन के मूल में उनकी उपासना-पद्धति है। निर्गुण मूलक कवियों का दार्शनिक सिद्धान्त सूफियों के प्रेम-तत्व से प्रभावान्वित है। सूफी फकीर ईश्वर की उपासना प्रेमी के रूप में करते हैं। प्रतिफलस्वरूप उनकी रचनाओं में फिराक और विसाल का प्राचुर्य है। यद्यपि उपासना-प्रणाली में सन्त साधुओं ने उनका अन्धानुकरण नहीं किया, फिर भी उन्होंने ब्रह्मोपासना पत्नी के रूप में की है। निर्गुण ब्रह्मवेत्ता कवियों की दृष्टि में ब्रह्म एकमात्र पुरुष है और निखिल ब्रह्माण्ड नारी रूप है। अद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार परमात्मसत्ता और आत्म-सत्ता में भिन्नता नहीं। दोनों की वाह्य भिन्नता का कारण जीवात्मा की अनभिज्ञता है। वस्तुतः दोनों में जल-वीचिका सम्बन्ध है। कबीर ने दोनों तत्वों की एकता के सम्बन्ध में कहा है कि—

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद में, लो कत हेरया जाय॥
हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समुद समाना बूँद में, लो कत हेरया जाय॥

यह सन्तों की स्वानुभूति है कि आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से भिन्नता दूर हो जाती है। भ्रम के कारण फट जाने से ब्रह्म-जीव सम्बन्धी संशयमूलक द्वैत मिट जाता है। पर इसके लिए गम्भीर प्रेम-तत्व की आवश्यकता है। पति और पत्नी का प्रेम, प्रेम का चरम आदर्श है। इसी आदर्श के अनुसार सन्त कवि अपने आराध्यदेव की उपासना पति और पत्नी के रूप में करते हैं। जिस प्रकार लौकिक परम्परा में प्रेमिक और प्रेमिका में प्रेम-सम्बन्ध, दूती के द्वारा स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में यह गुरुतर कार्य गुरु द्वारा सम्पादित किया जाता है। ब्रह्म के चिरमिलन के लिए निगुर्ण कवियों की विरहिणी आत्मा हाहाकार मचा देती है। उनकी आत्मा विरह की विकराल ज्वाला से भस्मीभूत हो तड़फड़ाती रहती है—

विरह जलाई मैं जलौं, मो विरहिन के दूख।
छाँह न बैसौं डरपती, मति जल उठै रूख॥

× × ×

हौं रे विरह की लाकड़ी, समुझि समुझि धुँधुआऊँ।
छूटि परौं या विरह ते, जे सारी ही जलिजाऊँ॥

सन्त कवियों ने मिलन की आकांक्षा, विरह दशा, संयोग सुख, एवं दूती के साहाय्य का वर्णन लौकिक प्रेम के रूप में किया है। यही कारण है कि सन्तों की आध्यात्मिक प्रेम की उक्तियाँ शृंगार-प्रधान हो गई हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैष्णव कवियों की नाई माधुर्य भाव की उपासना एवं परमात्मा और आत्मा के संयोग के वर्णन विवाह के रूपक में करने के कारण सन्त काव्य में शृंगार-भावना जाग्रत हो पड़ी है।

आध्यात्मिक तथा लौकिक प्रेम के आभ्यान्तरिक रूप में चाहे जो भी भिन्नता हो, पर दोनों के बाह्य रूप अभिन्न से प्रतीत होते हैं। शृंगार भक्ति का विशिष्ट रूप है। उपासना की यह पद्धति सन्त काव्य में शृंगार-भाव के आविर्भाव का प्रथम प्रधान कारण है। दूसरा कारण है कि निर्गुण मार्ग का नाथ परम्परा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध। यद्यपि वज्रयानी सिद्धों के मानसिक एवं आचरणात्मक व्यभिचारों के कारण, गोरखनाथ ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर उपासना का एक नवीन मार्ग निर्धारित किया जिसमें व्यभिचार का कोई स्थान नहीं था, फिर भी आनन्द मूर्ति शिव की उपासना के कारण उसमें शृंगार-भावना किसी न किसी रूप में आ ही गयी है। निर्गुण सम्प्रदाय (यद्यपि तात्विक दृष्टि से यह सम्प्रदाय नहीं) नाथ पन्थ की ही परिपाटी है। जब जीवन का कोई नवीन मार्ग निर्दिष्ट होता है। तब उस मार्ग का पूर्व के मार्ग से अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है। वस्तुतः दोनों मार्गों में कोई तात्विक भेद नहीं रहता है। जब मार्ग पूर्व के स्थूल मार्ग का ही सूक्ष्म रूप रहता है। फलतः नाथ-पन्थ की शृङ्गारात्मिक भावना निर्गुण सन्त-काव्य में भी किसी न किसी रूप में बनी रही और यह परम्परा-पालन समुचित भी है। क्योंकि मूलोच्छेदन कल्याणकारी नहीं। साथ ही परम्परा के ऐतिहासिक वृत्तों की कड़ियाँ भी टूट जाती हैं।

जीवन का चरमोद्देश्य मोक्ष एवं निर्वाण है। उसकी प्राप्ति के लिए विरक्ति की नितान्त आवश्यकता है। मोहाशक्ति निर्वाण के पथ पर कण्टक है। उस कण्टक को दूर करने के लिए सभी सन्त कवियों ने समवेत् स्वर से साधकों को सचेत किया है। योन्यन्तर, संसार की निस्सारता एवं निश्चित मृत्यु एवं यातना की ओर उनका ध्यान बारम्बार उन लोकोपकारी कवियों द्वारा आकृष्ट किया गया है। बाबा सूरदास कहते हैं कि—

जग में जीवन ही को नातो।
मन बिछुरे तन छार होइगो, कोउ न बात पुछातो॥
....
सूरदास कछु थिर नहिं रहई जो आयो सो जातो॥

प्रायः देखा जाता है कि सूर के इस स्वर में, तुलसी, मीरा प्रभृति कवियों ने भी अपना स्वर मिलाया है। परन्तु मृत्यु-वर्णन में निर्गुण कवियों ने साहित्यिक विशेषता प्रदर्शित की है। इसका वर्णन द्विरागमन के रूप में उनके द्वारा हुआ है। आत्मा स्त्री है, परमात्मा पति है। वह उसे मायके से लेने आता है।

साँई के संग सासुर आई।
संग ना रही स्वाद न जान्यौ,
गयौ जोबन सपने की नाई।

सखी सहेली मंगल गावें,
सुख दुख माथे हरदी चढ़ाई।
भयो विवाह चली बिन दूलह,
बाट जात समधी समझाई।
कहें कबीर हम गौने जैवें,
तरब कन्त लै तूर बजाई।

सम्भवतः सन्त कवियों की रचनाओं में शृंगाराभास के दिग्दर्शन का तृतीय कारण वर्णन-पद्धति की यह शैली है। सन्त कवि हमारे सामने उपदेशक के रूप में भी उपस्थित होते हैं। बौद्धों एवं जैनियों की नाईं उन्होंने भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार प्रचलित भाषा एवं रागों द्वारा किया है। अतः राग के अनुसार भाव का प्रदर्शन स्वाभाविक है। हिंडोले, बसन्त तथा फाग प्रभृति रागों में उनकी रचना प्रचुर मात्रा में हुई है—

रितु फागुन नियरानी,
कोई पिया से मिलावे।
पिया का रूप कहाँ लग बरनूँ
रूपहि माँहि समानी।
जो रँग रँगे सकल छवि छाके
तन मन सभी भुलानी।
यों मत जानो यहि रे फाग है,
यह कुछ अकह कहानी।
कहैं कबीर सुनो भई साधो,
यह गत बिरले जानी।

'फाग-राग' शृङ्गार-प्रधान होता है। उसमें मिलन एवं विरह की गाथा भरी पड़ी रहती है। लौकिक विरह तथा मिलन की भाँति सन्त कवियों ने आत्मा और परमात्मा के संयोग और वियोग के गीत गाए हैं। सन्त कवियों की अमर रचनाओं पर शृंगार के पुट का कारण रागानुकूल भावव्यञ्जना भी हो सकता है।

यद्यपि सन्त कवियों की रचनाओं में शृंगार रस का प्राचुर्य है, फिर भी वह वासनात्मक नहीं है। वे आध्यात्मिक शृंगार की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। प्रेमाश्री शाखा के सूफी कवियों की रचनाओं में वासना की गन्ध भले ही मिलती हो पर ज्ञानाश्री शाखा के कवियों की कविताओं पर वासनामय चित्त-विकार का प्रभाव कतई नहीं दीख पड़ता है। जन-मन शृंगार की ओर स्वभावतया आकृष्ट होता है। कवि स्वान्तःसुखाय के अतिरिक्त अपनी रचना जन-समुदाय के लिए भी करता है। अतः लोकरुचि एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति की अवहेलना उसके लिए वांछित नहीं। कृष्णमूलक एवं प्रेमाश्री कविता पद्धति में शृंगारिकता की प्रधानता है। तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति से तुलसी की नाईं मर्यादावादी कवि भी वञ्चित नहीं रह सकता। फिर सन्त-काव्य अछूता क्यों रहता? कहना नहीं होगा कि आत्मा और परमात्मा के विरह मिलन के विवाह मान एवं मृत्यु के रूपक में वर्णन, लोक-कवि, परम्परा-पालन एवं साहित्यिक परिस्थिति के कारण सन्त-काव्य में शृंगार-भावना का आविर्भाव स्वाभाविकसा है।

———

यदि हँसिया-हथौड़ा, वर्ग-संघर्ष, कूड़ा-कर्कट, भैंसागाड़ी, ट्रेम कार आदि को ही प्रगतिशीलता का सार्टीफिकेट दिया जाय तो महान अनर्थ होगा। प्रगति किसी सिद्धान्त विशेष का अन्धानुवर्तन नहीं, किसी राजनीतिक विचारधारा के अनुगमन में नहीं, वरन् सामाजिक-जीवन के वास्तविक निरीक्षण उसकी समस्याओं के विश्लेषण और गतिशील चित्रण में है। साहित्य को हम राजनीतिक अनुचर नहीं बना सकते और न हम उसी मनोवृत्ति के कायल हैं जो पाश्चात्य देशों से आने वाले सभी वादों को आदर्श मान हिन्दी में भी उसी की दुहाई देते हैं। आशा है कि लेखक के ये वाक्य प्रगतिशील विचार-धारा की एकाङ्गिता दूर करने में सहायक होंगे।

—साहित्य-वातायन की भूमिका से।

'द्वापर' की आत्मा

प्रो० सुधीन्द्र एम० ए०, साहित्य-रत्न

[इस लेख में आलोचक सुधीन्द्रजी ने 'द्वापर' में वर्णित राजनीतिक और सामाजिक भावनाओं को ही लिया है। कंस, उग्रसेन और कृष्ण में द्वापर की राजनीतिक भावनाओं का विकास दिखाया गया है और विधृता के उदाहरण में उस समय की नारी-स्वातन्त्र्य की भावना का उद्घाटन किया है। —सम्पादक]

'द्वापर' एक पौराणिक काव्य है, क्योंकि उसमें पौराणिक आख्यान की भित्ति पर एक चित्र प्रस्तुत किया गया है। एक ओर इसके आध्यात्मिक पक्ष है, दूसरी ओर राजनीतिक और तीसरी ओर सामाजिक।

१ आध्यात्मिक—प्रत्येक समाज की उन्नति और पुनरुत्थान के बीच में अवनति की स्थिति (Stage) आती है। इसी को पुराण यों कहता है कि दो सतयुगों के बीच में त्रेता, द्वापर और कलि के युग आते हैं। सतयुग वह है जिसमें सत् (अर्थात् धर्म और न्याय) का राज्य है—जहाँ अधर्म और अनीति की सत्ता नहीं है। सतयुग इसलिए कहा जाता है कि वह चार चरणों से चलता है, त्रेता में उसका एक चतुर्थांश क्षीण हो जाता है और उसके तीन चरण रह जाते हैं। द्वापर में सत् और असत् का तीव्रतम सन्तुलित संघर्ष होता है। तब न केवल धर्म, प्रत्युत राजनीति और समाज-नीति सब में भीषण द्वन्द्व (संघर्ष) होता है। मानस में भी सत्-असत् भावनाओं का संघर्ष रहता है और महाभारत होता है। गीता में इसी संघर्ष और अन्तर्द्वन्द को धर्मक्षेत्र (मानस) में होने वाला धर्मयुद्ध कहा गया है। संघर्ष होते हुए भी अन्ततः विजय तो सत् और धर्म की ही रहती है। परन्तु वह विजय मरने के पूर्व की विजय है। सतयुग से त्रेता, त्रेता से द्वापर और द्वापर से कलि—यह अवनति का क्रम है।

(२) राजनैतिक पक्ष—जिस युग में द्वापर जैसी राजनीतिक परिस्थिति हो, उस युग के लिए त्रेता ही निकटतम आदर्श है। पहेली को सुलझाकर कहें तो कहना होगा कि जिस युग में राजा (जो हमारी धार्मिक धारणाओं के अनुसार ईश्वर का प्रतिरूप है) प्रजा का पालक न रह कर घालक बन जाता है, जब वह आत्म-नियन्ता होकर नियति की अवहेलना करने लगता है, जब वह अग्निधर्मी बन जाता है—

धर्म एक बस अग्नि धर्म है,
जो आवे सो क्षार, —कंस

जब उसका राज्य राम-राज्य न रह कर रावण-राज्य या कंस-राज्य बन जाता है, तब नियति उसे अपने राज्य-पद से हटा कर उसके स्थान पर किसी 'राम' की प्रतिष्ठा करती है।

'द्वापर' का कंस एक ऐसा धर्मच्युत राजा है जो मत्स्य-न्याय (Survival of the Fittest) में विश्वासी है, जो सबल होकर निर्बल को बन्धन में डाल कर जीवित रहता है—

जितने भी बन्धन हैं, वे सब अबलों के ही अर्थ। —कंस

अर्थात् जो शक्ति की सत्ता (Might is Right) आस्था रखता है, जो निर्दय पौरुष को ही पुण्य और अपौरुष को ही पाप मानता है—

रोया करे क्यों न किन्नर-कवि कह कर मुझे नृशंस,
किंतु अपौरुष क्या उनका, यदि अमानुषिक कंस;
—[कंस]

जो अल्पप्राण शिशुओं को भी अपना अपघातक मान कर उनसे त्रस्त होने लगा है (क्योंकि पुण्यात्मा तो अजातशत्रु है), जो दया को दुर्बलता और क्रूरता को बल मानकर चलता है; जो अपने अतीत के मार्ग में आने वाली लोक कल्याणकारी 'बाधाओं' को काँटों का रूप मान कर—

मैं निश्चिन्त बढ़ूँगा आगे, अपने पादत्राण,
बचें कीट-कंटक, यदि उसको, प्रिय हैं अपने प्राण;

बढ़ रहा है। ऐसे राजा के राज्य में बसुधा त्रस्त और पीड़ित ही रह सकती है। यह बसुधा है देवकी और बसुदेव हैं उसके पति—बसुधा पति, परमेश्वर। साक्षात् ईश्वर की सत्ता को भी ऐसा राजा नगण्य मानकर चलता है! कंस के राज में बसुधा (धरती) के वे सब पुत्र जो सत्य के आग्रही हैं। कंस के लिए शत्रुवत हैं और इसीलिए कंस उन्हें 'लघु' देखते हुए भी जीवित नहीं देख सकता; किन्तु यह भी सत्य ही है कि कोई धरती का पुत्र (कृष्ण) ही कंस जैसे राजा का प्रतिकूल नियति में और उचित परिस्थिति में विनाश करने में समर्थ होकर रहेगा। वह प्रतिकूल नियति है अक्रूर और वह उचित परिस्थिति हैं नारद, जो संघर्ष की स्थिति का संयोजन करता है—

[जिसमें पापी के पापों का घट,
झट से झट भर जावे;
पृथ्वी और स्वयं पापी भी,
परित्राण चट-पट पावे। —नारद]

भारतीय साहित्य में 'नारद' एक ऐसा ही अद्भुत पात्र है, जो युग के अनुकूल योग या सुयोग प्रस्तुत करता रहता है। वह क्रान्तिकारी है, और क्रान्ति में से ही शान्ति प्रकट होता देखना चाहता है—

'शान्ति अन्त में आप आयगी,
व्यर्थ जन्म, जो क्रान्ति नहीं। —नारद

राजनैतिक संकट (Crisis) से मुक्ति का मार्ग चाहने वाले द्रष्टा ऋषि भी प्रत्येक युग में विद्यमान रहते ही हैं, चाहे उन्हें आजीवन कारावासी ही रहना पड़े। 'द्वापर' में भी उग्रसेन ऐसे ही ज्ञानी हैं जो राजा के अनीति-पथ-गामी होने पर रोष नहीं, दया ही प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उस 'राजा' नामधारी जीव पर 'असत्' की शक्तियाँ अधिकार कर चुकी हैं—

भरा स्वयं दोषों ने उसको,
तुम क्या दोष धरोगी?
शान्ति-पाठ ही करो, व्यर्थ क्यों
उस पर रोष करोगी। —उग्रसेन

वह ऐसे पथ-भ्रान्त व्यक्ति को 'अभिशाप' नहीं दे सकता, उसके लिए शान्ति-पाठ ही कर सकता है। वह ऋषि जानता है कि मानव मानव ही है, भले ही उसमें इसकी वृत्ति बढ़ जाती हो—

सच पूछो तो ऐसा अद्भुत अपना यह मानव ही,
कभी देव बन जाता है जो और कभी दानव ही।

पापी का सच्चा त्राण उसकी मृत्यु में नहीं है—

पापी भी न मरे, मर कर वह, हाय, कहाँ जावेगा?
उलटा नया जन्म ले लेकर लौट यहीं आवेगा।

इसीलिए वह उसकी मुक्ति की कामना करता है क्योंकि इसी में वसुधा का अन्ततः कल्याण है—

तभी हमारा त्राण मुक्ति जब
स्वयं उसे मिल जावे।
यही मनाओ पंक-पंक में,
एक पद्म खिल जावे। —उग्रसेन

राजा के लिए वह एक ही आर्षवाणी का मन्त्र-दान दे सकता है—

ओ सत्ता मदमत्त! आज भी
आँखें खोल अभागे!
वह साम्राज्य-स्वप्न जाने दे,
जाग, सत्य यह आगे॥ —उग्रसेन।

और कामना करती है रामराज्य की—

कहाँ गया हे राम, आज वह
तेरा राज्य, ओ रे! —देवकी।

देवकी (वसुधा) को विश्वास है कि राम नहीं उसी का पुत्र (कृष्ण) उसे उस संकट (कारागार) से मुक्ति देगा—

वही मुक्ति देगा बस हमको
इस दारुण बन्धन से।
× × ×
अब अपमान छूटने में भी
क्रूर कंस के द्वारा;
मेरा लाल छुड़ा न सके तो
भली मुझे चिरकारा! —देवकी

देवकी (वसुधा) और उसके पति (परमेश्वर) की यह चिरकारा नियति नहीं सहन कर सकता और अन्त में वसुधा की मुक्ति के लिए वसुधा-पुत्र ही शस्त्र ग्रहण करता है। यही द्वापर का राजनीतिक पक्ष है।

सामाजिक पक्ष

नारी जागरण के इस युग की प्रतिध्वनि 'विधृता' के विद्रोह में प्रखरतम सुनाई पड़ती है। 'विधृता' पुरुषों के प्रति जागरूक नारी के विद्रोह की प्रतीक है।

शुकदेव जिस 'विधृता' नारी को केवल एक अनुष्टुप ही दे सके—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवतं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विज हो देहं कर्मानुबन्धनम्।।

तब एक स्त्री अपने पति द्वारा रोक ली गई थी; उसने जैसा सुना था उसके अनुसार भगवान को हृदयंगम कर के अपने कर्मों से बँधी देह का परित्याग कर दिया।

द्वापर के कवि ने उसके मूल विद्रोह को मानोवाणी का बल दिया है और नारी के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जयघोष उठाया है। स्त्री-स्वातंत्र्य की प्रतिनिधि इस नारी ने मूक बलिदान ही नहीं किया, 'पतिनाम धारी पुरुष की विगर्हणा भी की है—

लोहित नेत्र फड़कते नथुने,
विकृत बदन, खर वाणी,
नारायण! मेरे नर में है,
कौन क्या यह प्राणी।

शब्दों में मधुरिमा घोलकर नारी को पूजनीय होने की घोषणा [यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते····] करने वाले पुरुष को दंभ की वह नारी विवृत कर देती है—

कामुक—चाटुकारिता ही थी
क्या वह गिरा तुम्हारी?
एक नहीं दो दो मात्राए
नर से भारी नारी।

तत्कालीन समाज की यह अधोगति विधृता के इस आक्रोश में साकार हो उठी है।

अवश्य ही अधिकारों का दुरुपयोग त्याज्य और हेय है, पर क्या नर की अर्धाङ्गिनी कही जाने वाली नारी का स्वधिकार भी रक्षित न हो?

अधिकारों के दुरुपयोग का,
कौन कहाँ अधिकारी?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्धाङ्गिनी तुम्हारी?

एक ओर पुरुष कुछ स्त्रियों के प्रति अश्लील हो कर भी श्रोत्रिय होत्री बना रहे और दूसरी ओर नारी भूखों को भोजन देने जाकर भी दुःशीला कहलाये?

पुरुष समाज ने नैतिकता के बन्धनों में बाँधकर जिस नारी को निरस्त्र कर दिया है, वह भर्त्सना में केवल वाग्प्रयोग ही कर सकती है—परन्तु इस वाक् प्रयोग में भी कितनी तीव्रता है।

अविश्वास, हा अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का
नर के तो सौ दोष क्षमा है,
स्वामी है वह घर का।

फिर भी भारतीय नारी यही मानती है वह अनादि काल से अपमानित होती आई है और अनन्त काल तक होती रहेगी।

अपमानिता सतीभी तो थी,
मरी एक दिन मख में।

और इसीलिये वह तो केवल आत्मोत्सर्ग का अहिंसक मार्ग ही ग्रहण कर सकती है—

'जाती हूँ, जाती हूँ, अब मैं
और नहीं रुक सकती;
इस अन्याय—समक्ष मरूँ मैं
कभी नहीं रुक सकती।

जान पड़ता है कवि आर्य नारी के नर के प्रति सक्रिय विद्रोह को निषिद्ध (अनैतिक) मानकर उसके निस्तार का एक ही मार्ग देखता है।

किन्तु आर्य नारी तेरा हो
केवल एक ठिकाना;
चल तू नहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट कर आना।

आलोचना

गवन: एक अध्ययन:—लेखक श्री प्रेमनारायण टण्डन एम० ए०, साहित्य रत्न, प्रकाशक विद्या मंदिर रानीकटरा, लखनऊ। पृष्ठ संख्या ६२, मूल्य ॥।≈)

'गवन' प्रेमचन्दजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। यह कई विश्वविद्यालयों की बी० ए० और एम० ए० परीक्षाओं के लिए स्वीकृत है। यह 'अध्ययन' इन परीक्षार्थियों के लिए ही लेखक ने प्रस्तुत किया है।

इसमें सात अध्याय हैं, जिन्हें अध्याय नहीं कहा गया है। इनमें परिचयात्मक आलोचना, अध्यायों (गवन के अध्यायों) का साहित्यिक महत्व, जिसमें प्रत्येक अध्ययन का सार दे दिया गया है, उपन्यास की समस्याएँ, जिसमें स्त्रियों की स्वतन्त्रता, आभूषण-प्रेम, फैशन तथा विलास-प्रियता, मध्य वर्ग की अन्य समस्याएँ वैवाहिक समस्या, आर्थिक समस्याएँ हैं, उपन्यास के तत्त्व, जिसमें कथा, विकास, उत्सुकता वृद्धि, पात्र, भाषा, शैली कथोपकथन, देश काल का प्रतिबिंब सम्मिलित है, कला की कसौटी में आदर्श और यथार्थ, प्रासंगिक विषय, सूक्ष्म दर्शिणी दृष्टि, जीवन की व्याख्या पर विचार है, चरित्र चित्रण में रमानाथ जालपा और देवीदीन को लिया गया है। खटकने वाली बातें भी अन्त में दी गयी हैं।

इन सब बातों पर विद्यार्थियों की दृष्टि से काफी स्थूल-तर्क तथा प्रमाण-युक्त विवेचन इसमें किया गया है।

इसके सहारे गबन की मोटी मोटी विशेषताऐं विद्यार्थी अपनी उँगलियों पर याद कर सकेंगे। लेखक की दृष्टि परीक्षार्थियों तक ही रही है, और उनकी दृष्टि से इस अध्ययन को सफल ही कहा जायगा।

हिन्दी-गीत-काव्य—लेखक श्री ओम्प्रकाश अग्रवाल एम० ए० प्रकाशक साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। पृ० सं० २५२, मूल्य २।।।)

इस पुस्तक में ८१ पृष्ठों में विषय-प्रवेश है, जिसमें गीत काव्य की विशेषताएँ बताते हुए संगीत का शास्त्रीय दृष्टि से भी परिचय दिया गया है। गीतिकाव्य के विकास में वेदों से लेकर आज तक की विविध अवस्थायें संक्षेप में पर यथावत् बताई गई हैं। अन्त में प्राचीन और नवीन हिन्दी गीति-काव्य का तुलनात्मक साराँश है।

शेष में ८१ पृष्ठों के बाद हिन्दी गीति-काव्य के विविध गीतिकारों पर परिचय तथा विचार पूर्ण टिप्पणियाँ हैं। विद्यापति ठाकुर से आरंभ कर २३ गीतिकारों में अंचल तक इस पुस्तक में सम्मिलित किए गए हैं।

इस प्रकार इस पुस्तक में भारतीय गीति-काव्य की तो एक रूप-रेखा खड़ी हो जाती है, और हिन्दी गीति-काव्य की पूर्ण परम्परा का साधारण विचारपूर्ण इतिहास। लेखक की शैली बहुत स्पष्ट और ललित है। उसमें बहुत कुछ छूटा हुआ और विवादास्पद होते हुए भी लेखक अपनी बात ऐसे सरल विश्वास से कहता गया है कि पाठक का आलोक व्यग्र नहीं होता। एक ग्रंथ तो लिखा जाता है विचारों को जाग्रत करने के लिए, एक लिखा है केवल कुछ बताने के लिए। यह पुस्तक इसी दूसरी दृष्टि से लिखी गयी है। हाँ, एक बात यहाँ विशेष उल्लेख करने योग्य है। लेखक ने सोहनलालजी को प्रगतिवादी कवि बताया है, वह तो खैर, यह उनकी एक कविता के नीचे टिप्पणी देते हुए लिखा है 'आजका कवि रहस्यवादी भगवान के सूक्ष्म रूप को उसी प्रकार छोड़ता ज्ञात होता है जिस प्रकार कि ज्ञान मार्गी

संत कवियों के 'निर्गुन ब्रह्म' को कवियों ने छोड़ दिया था। इसी प्रकार की भक्ति-भाव की नवीन भावना हमें श्री सुधीन्द्र जी के गीतों में स्पष्ट रूप से मिलती है। मेरा विश्वास है कि यह भावना उत्तरोत्तर बलवती होकर भक्ति के नवीन रूप को प्रकट करेगी।" कुछ विद्वानों का मत रहा है कि समालोचक भविष्य-वक्ता भी होता है। यहां इस लेखक ने भी अ ने विश्वास के अनुसार भविष्यवाणी की है। यह आगे के कवियों को अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। यदि यह भक्ति आगे चलकर उत्तरोत्तर बलवती होगी तो इसका नाम भी आगे चलकर अवश्य रखा जायगा, और हमें विश्वास-सा होता है कि पं० सोहनलाल द्विवेदी से बीजारोपण होने के कारण इसका नाम शायद (!) सोहन-भक्ति सम्प्रदाय रखा जाय।

पुस्तक केवल साहित्य के विद्यार्थियों के ही लिए उपयोगी नहीं है, इसके द्वारा सभी का ज्ञान-बर्द्धन और मनोरंजन हो सकता है। पुस्तक ने एक आवश्यकता की पूर्ति की है।

—सत्येन्द्र

कविता

तूलिका—ले० श्री रामाधार त्रिपाठी 'जीवन'। प्रकाशक—मजन साहित्य-मंडल गोरखपुर। मूल्य १॥)

'तूलिका' में कवि की स्फुट रचनायें संगृहीत हैं, जिन्हें हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—पहले भाग में व्यक्तिगत कवितायें हैं, दूसरे में प्रकृति का वर्णन है, तीसरे में जन-जागृति के गीत हैं। व्यक्तिगत कविताओं में सर्वत्र निराशा, विरह-वेदना तथा अन्तर्दाह का वर्णन है, जिसमें कवि की अनुभूति, भावों की तीव्रता के साथ उभर आई है। 'दो दिन के', 'प्यार', 'हँसना-रोना' आदि रचनायें इसी प्रकार की हैं।

दूसरे भाग में 'चाँदनी' 'सावन' 'लता' 'खेतों की ओर' आदि कवितायें हैं, जिनमें प्रकृति के मनोरम चित्र उपस्थित किये गए हैं। 'खेतों की ओर' कवितायें ग्राम का सुन्दर वर्णन है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

दिव्य बोल के भूरि भार से उस रसाल की डाल,
झुक-झुक झूम रही झोंकों में लिये तान तुक-ताल;
ग्राम युवतियाँ बन कर परियाँ,
भर स्वर में संगीत लहरियाँ;
भूल रहीं अपने भावों में भूल रहीं मद-मोर।

'सावन' में कितनी भावपूर्ण उक्ति है—

चाह के रथ पर चढ़ी-सी चारु चंचल चाह लेकर,
सुन्दरी सरिता चली सावेग प्रिय की राह लेकर;
तुल उठी उसकी तुला पर
मधु मिलन की आस-री सखि!
आज सावन मास-री सखि!

'प्रयाग-गीति' 'चेतावनी' 'कुरुक्षेत्र' आदि कविताओं में कवि ने जनता को जागरण का सन्देश दिया है।

'तूलिका' की अधिकांश रचनायें सुन्दर एवं भावपूर्ण हैं। भाषा सरल है, किन्तु कहीं-कहीं पद्यों में गद्यात्मिकता आ गई है। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाओं में कवि ने हिन्दी-उर्दू शब्दों का एकीकरण किया है जो कहीं-कहीं असंगत हो गया है।

—राजेन्द्र सक्सेना

शकुन्तला—(खण्ड काव्य) ले० श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी, प्रकाशक—गोविन्द आश्रम, चन्दौसी; वितरक—मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद। मूल्य ॥)

काव्य की आत्मा करुण-रस है। शकुन्तला जैसे विषय को लेकर त्रिपाठीजी ने करुण रस का एक खण्ड काव्य प्रस्तुत किया है। उसका करुण रस कल्पना के हेर-फेर तथा शब्द-पांडित्य और अलंकारिता में विस्मृत हो गया है।

'पढ़ने वाले को कहानी का नया रूप नहीं मिलेगा, वरन् त्रिपाठीजी की नवीन कल्पना मिलेगी। कालिदास की कल्पना की बात छोड़िये। कविगुरु कालिदास ने शकुन्तला की मूल कथा में रोचकता उत्पन्न करने के लिये जैसी रहस्यमयी कल्पनाओं और काव्य जनित उतार-चढ़ाव का समावेश किया, वैसे तो कोई क्या करेगा? हाँ अपनी कल्पना के रहस्यों और उलझनों का समावेश कर सकता हूँ।' (प्राक्कथन में कवि का कथन) और वही कवि करता भी है।

यह खण्ड-काव्य आठ सर्गों में विभाजित है और प्रत्येक सर्ग में भिन्न छन्द होने के कारण काव्य में सरसता आ गई है।

—योगेन्द्रनाथ भार्गव एम० ए०

नाटक

मुक्ति पथ—(नाटक) नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट, प्रका०—अवध पब्लिकेशन हाउस, लखनऊ। मूल्य १॥) नाटक ६६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, आरंभ में ८ पृष्ठ भूमिका के अलग हैं।

भूमिका में नाटककार ने पहले तो इस प्रश्न पर विचार किया है कि मनुष्यमात्र के एक होते हुए भी महापुरुषों के निदान क्यों भिन्न हुए हैं। निष्कर्ष यह है कि अलग परिस्थितियों में अलग निदान हुआ। एक परिस्थिति का निदान सार्वकालिक नहीं हो सकता। उनका निदान एक रोग का उपचार करता है तो आगे उसका दुरुपयोग होकर दूसरे कष्ट और रोग घेर लेते हैं। इसी आधार पर वे कम्यूनिज्म को इस समय की एकमात्र औषध मानते हुए, भी सदोष मानते हैं। गान्धीवाद को भी। गान्धीवाद के प्रयोगों को तो वे कम्यूनिज्म से भी अधूरे मानते हैं, और उनका विश्वास है कि न तो उन प्रयोगों को सफलता ही प्राप्त हुई है न मनुष्य समाज का निर्माण उनसे हो सका है।

नाटककार ने जिन तर्कों के सहारे कम्यूनिज्म अथवा गान्धीवाद की कमियाँ सिद्ध की हैं। वे विचारक के ऊँचे स्वर के भी द्योतक नहीं हैं और सहज ही आलोच्य हैं। लेखक अन्त में इस नारे को पुष्ट करता है कि अन्धानुकरण मत करो, सोचो और प्रयोग करो—इसी में जीवन की सार्थकता है। वह जीवन को एक प्रयोग मानता है, जो यदि गम्भीर विचार के उपरान्त 'सत्य' ठहरे। जिसमें हमें शतशः सन्देह है, तो सभी समझदार उसका अन्त हाराकीरी ही मानने को बाध्य होंगे। उस अवस्था में 'मुक्ति-पथ' नाटक की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। पर यह मुक्तिपथ भट्टजी ने बताया है कि यह उनका तीसरा ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक के मूलाधार में गौतम का ऐतिहासिक विकास है।...."यह नाटक मूलतः रोमाण्टिक और विचार-प्रधान है।...बुद्ध भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न हैं। उनके चरित्र, उनकी दृढ़ता, आत्म-ज्ञान की खोज के लिये उनका त्याग भारत के लिए ही नहीं विश्व के लिए अनुकरणीय है। इन्हीं सब बातों को सोचकर उनके ऊपर लिखने की मेरी इच्छास्वरूप यह नाटक पाठकों, दर्शकों को भेंट किया जाता है। नाटककार का उद्देश्य यथार्थतः श्लाघ्य है। बुद्ध के जीवन-वृत्त से सभी सुपरिचित हैं। कई नाटक तथा एकाङ्की इनके सम्बन्ध में लिखे जा चुके हैं।

नाटककार ने आरम्भ से ही सिद्धार्थ को विचार-प्रवण और गम्भीर चित्रित किया है। आखेट के आनन्द में से भी दुःख के तन्तुओं को उभार कर वे ध्यानस्थ होते हमें पहले अङ्क के पहले ही दृश्य में मिलते हैं। यह गम्भीरता उनकी बढ़ती जाती है, शुद्धोधन के समस्त उद्योग व्यर्थ सिद्ध होते हैं, गोपा का आकर्षण उसे और उत्तेजित करता है। अन्त में संकल्पनिष्ठ हो जाते हैं, उनकी असमर्थता छाया-चित्र के रूप में उपस्थित हो उन्हें डिगाना चाहती है, पर वे सबको सोता छोड़ कर प्रस्थान कर जाते हैं। क्यों? "दुःख व्याधि के मूल कारण की खोज करने के लिए।" पुत्र के जन्मोत्सव का समस्त उत्साह बैठ जाता है।—यहाँ तक दो अङ्कों में। तीसरे अङ्क के चार छोटे दृश्यों में बुद्ध का ज्ञान की शोध में भटकना, फिर ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध होना और अन्त में एक दिन अपने ही नगर में आकर स्त्री का मा और बत्से सम्बोधन करके 'कल्याण' का आशीर्वाद देकर नाटक समाप्त हो जाता है। नाटक में बहुत दीर्घ अवधि तक फैली हुई घटनाओं का अपने में समेट लिया है। एक-एक दृश्य के बीच में कहीं-कहीं वर्षों का व्यवधान है, पात्रों के चित्रण सुष्ठु हैं पर आदर्श हैं। छाया-चित्र का उपयोग एक विशेषता है। नाटक पर आधुनिक चित्रपट की कला की छाप भी प्रतीत होती है। अन्तिम अङ्क के प्रथम दृश्य में बुद्ध को मञ्च पर अचल करके दृश्यों को परिवर्तित करते चले जाने में वह प्रभाव बहुत उभर आया है। यों सर्वत्र चित्रपटीय मनोवृत्ति झाँकती मिलती हैं। गीत सभी सुन्दर हैं।

नाटककार ने अपनी कुशल लेखनी से आत्म केन्द्रित सिद्धार्थ को असाधारण विशेषता से मंडित दिखाया है कि उसका स्वरूप उसके आदर्श के समक्ष विद्रूप हो गया है, और अन्य पात्र पंगु हो गये हैं। कहीं प्रतीत होता है नाटककार मानव मानव की समानता का विश्वासी है, कहीं वह विभेदों में आस्था रखता है। भगवान बुद्ध का चरित्र विभेद की पराकाष्ठा है। उनके समक्ष समस्त मानव समूह हीन-क्षीण हो गया है, और यह स्थिति हीनता-भाव-मंडल अथवा विपरीत भाव-मंडल की सृष्टि करेगी। हाँ, जहाँ तक विविध भाव-समूहों से सम्बन्ध है, नाटक में संकुचित स्वार्थ को त्याग ने, मानव कल्याण में प्रवृत्त होने, दया, अहिंसा, प्रेम, धर्माचरण, अपने आप ही प्रकाश होकर आत्म-शक्ति के द्वारा कल्याण लाभ करने, चित्त को संयत रखने आदि जैसे भाव बिखरे पड़े हैं।

अन्त में, हम भट्टजी की कला के उपासक हैं; उनकी इस रचना का स्वागत करते हुए हम आशा करते हैं कि वे अपनी कला से और भी उत्कृष्ट रत्न माँ भारती को भेट करेंगे।

प्रेरणा—(पाँच एकांकी नाटक), लेखक प्रेमनारायण टंडन एम० ए०, प्रकाशक—विद्यामंदिर, चौक, लखनऊ। पृष्ठ सं० ८३, मूल्य ॥।)

टंडनजी ने निवेदन में लिखा है—'नाटक के क्षेत्र में यह मेरा प्रथम प्रयास है।' इसमें 'माता', 'प्रेमी', 'कनवेसिंग', 'प्रेरणा', 'बचपन के साथी' ये पाँच एकांकी हैं, जिनमें से लेखक की सूचनानुसार 'प्रथम दो एकांकी प्रसिद्ध अँगरेजी लेखकों श्री० के० ए० फर्गुसन और श्री एच० ब्रिगहाउस की रचनाओं के स्वतन्त्र अनुवाद हैं।'

माता में कर्तव्यपरायण, दृढ़ और साहसी या वात्सल्यमयी माता का चित्र है। वात्सल्य और आदर्श का संघर्ष ही माता है। 'प्रेमी' में एक साथ प्रेमिका की अन्तर्जीवन की कठोर झाँकी है, जिसने पचीस वर्ष तक अपने घर में किसी पुरुष को प्रवेश नहीं करने दिया। और यह झाँकी उस समय की है जब कि पचीस वर्ष बाद उसने अपने उसी प्रेमी को आने की अनुमति दी। उसकी विविध मानसिक स्थितियों का चित्र इसमें उपस्थित होता है। 'कनवेसिंग' में 'कनवेसिंग' का रूप दिखाया है, वोट माँगने और देने वाले की मनोस्थितियाँ इसमें स्पष्ट होती हैं। सब के सब एक छल को साथ लेकर काम कर रहे हैं। प्रेरणा में एक दरिद्र लेखक अध्यापक का चित्र है, जो धनाभाव के कारण अपने वर्तमान व्यवसाय को छोड़ कर क्लर्क बनने को काफी संघर्ष और विकट स्थिति के कारण उद्यत होता है, पर जिसको ठीक समय पर उसके प्रशंसनीय कर्म का महत्व समझाने वाला मिल जाता है, और उनका दुःख दूर कर देता है। 'बचपन के साथी' में भी एक एम० ए० पास दरिद्र अध्यापक की दशा और मनोस्थिति की उसके दो धनी और ऐश्वर्यविलासी मित्रों से विसंगति दिखायी है। प्रधानतः चरित्र दोष की ओर लक्ष्य रहा है। सभी एकांकी आदर्शवादिता से पूर्ण हैं। हम आशा करेंगे कि लेखक आगे यदि एकांकी रचना में प्रवृत्त होगा तो अपने आदर्शों का आधार विशेष उदात्त और उज्ज्वल रखेगा।

—सत्येन्द्र

कहानी

परम्परा—लेखक श्रीयुत अज्ञेय, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस। पृष्ठ १८०, मूल्य ३)

'परम्परा' में अज्ञेय की २२ कहानियाँ हैं। कहानियों की यह इनकी दूसरी पुस्तक है—पहिली विपथगा थी।

अज्ञेय की कहानियों के पीछे बहुत गहरा चिन्तन है। समाज की विषमताओं और प्रवंचनाओं के प्रति एक विस्फोटक विद्रोह है। विध्वंस उनके जीवन का लक्ष है और यह भावना एक भयंकर तीव्रता के साथ उनके साहित्य में आई है। इसी कारण उनकी रचनाओं में इतनी अदम्य शक्ति है। प्रगतिवादियों में अज्ञेय सबसे शक्तिवान लेखक हैं। उनका बौद्धिक विश्लेषण विस्मित कर देता है। आश्चर्य यह है कि साहित्य को साधन और प्रोपेगेण्डा का माध्यम मानते हुए उन्होंने इतनी उच्चकोटि की कला की रचना की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञेय को जीवन की तीखी कठिनाइयों से विशेष रूप से संघर्ष करना पड़ता है। शेली ने एक स्थान पर लिखा है—

Smiling they live, and call life pleasure :—

To me that cup has been death in another measure.

अज्ञेय को भी हलाहल का ही प्याला मिला, अमृत का नहीं। इसीलिये उसके साहित्य में इतनी वेदना, अतृप्त, अभाव और विध्वंस की प्रवृत्ति है।

परम्परा की कुछ कहानियाँ—जिनमें उद्देश्य सतह पर आ जाता है गिर गई हैं। 'बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे' नामक कहानी में कुछ स्थल अच्छे हैं परन्तु कुल मिला कर इसमें कोई सार नहीं है। गोरों के पहाड़ी स्थलों को कुरूप करने वाला परिच्छेद अनावश्यक है। आनन्द की दार्शनिकता थोथी है। इसी 'प्रकार ताज की छाया में', 'सभ्यता का एक दिन', 'अछूते फूल' भी कला की दृष्टि से नगण्य हैं। लेखक अपने विचारों में विश्रृंखल है। 'मंसो' और 'सिगनेलर' में गहरी वेदना है और अन्तर्मुखी वृत्तियों का अच्छा विश्लेषण है। 'सेव और देव भी व्यंग से भरी हुई है। इतने बड़े पुरातत्व के प्रोफेसर को चोरी की भावना से प्रेरित होते हुये देखकर हम स्तम्भित रह जाते हैं। और अपने नैतिक पतन पर लज्जित। 'कविता और जीवन' में बौद्धिक परिभाषा है, और 'जीवन शक्ति' में यथार्थवादी, इसीलिये जीवन शक्ति इतनी मर्मान्तक है। 'नई कहानी का प्लॉट' साधारण है। इसमें लेखक ने लतीफ़ के चरित्र में बहुत हल्का व्यंग्य लाने का प्रयत्न किया है। 'शान्ति हँसी थी', 'सूक्ति और भाष्य', 'पहाड़ी जीवन', 'चिड़िया घर' और 'नम्बर द५'—यह कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ हैं। इनमें समाज, न्याय और नैतिकता पर बहुत तीखे व्यंग हैं। लेखक ने जैसे आज की सभ्यता के दबे ढके कलुषित स्थलों का आवरण फाड़ दिया है। नैतिक, सामाजिक और मानुषिक पतन के इतने सुन्दर चित्र हिन्दी साहित्य में कम ही मिलेंगे। इनमें 'चिड़ियाघर' अति उत्तम है। मनुष्य ने अपनी वासना पूरी करने के लिये प्रकृति के प्राणियों को भी उनकी स्वतन्त्रता से वंचित कर दिया है। जिसको हम ऊपर से लिपीपुती चमचमाती देखते हैं वह सभ्यता अन्दर से कितनी खोखली है, यह देखकर हृदय विद्रोह कर उठता है। इसी प्रकार चाँदी के टुकड़ों पर कितने वीभत्स और व्यापक रूप में नारी शरीर बिक जाता है—

'और पहाड़ों में यह नित्य ही होता है, शायद दिन में कई बार होता है, ('पहाड़ी जीवन' पृष्ठ ३६)

जैनेन्द्र की मृणाल भी (और उसके समान आज की असंख्य स्त्रियाँ) सामाजिक परिस्थितियों के कारण ही नारकीय जीवन व्यतीत करने पर मजबूर होती हैं। पतन की एक ऐसी सीमा आ जाती है जब नारी स्वयं अपने मातृत्व के अंगों को पुरुष की लपलपाती वासना के सामने अर्पित कर देती हैं, मशीन के समान बन जाती हैं, पुरुष आयें, पैसे फेंकें और उसकी मशीन से काम लेकर चले जायँ—यही उसका क्रम है, सुबह, शाम, रात। 'पहाड़ी जीवन' सभ्यता के इस पहलू का बड़ा दर्दनाक चित्रण है।

'पुरुष का भाग्य' पढ़ते-पढ़ते दम घुटने लगता है। बार-बार पढ़ने पर भी लेखक का आशय स्पष्ट नहीं होता। यह दोष अज्ञेय की काफी कहानियों में हैं। 'पुलिस की सीटी' सुन्दर कहानी है। इसमें अन्त में बहुत शक्तिवान क्लाइमेक्स है जब सत्य एकदम अनुभव करता है कि सीटी पुलिस की नहीं वरन एक बच्चे की है। 'प्रतिध्वनियाँ भी अच्छी चीज है। कलईगर की आत्मा जाग उठती है उसमें कला को ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। अरुणा से उसका अन्तिम मिलन कितना ट्रैजिक है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की उपगुप्त वाली कहानी का अन्त भी ऐसा ही है। 'अलिखित कहानी में' तुलसीदास और तुलसू का चित्रण बहुत आकर्षक है। 'इन्दु की बेटी' में कहानी का रस अधिक है। इसके अतिरिक्त वातावरण-अंकन कहानी के बहुत उपयुक्त है।

'जिज्ञासा' शेखर' से ली गई है। इसमें अज्ञेय के चिन्तन का गूदा है—

और स्थगित जीवन के उस भीषण अन्तराल में क्षुद्र बुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है······वही स्थानापन्न प्राण × × × ('शेखर' पृष्ठ ८८)

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है तब अनहोनी घटनायें होने लगती हैं। (परम्परा पृष्ठ ११)

और आज की सभ्यता और संस्कृति ने इसी जिज्ञासा को कुचल डाला है। चिरन्तन साँप के समान वह इस ज्ञान को अपनी गुञ्जलक में छिपाये बैठी है और मानव न्यस्त स्वार्थों के पहिये के नीचे दबा जा रहा है—भूखा, नङ्गा, लुटा हुआ अशिक्षित मानव। उसमें क्या जिज्ञासा होगी, इसलिये क्या प्राण होगा?

'परम्परा' भी 'जिज्ञासा' के समान अपूर्व कहानी है। परम्परा से चले आये संचित पाप एक से दूसरे को, दूसरे से तीसरे को ग्रसते चले जाते हैं। पापों की यह माला समाप्त नहीं होती। और सभ्यता?

'पहिली सन्तान के होने की खुशी में फूली न समाती हुई वह मदहोश होकर भागी जा रही है, एक नृशंस दानवी यन्त्र के नीचे, बजरी से लदी हुई एक निष्प्राण मशीन के नीचे कुचली जाने के लिये × × ×'

यही हमारे विश्वास की, हमारी युगों की, निष्ठा की, हमारे सञ्चित पुण्यों की ट्रेजेडी है। और इसके जिम्मेदार हम स्वयं हैं।

परन्तु क्या इसका कोई उपाय भी है? सड़क से मुड़ते ही एक बहुत बड़ी पत्थर की दीवार सामने आ जाती है जिस पर मनुष्य के रक्त से एक बड़ा प्रश्न-सूचक चिह्न बना हुआ है। आज की उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने में अज्ञेय की यह विचारधारा अपना एक सुरक्षित दृढ़ स्थान रखती है। —अमरनाथ जौहरी

शिक्षा का माध्यम—लेखक श्रीमन्नारायण अग्रवाल, भूमिका लेखक—महात्मा गान्धी। प्रकाशक—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०, आगरा। मूल्य ॥।)

अग्रवालजी की यह एक प्रसिद्ध सामाजिक पुस्तक का अनुवाद है। पुस्तक ४६ पृष्ठ की है, और इस छोटी पुस्तक में ही लेखक ने शिक्षा के माध्यम की समस्त समस्याओं पर संक्षेपतः विचार किया है। उसका मुख्य मन्तव्य यह है कि भारत में ऊँची से ऊंची कक्षाओं तक मातृभाषाओं में शिक्षा दी जाय। इस सम्बन्ध में विविध मत भी दिये गये हैं, और लेखक ने अपनी योजना भी दी है। पुस्तक का मूल्य ॥।) है। सभी विचारशील व्यक्तियों को पढ़नी चाहिए। अनुवाद में मौलिक जैसा आनन्द मिलता है। —सत्येन्द्र

उपन्यास

जनता अजेय है—लेखक वसीली ग्रोसमन, अनुवादक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रकाशक—जन-प्रकाशन गृह, बम्बई। पृष्ठ २१६, मूल्य १॥)

रूसी लेखक ग्रासमन का यह उपन्यास अपने तरह की एक सर्वथा नूतन रचना है। इसमें लेखक जीवन से दूर के किसी काल्पनिक कथानक को लेकर नहीं चलता और न वह किसी पात्र-विशेष के चरित्र चित्रण का सहारा ही ले उपन्यास को आगे बढ़ाता है; अतएव इसे 'घटना प्रधान' अथवा 'चरित्र-प्रधान' उपन्यास नहीं कहा जा सकता। लेखक सोवियत्-जर्मन युद्ध के प्रारम्भिक काल की यथार्थ घटनाओं का—जब कि जर्मन सेना निरन्तर सोवियत् भूमि पर बढ़ती ही जाती थी एक सजीव चित्रण उपस्थित करता है। वह हमें दिखलाता है कि किस प्रकार जनता ने अस्थायी पराजयों के होने पर भी एक अभूतपूर्व विश्वास, साहस और विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया? किस प्रकार प्रत्येक नये आक्रमण तथा जन-धन की हानि ने उनमें नया उत्साह फूँका, नई स्फूर्ति प्रदान की? इस प्रकार इस राजनीतिक उपन्यास से, मनोरंजन के साथ ही साथ, हमें सोवियत् की शक्ति के उस श्रोत का भी पता चलेगा जिसके कारण 'स्तालिन ग्रेड के मोर्चा' जैसे भयानक और ऐतिहासिक लड़ाइयाँ लड़ी जा सकीं।

इसका अनुवाद हिन्दी पाठकों के सुपरिचित प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने किया है। उन्होंने भाषा की सरलता तथा प्रवाह बनाये रखने में जो सफलता पाई है. उसके लिये वह बधाई के पात्र हैं। —नवीन नारायण अग्रवाल

राजनीति

आगा खाँ महल से गाँधी जी का पत्र-व्यवहार—अनुवादक कालीचरन पाण्डे, प्रकाशक—सन्देश प्रेस, आगरा। पृष्ठ संख्या ११२, मूल्य दस आना।

बन्दीगृह से वाइसराय तथा अन्य सरकारी अफसरों को बापू द्वारा लिखे गये पत्रों का यह संग्रह है। साथ में उनका मई ४२ का मीराबेन को लिखा गया पत्र भी है जो जापान के सम्भावित आक्रमण के सम्बन्ध में उनके विचारों पर प्रकाश डालता है। राष्ट्रपति आजाद का वाइसराय को भेजा गया पत्र भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार हिन्दी भाषा में इस महत्व पूर्ण पत्र व्यवहार को हम एक ही स्थान पर पा जाते हैं। अनुवाद करने में बड़ी जल्दबाजी की गई मालूम होती है।

रूसी क्रान्ति का इतिहास—लेखक—आर० पेज आर्नेट, अनुवादक—सतीशचन्द्र पुरोहित, प्रकाशक—जन-प्रकाशन गृह, बम्बई। पृष्ठ ११२, मूल्य १।)

सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति बीसवीं सदी की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटनापूर्ण घटना है जिसने सारे आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में ही उथल-पुथल मचा दी। उसने काल्पनिक समझी जाने वाली एक विचार-धारा को व्यवहारिक ही नहीं प्रमाणित कर दिखाया साथ ही उसमें यह भी दिखला दिया कि ठीक संगठन और योजना रहने पर किस प्रकार सदियों से पिसी हुई अशिक्षित जनता में भी १५-२० वर्ष में ही एक नई जान फूँक कर उसकी काया पलट की जा सकती है।

वर्तमान विश्व युद्ध में रूस ने जिस शक्ति तथा वीरता का परिचय दिया उससे सोवियत् के प्रति लोगों को आदर-भाव और दिलचस्पी और भी बढ़ गई है। हमें विश्वास है कि हिन्दी भाषा-भाषी एक ब्रिटिश समाजवादी के लिखे हुए रूस के इस प्रामाणिक इतिहास का स्वागत करेंगे। इस छोटी सी पुस्तक में लेखक ने १९०५-१९१७ की राजनीतिक अवस्था का वर्णन कर १९१७ की क्रान्ति का चित्रण किया है। साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि लेनिन ने किस प्रकार आंतरिक संघर्षों तथा वाह्य आक्रमण और हस्तक्षेपों से देश की रक्षा कर समाजवादी व्यवस्था को निर्मित किया। पुस्तक में १९२०—३५ तक की आर्थिक योजनाओं पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

राजनीति में रुचि रखने वाले पाठकों के लिये यह पुस्तक संग्रहणीय है।

—नवीननारायण अग्रवाल

धर्म और दर्शन

गणेश—लेखक-श्री सम्पूर्णानन्दजी। प्रकाशक—काशी विद्यापीठ, बनारस। मूल्य २॥)

पूजा के क्रम में यद्यपि गणेशजी का आदि-स्थान है और 'विद्यारम्भे विवाहे च' सभी शुभ कृत्यों में उनका स्मरण होता है तथापि उनके ऊपर हिन्दी में अभी तक कुछ भी नहीं लिखा गया है।

गणेशजी के महत्व का विशेष कारण विघ्नेश और विघ्नविनाशक होने का है। इन दोनों विचारों के समन्वय ने लेखक महोदय के मन में एक बड़ी समस्या पैदा कर दी है। समस्या यह है कि जिस प्रकार जगदीश जगत के ईश होकर जगत के संहारक नहीं हो सकते, उसी प्रकार विघ्नेश विघ्नविनाशक किस प्रकार हो सकते हैं। समस्या हमारी समझ में इतनी कठिन नहीं है, जितनी कि बनाई गई है। पहिले विघ्नों का नाश करके वे विघ्नेश्वर बन सकते हैं। प्रायः शत्रुओं का नाश करके ही उन पर स्वामित्व प्राप्त किया जाता है। विघ्नेश्वर विघ्नों का नियन्त्रण कर उनका नाश कर सकते हैं। प्रलय-काल में स्वयं जगदीश्वर ही जगत का नाश करते हैं।

विनायक शब्द के आधार पर लेखक महोदय ने गणेशजी को बुरी प्रकृति का ही देवता माना है। सम्भव है विनायक गणेशजी के सम्बन्ध में अपने व्युत्पत्ति के कारण विशिष्ट नायक के अर्थ में आता हो। उनके भाई कार्तिकेय भी तो नायक ही थे।

वेदों में गणपति का उल्लेख न होने के कारण और पुराण में गणेश का नाम न आने के कारण और भी हो सकते हैं। लेखक ने गणेशजी को आदि देवता माना है और अपनी पुष्टि में विदेशी विद्वानों तथा श्रद्धेय बाबू भगवानदासजी का मत दिया है। यह सम्भव हो सकता है आर्यों ने विजित अनार्यों के प्रति मैत्रीभाव प्रदर्शित

करने के लिए उनके कुछ देवताओं को अपनाया हो (यदि आर्यों के बाहर से आने की कल्पना सत्य मानली जाय) फिर भी उसमें दो बाधाएँ पड़ती हैं। यदि गणेशपूजा बुद्ध और महावीर स्वामी के बाद की है जैसा कि लेखक महोदय अनुमान करते मालूम पड़ते हैं तो उस समय तो अनार्यों का शमन हो चुका था और किसी को भी समझौते की आवश्यकता न थी। लेकिन अभावात्मक प्रमाण बहुत महत्व के नहीं होते। बुद्धदेव और महावीर स्वामी पूर्व के थे। सम्भव है उधर गणेश उपासना अधिक हो। दूसरे यह बात भी समझ में नहीं आती कि आर्य लोग अनार्यों के देवताओं को सबसे ऊँचा स्थान दें? रुद्र को यदि हम आर्य मानते हैं तो उनके साथ भी तो बहुत से विघ्नकारक गण रहते हैं। फिर बेचारे गणेशजी ही क्यों अनार्य ठहराये जाँय। भयंकर देवताओं की पूजा से आर्य लोग अपरिचित न थे। संहार को वे रक्षा का ही रूप मानते हैं

यह भी सम्भव हो सकता कि वैदिक गणपति शब्द के आधार पर ही प्रारम्भ में गणेशजी की कथाएँ रची गई हों। चूहे के द्वारा गणेशजी और रुद्र का सम्बन्ध भी हो जाता है। लेखक के अनुसार आखु (चूहा) रुद्र का पशु माना गया है।

इन विवाद-ग्रस्त प्रश्नों को ध्रुव सत्य मान लेना मेरी बुद्धि में नहीं आता। आर्यों के बाहर से आने की कल्पना भी अभी विवादग्रस्त कोटि से बाहर नहीं हुई है। मतभेद रखते हुए भी हम विद्वान लेखक के परिश्रम और अध्यवसाय की सराहना करते हैं। हम उसे खोज और अनुसन्धान के क्षेत्र से बाहर नहीं मानते किन्तु उनमें दोनों पक्षों के विवरण की आवश्यकता है।

हमारे सनातनधर्मी भाई पुस्तक में उठाई हुई शंकाओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करेंगे। अश्वमेध सम्बन्धी 'गणानांत्वा' वाले मन्त्र का केवल गण शब्द के कारण गणेश से सम्बन्ध हो गया है या वैदिक भावों में भी उसका उल्लेख है? यह एक जिज्ञासा की बात है। लेखक ने इस विषय पर विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला है और सुन्दर चित्रों से पुस्तक को अलंकृत किया है—इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

—गुलाबराय

प्राप्ति-स्वीकार

निम्नलिखित पुस्तकें भी मिल गई हैं। प्रेषक महोदयों को धन्यवाद है—

१—गीता-हृदय—लेखक भवानीप्रसाद तिवारी, प्रका० सुषमा-साहित्य-मन्दिर, जबलपुर। पृ० ९६, मू० १)

२—भजनोद्यान—लेखक श्री गोविन्दनारायण नातू, प्रकाशक शिवाजी बुकडिपो, लखनऊ। पृष्ठ ३२, मूल्य ≥)

३—हिन्दी-गीता—लेखक हरिभाऊ उपाध्याय, प्र० सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली। पृष्ठ ८५, मूल्य ॥)

४—विजय और भारत—ले० श्री पूरनचन्द्र जोशी, प्र० जन प्रकाशन गृह, बम्बई। पृष्ठ २८, मूल्य ।)

५—समाजवाद—वैज्ञानिक और काल्पनिक ले० फ्रेडरिक ऐंगल्स, प्र० जन प्रकाशन गृह, बम्बई। पृष्ठ, ५९, मूल्य ।।≥)

६—निशीथ—ले० ब्रह्मदेव, प्र० भारती कुटीर, गया। पृष्ठ २४, मूल्य ।)

७—बसन्त विहार—ले० श्री तपेश्वरसिंह, तपस्वी बी० ए०, वकील, गया। मूल्य ।-)

८—पातञ्जल योग और श्री अरविन्द की योग पद्धति—लेखक स्वामी ओमानन्द, प्र० पातञ्जल योग प्रकाशन प्रबन्ध परिषद्, मोहन आश्रम, हरिद्वार। पृष्ठ ४०, मूल्य ।।।)

९—हिन्दुस्तान की बुलबुल (सरोजिनी नायडू)—ले० श्री रामानन्द शर्मा, प्र० दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा, मदरास। पृष्ठ २४, मूल्य ।≥)

१०—मूल रामायण (सटीक)—टीकाकार पं० हरिदत्तजी शास्त्री एम० ए०, प्रका० साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ ४०, मूल्य ।≥)

११—झुनझुना की कहानियाँ—प्रकाशक झुनझुना कार्यालय, आगरा। पृष्ठ १६, मूल्य ≥)

१२—बालहित-चिन्तक—ले० श्री पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, प्र० चपल कार्यालय, लश्कर। पृष्ठ १६ मूल्य ≥)॥

१३—व्यावहारिक शब्दकोश—ले० श्री रामनाथजी शर्मा, प्र० हिन्दी साहित्य सभा, लश्कर। पृष्ठ ४५, मू० ।≥)

१४—मंगलमय महावीर—ले० पं० हरिशंकरजी शर्मा, प्र० साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा। पृष्ठ १६

सामयिक-प्रसंग

महात्माजी और सम्मेलन—

हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर महात्मा गान्धी और श्रद्धेय टंडनजी में कुछ पत्र व्यवहार हुआ था जो पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। महात्माजी ने सम्मेलन की वर्त्तमान नीति से विरोध दिखाते हुए सम्मेलन से अपना त्यागपत्र दिया था। २७ सितम्बर की सम्मेलन की स्थायी समिति ने इस त्यागपत्र पर विचार कर के महात्माजी से अनुरोध किया है कि वे सम्मेलन से अपना सम्बन्ध न तोड़ें। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और नागरी को राष्ट्र-लिपि मानते हुए भी महात्माजी के हिन्दुस्तानी प्रचार कार्य को समिति ने अपने कार्य से संघर्ष होने की बात नहीं मानी है। समिति के इस प्रस्ताव का हम समर्थन करते हैं और उसे उचित मानते हैं। महात्माजी जिस दृष्टिकोण से इस मामले को देख रहे हैं उसे हम तर्क संगत और उचित नहीं मानते। उसमें केवल एक भावना मुसलमानों को संतुष्ट रखने की है जो अब तक के अनुभव से उपादेय नहीं साबित हुई। फिर भी यदि महात्माजी उसे ठीक समझते हैं तो वे जैसा ठीक समझें कर सकते हैं पर उनका सम्मेलन से अलग होना किसी प्रकार भी आवश्यक नहीं है। और सम्मेलन की दृष्टि से महात्माजी का उससे अलग होना बहुत बुरा है। महात्माजी ने हिन्दी और सम्मेलन की जो सेवा की है और सम्मेलन को और हिन्दी को महात्माजी से जो शक्ति मिली है वह वास्तव में अपार है। ऐसी दशा में हम यह सोच भी नहीं सकते कि महात्माजी सम्मेलन से अलग हो सकते हैं। महात्माजी ने स्वयं भी अपने एक पत्र में यह लिखा है—'हि० सा० स० में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है। लेकिन जैसे मैं कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा।' महात्माजी के यह वाक्य बड़ा अर्थ रखते हैं। ऐसी दशा में स्थायी समिति का अनुरोध मानकर महात्माजी अपना त्याग-पत्र वापस ले लें तो बहुत अच्छा हो। न लें तो भी हम यही आशा करेंगे कि महात्माजी ने इसी में हमारा हित समझा है।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास का स्मृति अङ्क—

जैसा कि पिछले अङ्क में सूचित किया जा चुका है बाबू श्यामसुन्दरदासजी की पुण्य स्मृति में हम लोग 'साहित्य सन्देश' का एक विशेषाङ्क निकालना चाहते हैं। बाबूजी का कार्यक्षेत्र बहुमुखी था और उनका व्यक्तित्व महान् था। उनके स्वरूपानुरूप विशेषाङ्क निकालना इस समय हमारी शक्ति से बाहर है। फिर भी हम चाहते हैं कि अङ्क अच्छा निकले और उसमें उनके सभी कार्यों पर प्रकाश डाला जा सके। इस अङ्क को हम दिसम्बर-जनवरी के संयुक्त अङ्क के रूप में निकालेंगे। इसके लिए हम उनके अनेक शिष्यों तथा इष्टमित्रों से निवेदन करेंगे कि वे स्मृति अङ्क की सामग्री के प्रस्तुत करने में हमारा हाथ बटावें। लेख संस्मरण आदि साहित्य सन्देश के कार्यालय में १५ नवम्बर तक आजाना चाहिए। प्रस्तावित विषय-सूची नीचे दी जाती है। इस सम्बन्ध में और सुझावों का भी हम स्वागत करेंगे। लेख १५ नवम्बर तक आ सकते किन्तु इस कार्य में सहयोग देनेवाले सज्जन हमको शीघ्राति-शीघ्र सूचित कर दें कि वे किस विषय पर लेख भेजने की कृपा करेंगे, तो बड़ा अच्छा हो।

जीवन—

१—आत्म-कथा के मार्मिक अंश

२—बाबूजी के जीवन वृत्त की एक झलक।

३—स्वभाव, व्यक्तित्व और कार्य पद्धति।

४—पारिवारिक जीवन।

५—अध्यापक के रूप में।

६—हिन्दी सेवा और नागरीप्रचारिणी-सभा।

७—संस्मरण।

सम्पादन और खोज—

१—सरस्वती एवं ना० प्र० पत्रिका

२—पृथ्वीराज रायसो

३—रामचरित मानस

४—शब्द सागर

५—अन्य सम्पादन कार्य और संग्रह ग्रन्थ

६—खोज रिपोर्ट

७—उनके सम्पादन कार्य पर विद्वानों की सम्मतियाँ।

मौलिक रचनाएँ—

१—साहित्यालोचन में बाबूजी का आचार्यत्व

२—भाषा विज्ञान को बाबूजी की देन

३—हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवरण

४—तुलसीदास आदि आलोचना ग्रन्थ

५—बाबूजी के निबन्ध

६—बाबू श्यामसुन्दरदासजी की आलोचना पद्धति और आलोचकों में स्थान

७—बाबूजी की गद्य शैली

सन्देश और श्रद्धाञ्जलियाँ

आगरे की साहित्य परिषद्—

सैन्ट जान्स कालेज आगरे की हिन्दी सभा ने २१ और २२ अक्टूबर को 'समालोचना के मान' पर विचार-विनिमय करने के लिए एक साहित्य परिषद करने की आयोजना की है। उसमें विचारणीय विषय निम्नप्रकार हैं। हम इन विषयों पर स्वतन्त्र लेखों का स्वागत करेंगे:—

१—आपकी दृष्टि में शास्त्रीय समालोचना का मूल्य क्या है?

२—क्या आनन्द स्वयं आलोचना का एक मूल्य हो सकता है?

३—सौन्दर्य के साथ क्या उपयोगिता और आचार का प्रश्न सम्बद्ध किया जा सकता है?

४—प्रभाववादी आलोचना का मूल आधार क्या है?

५—आधुनिक समालोचना की मूल प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं और हमारी साहित्यिक प्रगति के लिये उनका क्या मूल्य है?

६—क्या आप यह समझते हैं कि प्रगतिवादी के लिये प्राचीन साहित्य और रस-सिद्धान्त से पराङ्मुख होना आवश्यक है?

खेद जनक प्रवृत्ति—

पटना से श्री सेवाधर झा सूचित करते हैं कि 'साहित्य-सन्देश' के अगस्त अङ्क में प्रकाशित 'दिनकर की नारी भावना' शीर्षक श्री मुक्तिप्रसादजी का लेख उनके 'ऊषा' में प्रकाशित लेख की छाया या नकल है। आपने इसे प्रमाणित करने के लिए दोनों लेखों के कई उद्धरण भी दिये हैं जिनसे आपके कथन की पुष्टि होती है। साहित्य सन्देश एक ऐसा पत्र है जिसे प्रायः सभी लेखक और साहित्यिक बड़ी रुचि और बड़े ध्यान से देखते हैं। उसमें प्रकाशित कोई लेख अँधेरे में छिप नहीं सकता। ऐसी दशा में साहित्यिक चोरी करनेवाले लेखक इस सेवा से साहित्य सन्देश को बंचित ही रक्खें तो अच्छा है। अगर उन्हें अपने नाम को छपाने की अभिलाषा ही हो तो उनके लिए सैकड़ों और पत्र मौजूद हैं। हम श्री सेवाधरजी के कृतज्ञ हैं जिन्होंने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करने की कृपा की।

श्रीनिवासदास पुरस्कार—

यह १०१) का पुरस्कार व्रज साहित्य मंडल की ओर से जीवित लेखकों को व्रजभाषा साहित्य की किसी मौलिक कृति पर इस वर्ष दिया जायगा। पुरस्कार के लिए प्राप्त रचनाएँ ६ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक रचना की ६ प्रतियाँ प्रधान कार्यालय मथुरा में दीपावली तक पहुँच जानी चाहिए।

रामचरणलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में [illegible] साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।

सम्पादक
गुलाबराय एम. ए.
प्रकाशक
महेन्द्र
नवम्बर १९४२

हिन्दी की नई पुस्तकें

साहित्य और आलोचना

पत्र और पत्रकार—कमलापति शास्त्री ५)
राष्ट्रभाषा पर विचार—चन्द्रबली पांडेय १।।)
निबन्धों की रूपरेखायें—प्रेमनारायण टंडन ।–)

नाटक

दानवीर कर्ण—महावीरप्रसाद शुक्ल ≡)
एकांकिका—चन्द्रकिशोर जैन २)

कविता

सती परित्याग—महावीरप्रसाद शुक्ल ≈)।।
वंशी-रव—दिनेश नन्दिनी १)

कहानी

उदय-अस्त—पृथ्वीनाथ शर्मा २।)
अष्ट दल—'प्रसाद' परिषद १)
टीला—द्विजेन्द्रनाथ १।।)
डंडे की करामात—श्रीनादान १)
मणि-दीप—विनोदशंकर व्यास १)
संसार की सर्वोत्तम कहानियाँ—ज्ञानचन्द्र जैन ३)
उजाला—अरुण बी० ए० १।)
उजाले से पहिले—मधुसूदन १।।)
वह—अम्बालाल जोशी १।।)
दहकते अंगारे—नरोत्तमप्रसाद नागर १।–)

उपन्यास

विकल विश्व—विष्णुदेव तिवारी १)
यह बदलती दुनियाँ—गोपीनाथ योगेश्वर १)
सन्यासिनी—जगदेवसिंह १)
सजनी—सिद्धविनायक २।।)
मनुष्य का मूल्य—रामनिवास मिश्र ३।)
लम्बोदर त्रिपाठी—गिरिजादत्त शुक्ल ३)
मैं—रघुनाथसिंह २।।)
दिव्या—यशपाल ३।।)

विषय-सूची

राजनीति

युद्ध के बाद शिक्षा सम्बन्धी विकास की योजना—
पृथ्वीनाथ शर्मा १)
समाजवाद—आचार्य नरेन्द्रदेव ।।।)
बापू और मानवता—कमलापति शास्त्री ४।।)
जापान और पैस्फिक का मोर्चा—
एल-एस० मिश्र १।)

धार्मिक

तसव्वुफ अथवा सूफीमत—चन्द्रवली पांडेय ३)

बालोपयोगी

नया जादूगर—विष्णुदेव तिवारी ।≈)
बच्चों का खेल " ।≈)
जादू का महल " ।≈)
गदहे राम विलायत को—शेखर ।।)

भाग ७] आगरा, नवम्बर १९४५ [अङ्क ८

साहित्य का मानदण्ड

डा० देवराज

[शारीरिक सौन्दर्य की भाँति काव्य के सौन्दर्य का मान भी बहुत ही विवादग्रस्त विषय है। लेखक महोदय ने आलोचना के विभिन्न मानदण्डों की विद्वत्तापूर्ण विवेचना करते हुए हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि ये मानदण्ड कोई निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं हो सकते। जिस प्रकार आधार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'महाजनो येन गतः स पन्थः' उसी प्रकार वे वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे आदि महाकवियों की कृतियों की विशेषताओं को ही काव्य का मानदण्ड मानते हैं। वास्तव में देखा जाय तो आचार्यों के सैद्धान्तिक नियम भी इनके ऊपर ही निर्भर हैं।

लेखक महोदय ने इन महाकवियों को कृतियों की विशेषताओं में तीन गुण बताए हैं, वे हैं—व्यापकता, गम्भीरता और मौलिकता। इन तीनों का ही मानव-जीवन से सम्बन्ध है।

प्रोफेसर साहब साहित्य में एकाङ्गीयता और प्रान्तीयता के पक्षपाती नहीं हैं।

—सम्पादक]

साहित्यिक मूल्यांकन की चेष्टा साहित्य-सृष्टि के साथ ही लगी चली आयी है। और इस प्रश्न का कि साहित्य का मूल्याङ्कन कैसे हो समाधान करने की कोशिश भी उक्त चेष्टा के समानान्तर चलती रही है। इन चेष्टाओं का इतिहास एक बात को स्पष्ट रूप में प्रमाणित करता है, कि मूल्यांकन के प्रकार एवं मान बदलते रहे हैं। संभवतः यही कथन नैतिक तथा अन्य प्रकार के मानों के सम्बन्ध में लागू है और हम देखेंगे कि विभिन्न क्षेत्रों के मानों में परिवर्तन होने के नियम अन्योन्य से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं।

यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ साहित्य अथवा सदाचार के नियम साहित्यिक कृतियों एवं श्रेष्ठ आचरण-सम्बन्धी अनुभव के बाद बनाए गए रामायण अथवा महाभारत के प्रणयन के बाद ही महाकाव्य के स्वरूप और उसके नियमों की धारणा या चेतना जगी होगी और शुभाशुभ आचार तो समाज एवं सभ्यता के जन्म के साथ ही लगा

हुआ है। ध्यान देने की बात यह है कि श्रेष्ठ काव्य के नियामक नियमों की धारणा में अजस्र परिवर्तन होता आया है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार साहित्यिक प्रबन्ध का नायक धीरोदात्त अथवा धीरललित, सुन्दर, शिष्ट तथा सदाचारी होना चाहिए किन्तु आज इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। कहा जा सकता है कि आज का उपन्यास प्राचीन महाकाव्य का ही उत्तराधिकारी अथवा गद्य-संस्करण है और उसमें सब प्रकार के नायक-नायिकाओं एवं पात्रों का वर्णन रहता है। वस्तुतः आधुनिक उपन्यास का विषय मानवता की नितान्त जटिल सभ्यता और जीवन है, विशेष व्यक्तियों का जीवन-वृत्त नहीं, जैसाकि उसकी बाह्य रूप-रेखा से प्रतीत होता है। इसी प्रकार काव्य-सम्बन्धी नियमों में भी काफी परिवर्तन हो गया है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आज जहाँ हमारी साहित्य-सम्बन्धी धारणा एवं साहित्य-सृष्टि के नियमों में बहुत कुछ विपर्यय हुआ है—और आज भी इनके सम्बन्ध में मतैक्य प्राप्त नहीं है—वहाँ प्राचीन कलाकारों एवं उनकी कृतियों के मूल्य में, स्वयं हमारी दृष्टि में, विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी हम वाल्मीकि और कालिदास को महाकवि मानते हैं; इसी प्रकार यूनान के प्राचीन नाटककारों तथा कवियों की महत्ता भी अक्षुण्ण है। अवश्य ही इस नियम के अपवाद हैं, माघ और बाणभट्ट अथवा श्रीहर्ष आज हमें उतने बड़े नहीं दिखाई देते जितने कि वे अपने युग के आलोचकों को लगते थे। किन्तु इसका कारण शायद यही है कि यह कलाकार आन्तरिक प्रेरणा की अपेक्षा आलोचना शास्त्र के नियमों पर अधिक निर्भर करते रहे। सम्भवतः उस काल के भी अधिकांश सहृदय पाठक जानते थे कि दुरूह श्लेष आदि के बाँधने में कुशल यह कविगण वाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष नहीं है।

यदि साहित्य-सृष्टि के नियम इतने परिवर्तनशील हैं और यदि अपेक्षाकृत श्रेष्ठ कृतियों की महत्ता सार्वकालिक है तो नियमों के बदले उन कृतियों को ही कलात्मक श्रेष्ठता का मापक क्यों न मान लिया जाय? वस्तुतः अज्ञातरूप से प्रायः सभी आलोचक उक्त मानदण्ड का प्रयोग करते हैं; आवश्यकता इस बात की है कि हम सचेतन भाव से उसे ग्रहण करलें और उसे प्रयुक्त करने के नियमों को स्पष्टता से समझ लें।

उक्त मानदण्ड को ग्रहण करने का अर्थ मूल्याङ्कन सम्बन्धी किन मान्यताओं का विरोध अथवा परित्याग करना है यह हम शीघ्र ही देखेंगे। किन्तु इससे पहले हम यह देखने की चेष्टा करें कि मूल्यांकन का यह पैमाना किन्हीं दूसरे क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है या नहीं। वस्तुतः इस पैमाने का व्यवहार जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में बराबर होता है। मूल्यांकन का उद्देश्य एक कोटि के पदार्थों की तुलना कर सकना है—जैसे हम वाल्मीकि और होमर अथवा शेक्सपियर और कालिदास किंवा बुद्ध और ईसा की तुलना करते हैं। तुलित पदार्थों, कृतियों या व्यक्तियों, का आपेक्षिक मूल्य आँकते समय हमारी दृष्टि प्रायः किसी आदर्श पर टिकी रहती है। उच्चतर व्यक्तियों अथवा कृतियों के आविर्भाव के साथ ही हमारा यह आदर्श भी बदल जाता है और हमारा मूल्यांकन नवीन आदर्श के अनुकूल चलने लगता है। यही नहीं, एक ही काल में हमारे सामने अनेक ऊँचे आदर्श रह सकते हैं जिनकी सहायता से हम तरह-तरह के व्यक्तियों अथवा कृतियों का महत्व आंक सकते हैं। कारण यह है कि महत्ता एक ही प्रकार की नहीं है। जहाँ बुद्ध और अशोक बड़े दिखाई देते हैं वहाँ नेपोलियन और बिस्मार्क भी हमें अभिभूत किये बिना नहीं रहते; हम हिटलर और महात्मा गान्धी दोनों की महत्ता से चकित होते हैं। इसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' और 'शाकुन्तल' दोनों हमारी कल्पना को स्पर्श करते हैं।

प्रत्येक युग में परीक्षकों को किसी भी क्षेत्र में उच्चतम आदर्श पर दृष्टि रखनी पड़ती है। नैतिक श्रेष्ठता पर विचार करते हुए आज हम महात्मा गान्धी को नहीं भूल सकते। यही नहीं, परवर्ती युगों में, यदि इतिहास नष्ट नहीं हो गया है, तो पिछले युगों के आदर्शों का भी ध्यान रखना होता है। वस्तुतः देश और काल दोनों ही में होने वाला दृष्टि-प्रसार हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करता है। यही कारण है कि जातीय एवं राष्ट्रीय अभिमान के रहते हुए भी योरुपीय इतिहास से परिचित होने के बाद हम राणा प्रताप तथा शिवाजी को सीजर एवं नेपोलियन का समकक्ष

घोषित करते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। हमारे देश में भी विजयी सैन्य-संचालक वीर उत्पन्न हुए हैं, इसके निदर्शन पाने के लिए हम प्रायः अपने देश के प्राचीन इतिहास की ओर देखने लगते हैं। अथवा हम विभिन्न महत्ताओं की पारस्परिक तुलना करके यह निष्कर्ष निकालने लगते हैं कि वह महत्ता जिसकी अभिव्यक्ति हमारे ऐतिहासिक पुरुषों में हुई है अधिक उदात्त अथवा श्लाघ्य है। इस प्रकार की तुलना में भी महत्वशाली व्यक्ति एवं कृतियाँ स्वयं एक दूसरे का मापक बन जाती हैं। ऊपर के निदर्शन से यह भी स्पष्ट है कि मूल्यांकन के लिए केवल अपने युग पर दृष्टि रखना पर्याप्त नहीं होता अपितु मानवता के उपलब्ध अतीत को भी सांस्कृतिक आवेष्ठन (Cultural Environment) का भाग मान लेना पड़ता है। यह बात साहित्यक मूल्यांकन के क्षेत्र में उतनी ही लागू है जितनी कि किसी दूसरे क्षेत्र में। बल्कि कुछ दृष्टियों से साहित्यिक मूल्यांकन में अतीत युगों पर ध्यान रखना अधिक समुचित है क्योंकि साहित्यानुशीलन हमारी जिस रागात्मिका-वृत्ति अथवा भावुक अन्तःप्रकृति को प्रभावित करता है वह हमारे बहिरंग आचार एवं बौद्धिक विश्वासों की अपेक्षा कम परिवर्तनशील है।

जैसा कि हम संकेत कर आए हैं मूल्यांकन सम्बन्धी हमारा यह मन्तव्य कतिपय प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध पड़ता है। एक ऐसी धारणा यह सिद्धान्त है कि साहित्य की परीक्षा भीतर से होनी चाहिए, बाहर से नहीं। उदाहरण के लिए आई० ए० रिचर्ड्स् ने किसी आलोचक की आलोचना करते हुए लिखा है कि—

This type of adverse criticism, objection brought to a poem for not being quite a different poem, without regard paid to what it is as itself, ought to be less common .... no poem can be judged by standards external to itself. (Practical Criticism)

अर्थात् किसी कविता को इसलिए बुरा नहीं कहा जा सकता कि वह अपने से भिन्न किसी दूसरी कोटि की कविता नहीं है। कोई भी कविता अपने से बहिरंग मानों द्वारा नहीं आँकी जा सकती। अभिव्यञ्जनावादी स्पिनगार्न का भी कुछ ऐसा ही मत है। उसके अनुसार आलोचक को यान्त्रिक नियमों अथवा मानों का प्रयोग करने के बदले यह देखने की चेष्टा करनी चाहिए कि कलाकार क्या व्यक्त करना चाहता था और वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टिकोण में सत्यता का अंश है, यद्यपि उस अंश को बुद्धि-गम्य भाषा में प्रकट करना सरल नहीं है। कालिदास के मेघदूत को यदि हम इस दृष्टि से आँकना चाहें कि उसने दलितों के उद्धार में कितनी सहायता की है, एवं गोर्की या कुप्रिन की कृतियों की तुलना में उसका क्या स्थान है तो यह हमारी मूर्खता होगी। इसी प्रकार यह प्रश्न करना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से 'शाकुन्तल' श्रेष्ठ है अथवा 'हैमलेट' समीचीन नहीं है। किन्तु किसी भी दशा में हमें यह प्रश्न तो उठाना ही होगा कि काव्य-विशेष में अभिव्यक्त अनुभूति कितनी महत्वपूर्ण है। और इस प्रश्न का उत्तर केवल यह संकेत कर देना नहीं है कि कलाकार अपने को व्यक्त करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है। उसकी अभिव्यक्तिगत सफलता का कारण मूल अनुभूति का साधारण अथवा परम्पराभुक्त होना भी हो सकता है। प्रश्न यह है कि हम कलाकार की उद्दिष्ट अथवा अभिव्यक्त अनुभूति का मूल्यांकन किस प्रकार करें? अथवा यह मान लिया जाय कि इस प्रकार का मूल्यांकन अभीष्ट नहीं है? किन्तु उस दशा में हम सफल पद्य-निर्माता पोप तथा शेक्सपियर में किस प्रकार मूल्यगत भेद कर सकेंगे?

दूसरी धारणा जो हमारे मन्तव्य के विरुद्ध पड़ती प्रतीत होती है यह है कि किसी कला-कृति के मूल्यांकन में हमें मुख्यतः यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि उसका अपने युग से क्या सम्बन्ध है। जिसे ऐतिहासिक आलोचना कहते हैं वह मुख्यतया कवि के युग, वातावरण, जाति (Race) एवं कलासम्बन्धी मान्यताओं का अन्वेषण करती है। अवश्य ही इस प्रकार की आलोचना हमें यह समझने में सहायता देती है कि क्यों विशिष्ट कलाकृति ने विशिष्टरूप धारण किया, अथवा किन शक्तियों

द्वारा उसका प्रस्तुत रूप निर्धारित हुआ; पर वह आलोचना उस कृति का मूल्य आँकने में भी सहायक होती है, इसमें सन्देह है। किन्तु 'युग' को कला का मापक बनाने के पक्षपाती एक दूसरे ढंग की कसौटी भी सामने रखते हैं — क्या कलाकार ने अपने युग अथवा परिस्थितियों से प्रगतिशील समझौता किया है, क्या वह उन शक्तियों का प्रभावपूर्ण निर्देश कर पाया है जो उसके युग को आगे बढ़ा सकती हैं? इस कथन के बाद कि आलोचक को गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर रचयिता के मन को परखना चाहिए, अज्ञेय कहते हैं—"हमारी समझ में कलाकार के मन की परख के लिए यह देखना आवश्यक है कि अपनी परिवृत्ति से उसका सम्बन्ध कैसा है, यथार्थ के आघात के प्रति उसका रवैया क्या है, उससे क्या प्रतिक्रिया उसमें होती है। (परिस्थिति और साहित्यकार)

इस धारणा में भी बहुत कुछ सत्य है, पर साथ ही वह कुछ अस्पष्ट और भ्रामक भी है। ज्ञान की भाँति कला भी आवेष्ठन के प्रति प्रतिक्रिया होती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु आवेष्ठन एवं युग दोनों ही की व्याख्या करना सरल नहीं है। बहुत से प्रगतिवादी आलोचक-युग को मनुष्यों के आर्थिक एवं सामाजिक अथवा वर्गगत सम्बन्धों का पर्याय समझते हैं। किन्तु हमारे युग अथवा आवेष्ठन में मानवता का सम्पूर्ण इतिहास समाया हुआ है और मनुष्य की सारी आशाकांक्षाएँ, उसकी हारें और जीतें, उसके संशय और सन्देह, प्रश्न और समाधान सब उसमें सन्निविष्ट हैं। इस दृष्टि से मानवी आवेष्ठन निरन्तर अधिक जटिल एवं विस्तृत होता जा रहा है। इस आवेष्ठन की कलात्मक व्याख्या का प्रयत्न भी अधिकाधिक संश्लिष्ट होता जा रहा है और उसके अनुष्ठान में कलाकार को इतिहास के सब युगों से सहायता एवं स्फूर्ति लेना आवश्यक हो गया है। इस दृष्टि से यह भी देखा जा सकता है कि किस प्रकार आज की कला प्राचीन काल से आती हुई सांस्कृतिक शृंखला की ही एक कड़ी बन जाती है और यह असम्भव नहीं है कि मानव-सभ्यता के भौतिक इतिहास की सहायता के बिना ही उसके सांस्कृतिक पहलू को समझा जा सके।

काव्य की अन्तरंग परीक्षा एवं उसकी युगापेक्षी समीक्षा इन दोनों दृष्टिकोणों की आंशिक सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हम उन्हें पर्याप्त नहीं समझते। हम मानते हैं कि अन्ततः किसी सांस्कृतिक प्रयत्न के मूल्यांकन के लिए हमें उसे दूसरे समान प्रयत्नों से तुलित करना पड़ेगा और यह दूसरे प्रयत्न युग-विशेष तक ही सीमित नहीं किए जा सकते। उपर्युक्त मान्यताओं के हिमायतियों से हम एक प्रश्न करते हैं—साहित्यिक आलोचक के लिए श्रेष्ठ साहित्य का अनुभव अपेक्षित है या नहीं? हमारा विश्वास है कि एक ऐसा आलोचक जिसे अतीत और वर्तमान की श्रेष्ठ कलाकृतियों से परिचय नहीं है, किसी नवीन साहित्यिक कृति की उचित परख नहीं कर सकता। वह कृति विशेष को न भीतर से देखकर आँक सकता है, न युग की आवश्यकताओं की कसौटी पर कस कर। साहित्यिक अनुभूति के अभाव में वह यह भले ही निर्णय कर सके कि कोई कृति देश की दुरवस्था दूर करने के लिए कितनी उपयोगी है अथवा युद्ध के संचालन में कहाँ तक सहायक होती है पर वह उसका कलात्मक मूल्य हर्गिज न आँक सकेगा। उदाहरण के लिए गुप्तजी की 'भारत भारती' अपनी सृष्टि के समय, देश को आगे बढ़ाने वाली कृति कही जा सकती थी; पर इसी से उसके कलात्मक मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता था। साहित्य-समीक्षक के लिए विस्तृत साहित्यिक अनुभव अपेक्षित है इसे रिचर्ड्स और स्पिनगार्न दोनों ने ही स्वीकार किया है।* किन्तु यह अनुभव क्यों अपेक्षित है, इसका विचार करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की है।

महाकवियों की वाणी से परिचय हमें आलोचना कार्य किस प्रकार सहायता देता है? और उस परिचय को मूल्यांकन के क्षेत्र में किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर पाने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि सांस्कृतिक मूल्यांकन के किसी भी क्षेत्र

* तु० की० रिचर्ड्स, good reading, in the end, is the whole secret of good judgement (वही पृष्ठ ३०५)

में वैज्ञानिक कथनों की भाँति नपे-तुले निर्णय सम्भव नहीं हैं। वहाँ हम अधिक से अधिक किसी व्यापार, कृति अथवा व्यक्तित्व को उत्कर्ष की एक विशेष श्रेणी में रख सकते हैं। किसी कृति अथवा कलाकार के सम्बन्ध में हमारा निर्णय इससे आगे नहीं जा सकता कि वह प्रथम, द्वितीय अथवा किसी अन्य श्रेणी में परिगणित होने योग्य है। कालान्तर में, स्वीकृत प्रथम कोटि की वस्तु से उच्चतर वस्तु का प्रादुर्भाव होने पर, ऐसे निर्णय में परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु आज ऐसे परिवर्तन की सम्भावना कम रह गयी है—आज हमें इसकी कम आशा है कि अगले दो-चार हजार वर्षों में हम कालिदास और शेक्सपियर से बड़े कलाकार एवं बुद्ध और ईसा से महत्तर व्यक्तित्व उत्पन्न कर सकेंगे। महत् कृतियों अथवा व्यक्तियों का सम्पर्क हम में एक अनिर्वाच्य उत्कर्ष की भावना उत्पन्न कर देता है जिसकी तुला पर हम नवीन प्रयत्नों एवं लब्धियों (Achievement) को तोल सकते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का सम्पर्क हममें उत्कर्ष के विभिन्न धरातलों को पहचानने की क्षमता प्रस्फुरित कर देता है।

प्रोफेसर जोड ने एक जगह लिखा है कि जो लोग वर्तमान काल में विचारक बनना चाहते हैं उनका एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वे अतीत महापुरुषों की वाणी अथवा विचारों से परिचय प्राप्त करें। इस प्रकार का परिचय उनकी सम्मति में संस्कृति का आवश्यक अंग है। मानवता की अतीत सांस्कृतिक लब्धियों, उसकी कला और विचार-वैभर्ष आदि के ज्ञान से क्या लाभ होता है? उनका उत्तर है—

They build up certain standards of literary and intellectual taste which while they neither guarantee originality nor contribute to power of thought at least prevent a thinker from making a fool for himself.*

* दे० रिटर्न टु फिलासफी पृ० ३६

अर्थात् इस प्रकार के परिचय से साहित्यिक एवं बौद्धिक अभिरुचि उत्कर्ष के एक धरातल अथवा मानदण्ड की चेतना प्राप्त करती है जो हास्यास्पद चिन्तन-प्रयत्नों में विरक्ति उत्पन्न कर देती है। उच्चकोटि के विचारकों अथवा कलाकारों का परिचय रखने वाला व्यक्ति अपनी उन रचनाओं को प्रकाश में लाते हुए संकोच का अनुभव करेगा जो बहुत नीची श्रेणी की हैं। यह शिक्षा सभी प्रकार के लेखकों एवं विचारकों के लिए उपादेय है।

क्या उस मूल्यांकन-भावना का, जो महान् कृतियों के अध्ययन से प्राप्त होती है, कोई बौद्धिक विवरण या विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है? अवश्य ही आलोचकों को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। महान् कलाकारों की अनुभूति में क्या विशेषताएँ रहती हैं, इसका सामान्य विवेचन करने की चेष्टाएँ कम हुई हैं। इसके विपरीत उनकी शैलीगत अथवा बहिरंग विशेषताओं का विवरण देने में बहुत परिश्रम व्यय हुआ है। संक्षेप में कहें तो उच्चकोटि की साहित्यिक अनुभूति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं अर्थात् व्यापकता और गम्भीरता। महान कलाकारों की वाणी अपनी समग्रता में हमें जीवन के विस्तृत चित्रपट से परिचित कराती है और उसकी अर्थभरी छवियों से हमारा गहरा सम्बन्ध स्थापित करती है। जहाँ अपने बाह्य रूप में वह वाणी स्पष्ट, प्रभावपूर्ण और अर्थशालिनी लगती है, वहाँ अपने आन्तरिक रूप में वह जीवन की गहराइयों और मर्म-छवियों को स्पर्श करने वाली होती है। इसके विपरीत निम्न श्रेणी की कला में रचना का आडम्बर एवं कल्पना का चमत्कार ही प्रधान रहता है; वह जीवन एवं हृदय के मर्मस्थल को नहीं छूती, विश्व की ऊपरी झाँकी द्वारा चेतना का मनबहलाव करके ही रह जाती है।

बड़े कलाकारों की वाणी में एक और विशेषता होती है, नवीनता या मौलिकता। श्रेष्ठ कलाकार विश्व को अपनी दृष्टि से देखता है और साक्षात् जीवन से प्रेरणा लेता है, इसलिए उसकी दृष्टि अतीत कलाकारों की आवृत्ति नहीं मालूम पड़ती। हो सकता है कि वह अतीत की महत्वपूर्ण दृष्टियों का, ज्ञात या अज्ञात भाव से,

सन्निवेश करले; किन्तु उसकी सृष्टि में वे दृष्टियाँ उसकी अपनी दृष्टियों से नितान्त नये ढंग से सम्बद्ध होकर निराली अनुभव समष्टियों को उत्सृष्ट कर देती हैं और इस प्रकार स्वयं भी एक नूतन रूप धारण कर लेती हैं। कलाकार जीवन का मौलिक द्रष्टा होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरे कलाकारों अथवा वैज्ञानिक विचारकों की उपेक्षा करता है। कलात्मक मौलिकता का ज्ञान से कोई विरोध नहीं है और यह आवश्यक नहीं है कि कलाकार विज्ञान और दर्शन की ज्ञान-सामग्री से अपने को वंचित रखे। इसके विपरीत प्रत्येक युग के कलाकार को अतीत एवं सम सामयिक विचार-राशि का काफी परिचय रखना आवश्यक होता है। आधुनिक काल के बर्नार्डशा, आल्ड्स हक्सले, इलियट आदि लेखक हमारे कथन की सत्यता का निदर्शन है। स्वयं हमारे रवीन्द्र भी काफी अधीत लेखक थे। किन्तु कलाकार विभिन्न दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वादों को पण्डित (Scholar) की तर्क-दृष्टि से नहीं देखता वह उनका अध्ययन प्रायः जीवन और जगत् की उन मर्मछवियों की अवगति के लिए करता है जिनकी तीव्र प्रतीति ने उन वादों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया है। शास्त्रीय वाद एवं सिद्धान्त कलाकार को बाँधते नहीं, जैसा कि पंडितों तथा इतर पाठकों के साथ होता है; वे केवल उसके दृष्टि-प्रसार में सहायक होते हैं, उसकी जीवन-दर्शन की क्षमता को तेज करते हैं।

जीवन की क्रियाओं तथा अनुभूतियों की परिधि, उसका आवेष्ठन एवं प्रतिक्रियाएँ निरन्तर विस्तृत होती रहती हैं; इसीलिए प्रत्येक युग में नये कलाकारों की आवश्यकता होती है जो विस्तारशील जीवन-छवियों की सम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। कलाकार अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध, अधिक प्रतिक्रियालु और संवेदनशील होता है इसीलिए उसकी उक्ति नूतन लगती है। साथ ही वह युग की अव्यक्त भावनाओं को प्रकाशित भी करती है। दीपक की भाँति अपने युग अथवा वातावरण को प्रकाशित करता हुआ कलाकार स्वयं ही अपनी सीमाओं की चेतना दे देता है। युग से विच्छिन्न कलाकार की अनुभूति अन्य विशेषताएँ भले ही प्राप्त करले वह नूतन अथवा मौलिक नहीं हो सकतीं। इस दृष्टि से किसी युग का श्रेष्ठ कलाकार अतीत मानों से तुलित होता हुआ भी युग की कसौटी से पलायन नहीं कर पाता। मौलिकता अथवा नूतनता के रूप में युग, कलाकार से अपनी विशिष्ट माँग पेश करता है। इसीलिए वाणी की पूर्णता के बावजूद रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' एक प्रथम श्रेणी की कृति नहीं है। बात यह है कि श्रेष्ठ कलाकार से हम जिस चीज की आशा करते हैं वह अनुभूतिगत नूतनता है, केवल शैली की विचित्रता नहीं। इस कसौटी पर कसने से जेम्स ज्वाइस जैसे उपन्यासकार हार्डी आदि की तुलना में छोटे ठहरते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि नवीन कलात्मक माध्यम में लिखने वाला नये युग का व्याख्याता श्रेष्ठ कलाकार पहले हमारे देश या भाषा में ही उत्पन्न हो। आधुनिक युग में, देशगत सीमाओं की कृत्रिमता के कारण, इस प्रकार की संभावना और भी कम हो गयी है। इसलिए आज साहित्य में, प्रान्तीयता का बहिष्कार करके, दृष्टि-विस्तार करना नितान्त आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए उपन्यास कला का उदय पश्चिम में हुआ, अतः हो सकता है कि हमें उसके मान, उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति, वहाँ खोजनी पड़े। यों भी विभिन्न साहित्यों एवं संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सार्वभौम दृष्टि-उन्मेष अथवा सभ्यता की प्रगति के लिए आवश्यक है। ज्ञान की भाँति कला भी सार्वभौम है; भविष्य में, विभिन्न राष्ट्रों के अधिकाधिक निकट आने पर उसकी यह सार्वभौमता और भी बढ़ जायगी। अतः साहित्यिक मूल्यांकन भी अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय मानों से नियन्त्रित होने लगेगा। किसी भी भाषा में कलात्मक सृष्टि के महत्तम निदर्शन कम रहते हैं, अतः साहित्यिक उत्कर्ष के अनेक रूपों से परिचित होने के लिए अन्यदेशीय साहित्यों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा ही हम तरह-तरह की कलात्मक सृष्टि के मानों को प्राप्त कर सकते हैं। योरुप ने कोई कालिदास उत्पन्न नहीं किया और भारतवर्ष ने कोई शेक्सपियर; इसी प्रकार सूर की कविता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। अवश्य ही शेक्सपियर के अध्ययन से हम लोग, तथा सूर

और कालिदास के अध्ययन से योरुपीय लाभान्वित हो सकते हैं। दोनों ही जगह इस प्रक्रिया से साहित्यिक उत्कर्ष का धरातल ऊँचा होने की संभावना हैं।

हाल के एक लेख में बङ्गाली लेखक श्री बुद्धदेववसु ने ऊपर की मान्यता के विरुद्ध उद्‌गार प्रकट किये हैं। उनका विचार है कि समसामयिक बंग साहित्य को प्राचीन संस्कृत लेखकों अथवा अर्वाचीन अँगरेजी साहित्यकारों की तुलना द्वारा आँकने की चेष्टा उचित नहीं है, बंगाली लेखकों को उन्हीं की भाषा के कलाकारों से तुलित करना चाहिए:—

Both are wrong; for neither the standards of classical Sanskrit, nor those of English are quite suitable to Bengali literature......the time has come to create our principals of criticism by comparing one Bengali author to another. (India, June 1945)

'अब समय आ गया है कि बंग साहित्य के आधार पर साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक मानों का निरूपण किया जाय'; हमारी अपनी सम्मति इस प्रस्ताव से ठीक उलटी है। हमारा विश्वास है कि इस बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के युग में अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य में भी राष्ट्रीयता (और उससे भी अधिक संकीर्ण प्रान्तीयता) को आश्रय नहीं दिया जाना चाहिए। अपने साहित्य का उचित गर्व होना बुरी बात नहीं है, पर इसका अर्थ अन्य देशीय कलाकारों के प्रति उदासीन होना, अथवा उनकी उपेक्षा करना, नहीं है। इसी भाँति अन्य देशीय आलोचना और उसके मानों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखकों को स्वयं अपने वातावरण से लिखने की प्रेरणा नहीं लेनी चाहिए—यद्यपि यह सत्य है कि आज का लेखक विशाल मानवता की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः कला की सार्वभौमता कलाकार के अनुभूत आवेष्ठन से क्षुण्ण या सीमित नहीं होती, यदि ऐसा होता तो हम भारतीय हार्डी तथा आर्नल्ड बेनेट के उपन्यासों का रस न ले सकते। किन्तु आलोचक की संकीर्णता एक दूसरी बात है। आलोचना बौद्धिक व्यापार है और उसके मान सार्वभौम हैं, ठीक वैसे ही जैसे नीतिशास्त्र के नियम। यदि यह कहना हास्यास्पद है कि हमें अपने नैतिक नियम केवल भारतीय नैतिक जीवन को देख कर बनाने चाहिएँ, तो उक्त लेखक का प्रस्ताव भी समुचित नहीं है। अँगरेजी उपन्यासकार ई० एम० फॉर्स्टर का मत हमें अधिक समीचीन लगता है। वे कहते हैं कि 'आलोचक में प्रान्तीयता एक गंभीर दोष है।' यही नहीं, अँगरेजी उपन्यासकारों की अन्य देशीय उपन्यास लेखकों से तुलना करके वे स्वदेशीय लेखकों को छोटा घोषित करते हुए भी नहीं हिचकिचाते—

......provincialism in a critic is a serious fault.....too many little mansions in English fiction have been acclaimed to their own deteriment as important adifices........No English novelist is as great as Tolstoy—that is to say has given so complete a picture of man's life, both on its domestic and heroic side. No English novelist has explored men's soul as deeply as Dostoevsky. And no novelist anywhere has analysed the modern conciousness as successfully as Marcel proasts (Aspects of the novel Page. 17, 16)

यदि अँगरेजी जैसे समृद्ध साहित्य के लिए अन्य देशीय कलाकारों की तुलना से कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त होने की संभावना हो सकती है तो अर्धोन्नत साहित्यों का तो कहना ही क्या। वस्तुतः साहित्यिक क्षेत्र में प्रान्तीयता की भावना उत्कर्ष की अपेक्षा हीनता बुद्धि की अधिक द्योतक है। इस मनोवृत्ति से हम भले ही बड़े कलाकार उत्पन्न करने का गर्व पालें, पर उत्कृष्ट कलाकृतियों को उत्पन्न नहीं कर सकते। आलोचना का वास्तविक उद्देश्य मानवता की सांस्कृतिक चेतना अथवा श्रेष्ठ और सुन्दर की भावना का पूर्णतम विकास करना है, किन्हीं व्यक्तियों, भाषाओं या सहित्यों का महत्वस्थापन नहीं। वह समय शीघ्र ही आने वाला है, अथवा आना चाहिए। जब विश्व-विद्यालयों में अपने देश या भाषा के साधारण लेखकों की तुलना में दूसरी भाषाओं या देशों के श्रेष्ठतर कलाकारों को पढ़ाया जायगा और भिन्न देशत्व, भिन्न भाषात्व आदि का भाव जाता रहेगा। ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, यह वर्तमान वैज्ञानिक विकास का स्वाभाविक सांस्कृतिक पर्यवसान होगा।

औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता

(हिन्दी उपन्यासकारों की समीक्षा)

[२]

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०, साहित्य-रत्न

साम्यवादी दल : (१२) यशपाल (१३) अञ्चल (१४) कृष्णदास—यशपाल ने जितना अच्छा लिखा है, उतना ही उस पर बहुत कम समीक्षा रूप में कहा गया है। यशपाल के दो उपन्यास हैं दादा कामरेड और देशद्रोही। दूसरा पहिले से अपेक्षाकृत अधिक सफल है। पहिले में रोमांस और साम्यवाद घुलमिल नहीं पाये हैं। दूसरे में वे दोनों एकात्म हो गये हैं। पहिला उपन्यास शरद् बाबू के डा० सव्यसाची के आदर्श के कारण अतिरंजित चरित्र के उत्तर में गढ़ा गया। शेखर द्वितीय भाग के अन्तिम अंशों में जिस सेनापति की रहस्यमयी हलचलों का उल्लेख है, दादा कामरेड का भी मूलाधार वही व्यक्ति जान पड़ता है। परन्तु दादा कामरेड का चरित्र पुनः उतना ही कठोर, आदर्श और मानवोपरि हो गया है जितना डा० सव्यसाची का। यशपाल की शैली बहुत आकर्षक है। प्रेमचन्द के बाद यशपाल में उतने ही यथार्थवादी, आकर्षक, सजीव वर्णन मिलते हैं। देशद्रोही में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत सफल कथा है। यशपाल के सभी नायक (तर्क का तूफान कहानी संग्रह भी देखिए) दुर्बल होते हैं। नारी सबल बन जाती हैं। शैल और चन्दा इसी प्रकार की सृष्टि है। जोकि शरच्चन्द्र की आभा और कमला की बड़ी बहनें मात्र जान पड़ती हैं। यशपाल की कला में सबसे खराब अंश वह है—जहाँ वह एक सतर्क प्रचारक की भाँति पात्रों के मुँह से वही बुलवाते हैं जो कि उन्हें ईप्सित हैं। परिणामतः पाठक के मन में यह भाव पैदा हो जाता है कि हमारे साथ कोई गहरी साजिश की जा रही है। उपन्यास राजनैतिक उद्देश्य को लेकर लिखे न जाँय, यह मेरा मत नहीं, परन्तु उपन्यास में प्रचार बहुत अप्रत्यक्ष और अज्ञातरूप में हो। देशद्रोही में वह बहुत ही अधिक उग्र और स्पष्ट रूप में हुआ है। टंडन को यह उपन्यास पसन्द आने का कारण भी यही है। मैं आशा करता हूँ कि इतनी लुभावनी, सरस शैली के साथ यशपाल अपनी अगली कृतियों में इस सम्बन्ध में अधिक फिक्रमन्द रहेंगे। आज के सभी औपन्यासिकों में निस्संशय उनका भविष्य उज्ज्वलतम है क्योंकि मनोवैज्ञानिकता के लिए वे अन्य लेखकों की भाँति खींचतान नहीं करते—सीधे अपनी बात कह जाते हैं जिसमें मनोवैज्ञानिकता अपने आप व्यक्त हो जाती है। खन्ना का चित्रण इस दृष्टि से हिन्दी में अभूतपूर्व है। मुतकराज आनन्द के चरित्र जैसे जीवित, सामाजिकता लिए हुए और स्पष्ट होते हैं, यशपाल भी अपनी कुशल तूली से दो-चार रंगों में सधे हुए हाथों से चुनी हुई रेखाओं में काफी बड़ा कमाल उपस्थित करते हैं। यशपाल का दूसरा दोष अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्ति है। शौकत उस्मानी की एक किताब है 'चार यात्री' और देशद्रोही के खन्ना का वजीरीस्तान से स्टालिनाबाद होते हुए रूस जाना यह वर्णन 'चार यात्री' से तौलकर देखने लायक है। शौकत उस्मानी अधिक प्रभावशाली हैं—यद्यपि उनके चित्र सम्पूर्ण नहीं हैं। यशपाल 'डीटेल्स' देने जाते हैं और जैसे उसी में अटक जाते हैं।

'अञ्चल' का हाल ही में एक उपन्यास 'चढ़ती धूप' प्रकाशित हुआ है जो कि इसी साम्यवादी परम्परा का उपन्यास है। परन्तु अंचल बावजूद उनके कवि होने के नाते अनावश्यक भावुकतापूर्ण वर्णनों, तूल दिये हुए अन्त, रूखे बहस मुबाहसों से भरे सम्वादों और भाषा के अटपटे प्रयोगों के तारा के चित्रण में सफल हैं। ममता में पुनः वही भारतीय औपन्यासिक नारी के प्रति 'अधिक स्वप्न, तुपि अधिक कल्पना' वाला देवी भाव व्यक्त हुआ है। फिर भी नायक का मजदूरों में जाकर रहना और वहाँ के जीवन

बहुत कुछ यथार्थ के निकट हैं। मध्य वर्ग के पात्र के संस्कारों के साथ न्याय किया गया है और चरित्र-चित्रण में काफी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से काम लिया गया है। परन्तु फिर भी उपन्यास अच्छा होते हुए भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें कई भूलें रह गई हैं: मोहन का चित्रण स्वाभाविक नहीं हुआ है। अन्त में जहाँ मूर्च्छाधीन नायिका के मन का चित्रण है—उसमें कई '............' का प्रयोग करने पर भी अनावश्यक संगति और अस्वाभाविक तर्कयुक्तता बतलाई गई है। परन्तु 'अंचल' के अगले उपन्यास अधिक प्रखर होंगे यह 'चढ़ती धूप' से पता चलता है।

श्रीकृष्णदास के दो उपन्यास छपे हैं, जिनमें से एक 'अग्निपथ' मैंने देखा है। इसमें भी वही मजदूर-जीवन को पार्श्व भूमि मानकर रमेश, प्रेम, लुई, रेखा, सोना के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु अञ्चल की भाँति इस लेखक का, मजदूर जीवन से प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क का अभाव तो नहीं जान पड़ता—परन्तु फिर भी अन्तिम भागों में साम्यवादी दल की राजनैतिक गतिविधि का ब्योरा बहुत ही रस हानिकारक हो गया है। पुनः पात्र ऐसे चलते-फिरते हैं मानों किसी नशे से परिचालित। उनके और भी कोई मानवोचित आवेग-प्रवेग, आकर्षण-विकर्षण हैं—यह सब कुछ मानों लेखक ने भुला दिया। प्रचार ने कला की हानि कर दी है। फिर कलाकृति में पहिले कला अपेक्षित है—न कि प्रचार। प्रचार भी किस बात का किया है यह सब कुछ स्पष्ट नहीं होता। अग्निपथ में रोमांस और राजनीति अनघुल रूप में गड्ड-मड्ड की गई है। फलतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों में नाटकीय परिवर्तन होते जाते हैं। रमेश और रेखा उन सब पात्रों में बहुत कुछ सजीव हैं—परन्तु उपन्यास में 'यूनिटी' नहीं आ पाई है। मनोविज्ञान मन की एकात्मता को पहिले चाहता है।

नये प्रकृतिवादी—(१५) पहाड़ी (१६) नरोत्तमप्रसाद नागर—श्रीकृष्णदास के 'अग्नि-पथ' की रेखा की अपेक्षा पहाड़ी के सराय की नायिका रेखा अधिक सशक्त, स्वस्थ और सजीव है। वह बुद्धदेव वसु की 'आनन्दा' के स्थान में अनेक प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष की काम, प्रेम, वासना, आकर्षण आदि यौन प्रवृत्ति की विभिन्न छटाओं का बहुत सुन्दर चित्रण पहाड़ी की उपन्यास तथा कहानीकला में मिलता है। परन्तु मनोविज्ञान पर अधिक जोर देने के कारण अनूपलाल मण्डल की मीमांसा की आलोचना विशालभारत में करते हुए जैसे मैंने कहा था—मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं—यह बात पहाड़ी भूल जाते हैं। कई स्थलों पर मार्मिक मनोविश्लेषण मिलता है, वह वैज्ञानिक सामाजिकता को लिये हुए है। उदाहरणार्थ प्रेम के सम्बन्ध में सराय पृ० २४०—२४७ पर यह मन्तव्य—'यह प्रेम एक लाटरी वाला जुआ स्वीकार किया जा रहा है। वह खेल भी अन्त में भाग्य की पक्की दीवार पर टकराता है। नारी का अस्वस्थ रूप और उसके विक्षिप्त हाव-भावों के लिये समाज उत्तरदायी है। वह व्यक्ति नहीं। परिवार बढ़ता चला गया। कुछ पुराने विचारों की मजबूत कड़ियाँ नहीं टूट सकीं। समाज और फैला। वे कीलें उसी भाँति रहीं और अन्त में परिवार जीर्ण होकर उन कीलों में झूलने लगे। कई परिवारों वाला समाज विचारों में अतीत की दुहाई देता रहा।'.........आदि आदि।

प्रथम प्रकृतिवादी उफान में सुधार का जोश था। उग्र ने चाकलेट पर लिखा, चाकलेट प्रथा मिटाने के मसीहा के आवेश में। वैसे ऋषभचरण और चतुरसेन ने वेश्या-जीवन पर लिखा। जैनेन्द्र की मृणाल बुआ वेश्यात्व के प्रति जैसे हमारी सहानुभूति को खींचने में लगी रही और हमारे पाप-पुण्य के बाट हो गलत बताने लगी। पहाड़ी ने बहुप्रेमीत्व और बहुपतीत्व को समाज की एक स्वीकृत तथ्य (एक्सप्टेड फैक्ट) की भाँति लिखा। नरोत्तम नागर ने एक कदम आगे जाकर यह बतला दिया कि देशभक्त और देशभक्तिन शोभा और कोतवाल, शशि और आशा—निम्नमध्यवर्ग के ये आदर्श-लोलुप अस्वस्थ मन के कीड़े एक-न-एक प्रकार से मानसिक वेश्या-व्यवसाय में ही लगे हुए हैं। 'दिन के तारे' अस्वस्थ, रुग्ण मन के पात्रों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इलाचन्द्र जोशी के पात्र यदि एक प्रकार की अस्वस्थता से प्रपीड़ित हैं तो नागर के दूसरी। नागर के पात्रों की पकड़ में इतना कह

जा सकता है कि उनकी अस्वस्थता समाजनिर्मित है, व्यक्ति की स्वयं-निर्मित नहीं। पैनी व्यंगात्मक शैली के कारण नागर का यह अकेला उपन्यास नव्य-प्रकृतिवादियों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण वस्तु है। आज के कृत्रिम समाज-जीवन और विषमताओं ने ऐसी गुत्थियाँ और झमेले हमारी जिन्दगी में पैदा करदी हैं कि जो नागर के मत से सुलझ नहीं सकतीं। अतः उन पर हँसना यही एकमात्र उपाय बाकी है। उपाय कड़ुआ है परन्तु यह भी एक रुख है।

इस दल के लेखकों ने जहाँ समाज के वर्जित प्रदेश का यथार्थवादी रोमांस उघार कर एक ओर समाज का हित किया है, वहाँ अश्लील होने की बदनामी सह कर भी एक अनहित किया है। कला के क्षेत्र को अति वैज्ञानिक बनाकर, उन्होंने उसकी सामाजिक उपयोगिता को मर्यादित कर दिया है। एक किशोर या किशोरी के हाथ में इनकी पुस्तक अनाश्वस्त भाव से ही दी जा सकती है।

(१७) अन्य: सर्वदानन्द वर्मा, ऊषादेवी मित्रा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि—अब अन्त में बचे रहते हैं कुछ ऐसे औपन्यासिक जिनका अपना मत विशेष नहीं है, जो सोद्देश्य रचना नहीं करते और न-ही वे किसी 'वाद' में बाँधे जा सकते हैं। 'नरमेध', 'प्रश्न', 'अनिकेतन' के लेखक सर्वदानन्द समाजवादी वर्ग में आ सकते हैं। पात्रों को वे काफी तीखे संघर्ष में डालते हैं, परन्तु उन गुत्थियों में से उन पात्रों का निस्तार नहीं होता। वे जैसे उन्हीं प्रश्नों में खो जाते हैं। इस दृष्टि से कवि की भावुक आत्मा उपन्यास-लेखक पर हावी हो जाती है। करीब-करीब यही स्थिति भगवतीप्रसादजी वाजपेयी की है। परन्तु वे कथा का सुन्दर आधार देते हैं, अतः घटनाएँ अपने आप में स्पष्ट हो जाती हैं। उनके पात्र अक्सर दार्शनिकों की भाँति बातें करते रहते हैं। कई स्थलों पर वे अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के चक्कर में दोनों ही लेखक नहीं पड़ते—सामाजिक विषमता से आहत व्यक्ति के दुखदर्दों को मुखर करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। तीसरे प्रगतिशील लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। आपके भी एक ही दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—परन्तु उनमें नारी-चरित्रों का अच्छा अध्ययन है। यथार्थ और आदर्श के संघर्ष को उर्दू-कथालेखक कृष्णचन्द्र की ही भाँति अश्क भी पैनी दृष्टि से व्यंग्य द्वारा उद्भासित करते हैं। तीनों लेखकों में अश्क के पात्रों के मन का चित्रण अधिक वैज्ञानिक है।

हिन्दी की एकमात्र उपन्यास-लेखिका हैं सुश्री ऊषादेवी मित्रा। वचन का मोल, पिया और जीवन की मुस्कान इन तीनों उपन्यासों में आधुनिक नारी का पक्ष उन्होंने सबल तर्कों से सामने रखा है। परन्तु प्रसाद और निराला के उपन्यास-लेखन की ही भाँति ऊषादेवी भाषा की नक्काशी में काव्यात्मक-शैली में कुछ इस प्रकार खो जाती हैं कि पात्र स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाते। उनका प्रथम उपन्यास तीनों में सर्वाधिक सफल है। कजली का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरुपम है। शरत्चन्द्र की आत्म-पीड़क नायिकाओं को ऊषादेवी की पिया की चाबुक वाली नायिका खासा उत्तर है। परन्तु फेमिनिज्म अति-वाद है।

आज के हिन्दी उपन्यासकार की स्थिति की झलक, बहुत कुछ 'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास-अंक के अन्तिम अंश लेखकों की आपबीती से चुने गये निम्न वाक्यों से मिल सकती है। मानो हिन्दी का औपन्यासिक कहता है—

जीवन की प्रमुख घटनाएँ—कोई खास नहीं। जिन्दगी मेरी विचित्र परिस्थितियों के भीतर बीती है और बीत रही है। १६२६ में एक उपन्यास गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित हुआ जो असफल उपन्यास रहा। बहुत अधिक कमजोरी का अनुभव कर रहा हूँ, लिखने के लिए मुझे सब से अधिक प्रेरणा सम्भवतः अपनी बीमारी से मिली है। उपार्जित जमींदारी तथा शहरी जायदाद के कारण यहीं बस जाना पड़ा, इसके अतिरिक्त मेरे जीवन में अन्य कोई उल्लेखनीय बात नहीं। मैंने पढ़ा कम है, खेला बहुत है। मैं भारत के अनेक समर्थवान धनीमानी भाइयों के द्वार खटखटा कर चुप हो बैठा हूँ। मेरी अब एक ही अभिलाषा है कि मैं संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-कार होकर मरूँ। मेरा जीवन ही स्वयं इतना आर्द्र, इतना

करुण है। मैं सदैव से ही दुस्साहसिक रहा हूँ। भगवान् पर मेरा अटूट विश्वास है। कोई मुझ से पूछे कि जीवन का लक्ष्य क्या है, तो मैं कहूँगा—जीवन। इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी का आधुनिक उपन्यास-साहित्य अभी कुछ नहीं है। लेखक वह है जो सौ फीसदी सच्चा आदमी नहीं है।

उपसंहार—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १९९२ में इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् से भाषण देते हुए कहा था—"पर मेरा एक निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति को छोड़ बिल्कुल यूरोपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे-से मनुष्य-समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज़, मिस, ड्राइङ्गरूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं मानता हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नहीं समझता। उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था। (पृ० १०६–७)

शुक्लजी सदा एक पुरातन-पुनरुज्जीवक (रिवाइवलिस्ट) के रूप में सामने आते रहे। उपर्युक्त अवतरण के अन्तिम अंश से असहमत होते हुए भी प्रथम अंश से कोई भी अपना अभिन्न मत ही बना लेगा। सचमुच ऊपर की लम्बी-चौड़ी छानबीन के बाद भी यही जान पड़ता है कि चाहे समाज-विज्ञान हो या मनोविज्ञान, वह हमारे साहित्य की आन्तरिक आवश्यकताओं से पनपकर ऊपर आना चाहिए—नकि केवल बाह्य, विदेशी, आये हुए, जीवन से विच्छिन्न, अनमिल वस्तु के रूप में। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के बाद भारतीय जनता के मनस में प्रवेश कर उसके स्तर पर स्तर खोलने वाला महान प्रातिनिधिक औपन्यासिक हिन्दी में अभी नहीं है, यही कहना पड़ेगा।

साहित्य के इतिहास के साथ-साथ मनोविज्ञान के इतिहास में भी संशोधन होते गये। पहिले ज़माने का स्थितिवादी, मन को विभिन्न तहखनों में बाँटने वाला 'फैकल्टी' मनोविज्ञान जाकर, व्यक्तिप्रधान मनोविज्ञान आया। बाद में 'चेतना-प्रवाह' वाद चला, फिर अवचेतन के काम-प्राधान्य का फ्रायड-पन्थ चला उसे पुनः एडलर और युग ने अपने-अपने तरीके से संशोधित किया। आवेग-प्रधान और सामाजिक मन-प्रधान वाद चल पड़े। बरतावबादी उधर अलग मन को घसीट कर शरीर-शास्त्र का अङ्ग बनाने की फिक में हैं। और आत्मा केवल कुछ संवेदनाओं के पूर्व-परिचालित उत्तेजना-उत्तर-संघातों की व्यवस्था-मात्र बना दिया गया है। फिर भी अभी संशोधन चल ही रहे हैं। किसी निश्चित कसौटी पर मनोविज्ञान पहुँचा नहीं है। साहित्य के प्रगतिशील (प्रधानतः मार्क्सवादी) आलोचक मनोविज्ञान पर अधिक आश्रित साहित्य को अस्वस्थ और वर्गीय विषमता के साथ से पलायन करने वाला केवल बुद्धिवादी साहित्य मानते हैं। काडवेल फ्रायड पर अपने निबन्ध में कहता है कि एक ज़माने में लोग राम नाम (या ईश्वर) में खाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब उसके बजाय 'लिबिडो' आगया है। मगर राबर्ट आस्बर्न ने अपनी बहुत ही मार्मिक पुस्तक 'फ्रायड और मार्क्स' में इस तथाकथित प्रगतिवादी अर्धसत्य का विरोध करते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कैसे दोनों चिन्तकों के मन परस्पर पूरक थे। अस्तु। इस विवाद में न पड़कर प्रश्न यहाँ इतना ही है कि हिन्दी उपन्यासों में भी पं० रामचन्द्र शुक्ल को प्रिय शब्दावली में अन्तः-प्रवृत्ति या शील-वैचित्र्य के उत्तरोत्तर विकास और उद्घाटन के कई प्रयत्न हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में हुए हैं। परन्तु सभी सफल नहीं कहे जा सकते।

'हिन्दी के सामाजिक उपन्यास' (आधुनिक हिन्दी उपन्यासों पर शायद एकमात्र आलोचनात्मक पुस्तक, जोकि बहुत ही ऊपरी-ऊपरी और असन्तोषजनक है) के अन्तिम पृष्ठ पर लेखक की शिकायत थी 'हिन्दी में उद्देश्य प्रधान उपन्यासों की कमी नहीं। ....उद्देश्य को चरित्र-चित्रण के रूप में सरसतापूर्वक बहुत ही कम उपन्यासों में

व्यक्त किया गया है।' (पृ० १४८)। इस पुस्तक को लिखे छः वर्ष हो गये। अब इस शिकायत के लिये इतनी गुंजाइश नहीं रही। सन्यासी, शेखर, देशद्रोही, चढ़ती धूप ने बहुत कुछ इस कमी की पूर्ति की है। परन्तु अब उलटे यह कहने का प्रसंग आया है कि हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास, पात्र-प्रधान तो बने—परन्तु वे इतने अधिक कि उपन्यासकार पात्र से बाहर की जगत्-जीवन और जड़-सृष्टि के प्रति मानो अपनी प्रामाणिकता या सजीव संस्पर्श खो बैठा। अब इस बात की आवश्यकता है कि उपन्यास में सामाजिक मन का निरूपण हो। जैसे कि युद्धकालीन पश्चिमी औपन्यासिकों ने किया है। सहेनबुर्ग का 'पेरिस का पतन', बासिलेवस्का का 'पृथ्वी और आकाश', वासिली ग्रासमैन का 'जनता अजेय है', लिनयूतांग का 'आँधी में एक पत्ता', सिंक्लेयर का 'नो पासारान' या सिलेपे का 'फाँटामारा'—इन्हें केवल प्रचारक उपन्यास कहकर टाल देना नहीं चाहिये। इनमें उच्चकोटि की कला है, जोकि प्रचार को केवल स्वादु नहीं सहजग्राह्य बना देती है। इन उपन्यास-कला के सफल अधिकारियों से हमें बहुत कुछ सीखना चाहिये। टैक्नीक अपने आसपास के प्रति सजग जागरूकता, यथार्थवाद, सोद्देश्य रचना को कला-शून्यता से बचाना। क्या आज हमारे जीवन में कम प्रश्न हैं? जमींदार-कृषकों की समस्या रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पृ० ६४३ पर बताई हो है, परन्तु साम्प्रदायिक समस्या, अछूतों के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियों के समानाधिकार का प्रश्न, शिक्षा और सैनिक का प्रश्न, राजनैतिक कार्यकर्ताओं की रोजी का प्रश्न, मुनाफाखोरी और विदेशी पूँजीवाद के आश्रय में पलने वाले स्वदेशी पूँजीवाद का प्रश्न—एक दो नहीं ऐसी अनेकों समस्याएँ हैं जोकि हमारे नित्य-जीवन को परेशान करती हैं, उन्होंने गतिरोध सब दिशाओं में उत्पन्न कर दिये हैं। इस युग के प्रधान साहित्यिक माध्यम उपन्यास है। वह एक सशक्त माध्यम है। हमारे लेखकों को चाहिये कि वे पाठकों के मन की भूख को समझें। इन सब प्रश्नों पर, एक कलाकार की सहानुभूति से उपन्यास दें। उपन्यास—और-और उपन्यास, यह बढ़ते हुए युग की माँग है। ऐसी स्थिति में क्या हिन्दी लेखक उन्हें केवल अनुवाद देगा—या फिर सस्ती, रोमांस पर आश्रित, जासूसी किस्म की लम्बी कहानियाँ! मेरे इस लेख से यदि हमारे लेखकगण अपना आलस्य छोड़कर कुछ अधिक सक्रिय हो उठें, तो हिन्दी-संसार को इस बात की खुशी होगी।

[पृ० २७६ का शेषांश]

लिये कि साहित्यिक-अमर-लेखनी तथा उसके वैभव को वह विस्तृत, उन्नत और शक्ति-सम्पन्न समझता है। सामयिक-वैषम्य-अन्वित राष्ट्रीय-साहित्य के जीवन को कवि विस्मृत नहीं करता—

हाथ लिये करवाल अस्थि की
मचे आज फिर हलचल।
तूर्य-नाद हो फिर से भारत
का हो गौरव उज्ज्वल॥

अथवा—

आता है वह प्रबल प्रभंजन
अरे, उसे आने दो।
और गगन पर प्रलय-घटा का
तुन्द मयद छाने दो॥

घिरे क्षितिज का ओर-छोर
भादों की अँधियारी से।
लुटे विभा का लोक छिने
सब तेज अंशुमाली से॥

जनता के कल्याण-पथ का सृजन करने की अपेक्षा 'कन्हैया' सामयिक साहित्यिकों की वासना-अन्वाचय पूँजी से व्यापार करना अनुचित समझता है। सामाजिक और राष्ट्रीय दर्शन की झलक से देश में एक नये जीवन का संचार वह अनुभव करता है। वास्तव में कवि 'कन्हैया' अपने सौष्ठवयुक्त विचार-सामञ्जस्य से साहित्य-मानवता के लिये पुरातन आनन्द की वस्तु युग-धर्म को प्रदान कर रहा है।

साहित्य में अश्लीलता

श्री कृष्णकुमारसिंह

[लेखक ने साहित्य को श्लीलता और अश्लीलता के द्वन्द्व से परे माना है और अपने कथन को पाश्चात्य समीक्षकों के मत से पुष्टि की है। अश्लीलता का प्रश्न बड़ा जटिल है। यद्यपि आयुर्वेद या डाक्टरी के ग्रन्थ अश्लीलता दोष में नहीं आते तथापि हम उनको उदाहरण नहीं बना सकते। उनका इतना प्रचार नहीं है जितना कि साहित्यिक ग्रन्थों का। साहित्यिक की जिम्मेदारी अधिक है। यथार्थवाद के नाम पर भी यदि वह वासना का उत्तेजन करता है तो वह क्षम्य नहीं है। —सम्पादक]

आज के युग में हिन्दी साहित्य में अश्लीलता एवं श्लीलता पर सर्वदा वाद-विवाद होता रहता है। निराला की कहानी 'बिल्लेसुर बकरिहा' को लेकर छायावादी कवियों की शृंगार भावना एवं प्रगतिवाद में अश्लीलता की कहानी बढ़ाकर यह प्रश्न अधिक जोर पकड़ता जा रहा है। सच-मुच हम यही कहेंगे कि साहित्य में अश्लीलता वहीं तक ग्राह्य है जहाँ तक 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की भावना व्याप्त है। आज की जो अश्लीलता है उसे हम 'नग्नता' कह सकते हैं। नग्नता के दो मुख्य कारण है—एक, बेबसी के कारण नग्नता और दूसरा जान-बूझकर वैभव-विलास के बीच पलते हुए जीवन में दिल खोलकर सम्पूर्ण अंगों का स्पष्ट प्रदर्शन करना जिससे मानव की तामसिक वृत्तियाँ जागृत हो सकें। जीवन साहित्य में दोनों का एक रूप है—यथार्थता, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोनों में आकाश और पाताल का अन्तर है।

विज्ञान से प्रभावित होकर ही Comet ने positivism का प्रचार किया, उसी से यथार्थवाद की उत्पत्ति हुई। विश्व-साहित्यकों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि सौन्दर्य और आदर्श को लेकर साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। अब हम वही कहेंगे, जो प्रत्यक्ष है, उसे देखकर हृदय को जो भावनाएं आन्दोलित करती हैं, उन्हीं को साहित्य में स्थान दें। परन्तु यथार्थ वाद का असली जन्म-दाता थियोफाइल गोतिये Theophilegautier माना जाता है। गोतिये का समय उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम काल है। सन् १८५७ ई० में इसकी प्रतिष्ठा के लिए उसने अपने अदम्य उत्साह और दुर्दम साहस का परिचय दिया। इसके पश्चात् गेङ्कुर बंधु, अल्फोंज दोदे आदि की भी पर्याप्त सहायता मिली।

गोतिये का कथन है कि साहित्य में पात्र कपोल-कल्पित नहीं रहेंगे, बल्कि उसमें सत्य-जीव हों, उसमें यथार्थ जीवन का चित्र नहीं, वह स्वयं जीवन है। तत्पश्चात् दो लेखक आए—एमिल जोला और फ्रायड परन्तु इनके 'वाद' को यथार्थवाद के नाम से पुकारना भूल है। वह यथार्थवाद नहीं है, बल्कि वह प्रकृतिवाद (Naturalism) कहा जा सकता है। इन दोनों वादों के अन्तर-स्वीकार में बहुतों को हिचक होती है। परन्तु जब हम अपनी पैनी दृष्टि से इसका निरूपण करते हैं, तब उसमें सूक्ष्म पार्थक्य अवश्य दिखाई पड़ता है। यथार्थवादी अपनी रचना में सुन्दर एवं कुत्सित, जैसा प्रकृत संसार में पाया जाता है, सब को समान रूप से अंकित नहीं करता। उसके देखने में जीवन के भीतर कुछ है ही नहीं। सारा संसार एक कारा-गार है, यहाँ के निवासी किसी अपराध के अपराधी हैं। परन्तु कुछ साहित्यिक गण घृणित, अश्लील और अपवित्र चित्रण में ही कला-कौशल एवं कला की चरम सार्थकता मानने लगे हैं। मानव सौन्दर्य-साधना के ही द्वारा ज्ञान की चरम-सीमा यानी जीवन की सार्थकता पर पहुँचते हैं, परन्तु आज का पासा पलटा हुआ है। पश्चिमी देशों के साहित्यिक समाज के सम्मुख एक नया ही सन्देश लेकर

करते हुए हैं। उनका कहना है—"जो कुत्सित है, जो, घृणित है वही अत्यन्त सत्य है। प्रेम झूँठा है, काम-वासना सच्ची है। मनुष्य पशु है।'

प्रकृतिवाद के प्रवर्तक एमिल जोला (Emiel zola) ने अपने सिद्धान्त की विवेचना करते हुए लिखा है—

"मेरी केवल एक इच्छा थी यदि एक मनुष्य स्वस्थ्य और हट्टा कट्टा है और एक स्त्री अतृप्त काम है, तो उसमें पशुत्व ढूढ़ना ही मेरी कला की परिणति है।'

मोपासाँ की उक्ति तो और भी भद्दी तथा अश्लील है। उनका कथन है--"स्त्री का प्रेम काम-वासना मात्र है। सन्देह, द्वेष और बेकली के अलावे उसमें और कुछ नहीं।"

साहित्य में प्रकृतिवाद की पुकार पश्चिमी देशों से उठी है और उसी की रागिनी हमारे देश में गूंज रही है। इस पुकार के पीछे कला की किसी क्रान्तिकारी धारा को रोकने का प्रयास रहता है। इब्सन के नाटक Ghosts और वर्नाडशा का Ms. warren's Houses आदि इसी कारण जब्त हुए थे। इन रचनाओं के पीछे जमी हुई समाज की पोल खोल देने की क्षमता है। अगर प्रकृतिवाद का उग्रतम रूप देखना चाहते हैं तो ख्यातनामा Revan की Abbe sse dijouarre नाटक को पढ़ें, उसमें तो यहाँ तक स्पष्ट शब्दों में उल्लेख कर दिया है कि 'स्त्री के साथ संभोग करना भी सौन्दर्य की उपासना है।" यही है फ्रेंच साहित्य की संस्कृति। 'सेक्स' का सम्बन्ध कला से त्याज्य नहीं, किन्तु उसका निरूपण उत्तरोत्तर ऊँचे स्तर पर होगा। आज के लेखकों का कर्तव्य है कि पूँजीवादी समाज नारी का जो शोषित रूप मिले, उसका जीता-जागता चित्रण करे, यह चित्रण तभी सफल होगा जब वह अवकाश-भोगी-वर्ग की वासना का चुभता चित्र उपस्थित करे। अगर इसका निरूपण करना चाहते हैं तो पन्त की 'ग्राम्या' रमण की 'मास्को' यशपाल की 'दादा कामरेड', उनकी 'चाकलेट' एवं 'घासलेट' और आरसी की 'नारी' आदि पुस्तकों को पढ़ें। श्री नरेन्द्र शर्मा की एक कहानी लीजिये—'सुन्दर'। उसमें उन्होंने नारी की दयनीय और उसकी दुर्दशा का सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है। वर्णन-शैली ऐसी है कि कलेजे पर बैठ जाती है। हमारा पूँजीवादी वर्ग सौन्दर्य का भूखा है, वह उस कलात्मक सौन्दर्य का प्रेमी नहीं बल्कि उसको तहस-नहस कर देता है। नरेन्द्र ने कहानी के अन्त में एक प्रश्न किया है—

"हे भारत के देव! हे भारत के ग्राम, क्या आज तुम्हारे पास इतनी शक्ति है कि सुन्दरता को अपनी गोद में स्थान दे सको?"

हम गुप्तजी के शब्दों में कह सकते हैं—

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

आज के जो नवयुवक कलाकार हैं, वे नारी की स्वतन्त्रता की कामना करते हैं, जिससे कि प्रणय-व्यापार में आसानी रहेगा। ठीक कुछ ऐसे कलाकार हैं जो नारी की स्वाधीनता चाहते हैं और सामाजिक पथ पर वे दोनों एक साथ कदम उठाना चाहते हैं—उनमें पन्त, दिनकर, रमण, आरसी आदि हैं। पन्त की ग्राम्या में इसी रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। पन्त नारी के यौवन की क्षणभंगुरता को देख कर कहते हैं—

रे दो दिन का उसका यौवन!
सपना छिन का रहता न स्मरण।
दुःखों में पिस, दुर्दिन में घिस;
जर्जर हो जाता उसका तन!
ढह जाता असमय यौवन धन!
वह जाता तट का तिनका जो
लहरों में हँस खेला कुछ क्षण।
[ग्राम्या : ग्राम युवती]

'दिनकर' ने भी एक विधवा का मार्मिक चित्र खींचा है जो स्मृति में पत्थर की लकीर सी खींच जाते हैं। एक विधवा है यौवन के भार से दबी, सूखी सरिता के तट पर खड़ी। वह युग-युग से अधीर अपने प्रियतम के दर्शनों को व्याकुल, मौन, बिल्कुल मौन खड़ी है—

जीवन के इस शून्य सदन में।
जलता है यौवन-प्रदीप;
हँसता तारा एकान्त गगन में॥

सूखी-सी सरिता के तट पर
देवि ! खड़ी सूने पनघट पर
अपने प्रियदर्शन अतीत की
कविता बाँच रही हो मन में ॥
नवयौवन की चिता बना कर
आशा कलियों को स्वाहा कर
मग्न मनोरथ की समाधि पर
तपस्विनी बैठी निर्जन में ॥

[रेणुका : विधवा]

पर इस विधवा नारी को देख कर भी समाज की आँखें नहीं खुलतीं। शायद इस नव-विधवा के लिए समाज के हृदय में कुछ भी ममत्व नहीं, कुछ भी स्थान नहीं। इस नवयौवना विधवा का चित्रण करते-करते कवि की लेखनी एकाएक रुक जाती है। वह कुछ और कहना चाहता है, पर समाज के डर से वह रुक जाता है और इसका अन्त यहीं करता है। अब पन्त अपनी 'नारी' शीर्षक कविता में प्रगतिवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
अंग अंग उसका नर के वासना-चिन्ह से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुण्ठित!
वह समाज की नहीं इकाई, शून्य समान अनिश्चित;
उसका जीवनमान मान पर नर के है अवलंबित।
मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि स्पर्श, संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

[ग्राम्या : नारी]

प्रगतिवादी 'दिनकर' ने भी एक स्थल पर लिखा है—

तुम्हारे अधरों का रस, प्राण !
वासना तट पर पिया अधीर।
अरी ओ माँ हमने है पिया,
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर ॥

यह सत्य है कि नारी के रूप पर बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्या भी भंग हो गयी है, पर इसमें नारी का क्या दोष ! इसका वर्णन साहित्य में अश्लील नहीं कहा जा सकता। ग्राम्यता (अश्लीलता का दूसरा नाम) सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किसी कलाकृति में अनिवार्य है। शैली की पूर्णतया (Perfection) के साधक साहित्यिक फ्लावेयर का कहना था कि साधारणतया (Common place) सर्वव्याप्त गुण है और इस कारण कोई कलाकार उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। साहित्य में ग्राम्यता (भलगरीटि इन लिटरेचर) नामक पुस्तिका में आलडस हक्सले ने भी कहा है कि 'सिद्धान्त रूप से मनोभावों की अभिव्यञ्जनामात्र ग्राम्य है। इसलिए कवि को यथासंभव निर्वैयक्तिक रहने की चेष्टा करना चाहिये। यों तो सूक्ष्मरूप से जिस क्षण कलाकार ने आत्माभिव्यञ्जना की, ग्राम्यता आ गई। कलाकार ग्राम्यता से बिल्कुल बच नहीं सकता।" यदि कुछ वर्ज्य शब्दों का प्रयोग ही किसी रचना को अश्लील बना सकता है तो आयुर्वेद, ऐलोपैथी, होमियोपैथी आदि वैद्यक के ग्रन्थ तथा शरीर-विज्ञान के सारे-के-सारे ग्रन्थ अश्लील हो जायेंगे, जिनमें स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों का बहुत ही विशद, स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन ही नहीं रहता, वल्कि चित्र तक रहते हैं।

लेख को समाप्त करते हुए पाठकों से निवेदन करता हूँ कि विदेशी लेखकों की इन सब पुस्तकों का अध्ययन करें, जैसे रैडक्लिफ हालके की 'दी वेल आफ लोनली नेस' एमिल जोला की 'नाना', बोकैचियो की 'डिकामेरन' बालजक की 'ड्राल स्ट्रोरीज', स्टनबर्नस की 'पोएमस् एण्ड वैलडस्', डी० एच० लौरेन्स की 'पैंसीज', 'रेनबो', 'लेडी चटर्लीज लवर', जेम्स ज्वाइस की 'युलिसीज' और फ्रैंक हैरिस की 'माई लाइफ एण्ड लव्ज' आदि। अगर आप साहित्य को उन्नतिशील बनाना चाहते हैं तो इस अश्लीलता एवं श्लीलता के पचड़े से अलग रहना पड़ेगा। तथास्तु !

मानव-जीवन का गायक : कवि 'कन्हैया'

श्री हरिशङ्कर उपाध्याय

जीवन की परिस्थितियों के आघात का असहन मानव को उसके पथ से विमुख कर इधर-उधर भटका देता है। इसी कारण परिस्थितियों की विशेषता से दृढ़ता बनाये रखने वाला जागतिक आदर्शों तक सुगमता से पहुँच जाता है। साहित्यकारों ने इसी प्रकार के जीवन-वर्णन की विश्लेषण-विचार-शैली में काव्य का उत्कर्षण स्वीकार किया है। 'कन्हैया' की कविताओं की पृष्ठ-भूमि में अंकित विचार बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं:—

समतल नहीं यहाँ के पथ
हैं नीचे-ऊँचे पथरीले।
तीखे-तीखे काँट बिछे हैं
एक-एक-से उलझीले॥
कहीं आग है नभ बरसाता,
कहीं अमा का अँधियारा।
कहीं बासुकी जहर उगलता,
फैला अपना फण काला॥
फिर भी अटलमना होकर
तू मंजिल तय कर पाना रे!
पंथी! मत रुक जाना रे!

विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का वर्णन काव्य में यथार्थता लाता है। अन्तर्द्वन्द्वों को वाणी देने से जीवन-कविता में शक्ति और सजीवता आती है। भावों के स्वाभाविक संघर्षमय परिवर्तन तथा गति-क्रम को कवि अपनी प्रयोजित कविता में स्थान दे रहा है:—

फिर भी एकाकी तू बढ़ता
जाता तेरी बलिहारी।
इसी तरह तू ध्येय-मस्त हो
गति-विकास दिखलाना रे!

भावों के स्वतः अस्पष्ट होने से केवल तर्क और बुद्धि-बल पर आधारित काव्य-धारा भाव-प्रवाह को वहन नहीं कर सकती। शारीरिक विकारों पर आधारित रस-पद्धति का अनुभव इसलिए कर्म की श्रेणी में आता है। मानव-जीवन की समीक्षात्मक विचार-धारा का स्पष्टीकरण ही काव्य में कर्म की प्रधानता स्थापित करता है—

साथी सब छुट गये तो क्या?
पर कर्म न अब तक छूटा है।
भर लूँगा रस से मैं सत्वर,
घट अभी नहीं यह फूटा है॥

अथवा—

साधक वही सदा पौरुष का,
अपने जो अभिमानी।
चलता जो तारुण्य अथक ले,
गढ़ता नई कहानी॥

—'साधना'

कवि कन्हैया ने जीवन-संग्राम में राजनैतिक उत्थान और सामाजिक क्रान्ति का सहारा लेकर साहित्य की मानवी चिर-इच्छाएँ अभिव्यक्त की हैं। इस तरह साहित्य राष्ट्रीय-भावना विदग्ध जाति के भाव, आवेश तथा इन सब की चेतना को स्फूर्ति प्रदान करता है। एक दिन हमारे राष्ट्रीय जीवन-प्रभात का अनुभव करते समय कवि ने अपने अनल-संकेत में देश को ललकारा था—

बिखरे पौरुष को संचित कर,
करो तूर्य हुंकार।
कुचल पाप के बह्नि-पुञ्ज को,
चकित करो संसार॥

और आज उस ललकार के साथ हम 'सुखद-साम्य-सौरभ' लेकर पूर्व से आने वाले का स्वागत कर रहे हैं। अनुपातिक क्रम से साहित्य और राष्ट्र का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखलाने वाला कवि राष्ट्रीय शक्तियों का संचय साहित्य के गर्भ में निहित पाता है। उसकी विकासोन्मुखी काव्य-शक्ति साहित्य के निर्माण में राष्ट्र का निर्माण स्वीकार करती है। मानव-जीवन का गायक कवि 'कन्हैया' साहित्यिक महानता का अनुभव सदा करता है और यह इसी

[शेष पृष्ठ २७२ पर]

उदयपुर-सम्मेलन के मंच से

[उदयपुर में अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का ३३ वाँ वार्षिक अधिवेशन गुजराती के अग्रगण्य लेखक और राष्ट्रीय नेता माननीय श्री कन्हैयालाल माणकलाल मुन्शी के सभापतित्व में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर साहित्य-परिषद् का सभापतित्व प्रयाग विश्व-विद्यालय के अध्यापक डा० रामकुमार वर्मा ने ग्रहण किया था और कवि-सम्मेलन के सभापति थे बिहार के प्रसिद्ध कवि 'दिनकर'। उक्त महानुभावों के सभापति पद से दिए गए भाषणों के कुछ आवश्यक अंश नीचे दिए जाते हैं। —सम्पादक]

मुन्शीजी के भाषण से—

ऐतिहासिक परिवेक्षण—(१) मध्यदेश की पहली देशभाषा संस्कृत बनी और तब से मध्यप्रदेश की भाषा संस्कृत के साथ निकट संबंध रखती है।

(२) संस्कृत सन् १३०० तक समस्त भारत में राजसभा और संस्कार-केन्द्रों की भाषा रही और तत्पश्चात् दोसौ वर्षों तक दक्षिण में संस्कार की भाषा थी।

(३) सन् हजार से तेरह सौ तक कृष्णानदी के उत्तर में अपभ्रंश जनसाधारण की भाषा थी और इसमें ही साहित्य रचा जाता था। उस के बाद अठारह सौ पचास तक उत्तर भारत में व्रजभाषा साहित्य की श्रेष्ठ भाषा स्वीकारी जाती थी। बिहारी, अवधी, हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पालि और मराठी के ऐसे रूप थे, जो सरलता से समझे जा सकें।

(४) जिस भाषा की सांस्कारिक प्रेरणा सब से अधिक स्वाभाविकता का बल देती है, उसे यदि राष्ट्रभाषा कहा जाय तो संस्कृत हमारी राष्ट्रभाषा है।

भाषाओं का विश्लेषण—(अ) ६६ प्रतिशत भारतीय भाषायें बोलते हैं।

(आ) ३५ प्रतिशत की भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी है।

(इ) ३४ प्रतिशत की भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी के साथ सम्बन्ध रखती है।

(ई) १३ प्रतिशत संस्कृत-प्रधान भाषायें बोलते हैं।

(उ) ६ प्रतिशत संस्कृत-प्रचुर भाषायें बोलते हैं।

(ऊ) ३३ प्रतिशत की भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है।

(ए) १७ प्रतिशत की भाषा देवनागरी के किसी स्वरूप में लिखी जाती है।

(ऐ) २० प्रतिशत की भाषा द्राविडी लिपि में लिखी जाती है।

(८) इन आँकड़ों की हकीकत देखते हुए जो भाषा संस्कृतप्रधान हो, वही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

(६) हिन्द की प्राचीन राष्ट्रभाषाओं की अखंड-पीढ़ी में हिन्दी उतर आती है। इसकी शब्द-समृद्धि ८८ प्रतिशत बोलनेवालों के लिए बहुत-कुछ परिचित है। इनके बोलनेवाले तथा सरलता से बोल सकनेवाले उनहत्तर प्रतिशत हैं। फलतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना नहीं है, वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है—यह ऐतिहासिक घटना भूलनी नहीं चाहिए। उर्दू, मुसलमानों की सेवी हुई हिन्दी की एक शैली थी। हिन्दुस्तानी दिल्ली प्रदेश के आसपास की बाजारू बोली थी। हिन्दी तो शौरसेनी अपभ्रंश की दौहित्री, वह तो व्रज की पुत्री। उत्तर भारत की भाषा के साथ एकाकारता इसने साधी। संस्कृत ने इसे सदा से समृद्ध बनाया। वह तो जैसे कन्नौज-काल में अपभ्रंश थी, वैसे उत्तर-भारत की राष्ट्रभाषा थी।

हिन्दी राष्ट्रभाषा को आज समस्त भारत स्वीकार कर रहा है। ऐतिहासिक कारणों से वह भाषा ही राष्ट्रभाषा होने के लिए निर्मित हुई है।

१ इसका बाजारू स्वरूप हिन्दुस्तानी समस्त भारत में समझी जा सकती है। इसी रूप में प्रान्त-प्रान्त में वह जुदा-जुदा रूप लेती है। इस व्यवहारू भाषा का मूल असली अपभ्रंश में है। इसकी घड़न दिल्ली-प्रदेश में होने के कारण यह हिन्दू-मुसलमानों के व्यवहार का साधन है।

२ संस्कृत, शौरसेनी अपभ्रंश और व्रजभाषा में से यह क्रमशः उतरती आई है। इसलिए अपने पूर्वज के अधिकार से यह राष्ट्रभाषा है।

३ उत्तर भारत की समस्त भाषाओं की एकता जैसे सन् १८०० से पूर्व व्रजभाषा में प्रतिबिंबित थी, वैसी ही आज इस में प्रतिबिंबित है।

४ इस में नैसर्गिक लक्षण हैं। संस्कृत की समृद्धि होने के कारण यह हिन्द की संस्कृत-प्रधान और संस्कृत-प्रचुर भाषाओं का संगम हो सकती है। द्राविड़ भाषा बोलनेवाले भी इसे सरलता से स्वीकार कर सकते हैं।

५ नागरी लिपि हिन्द में प्रतिशत ६० के लिए परिचित है। इसलिए इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने में कम से कम प्रयत्न की जरूरत पड़ती है।

हिन्दी-संस्कृत विना समृद्ध नहीं हो सकती। संस्कृतकी प्रेरणा के बिना यह सरसताका वाहन नहीं बन सकती। संस्कृत इसकी जननी है। इस जननी से मुझे शरम नहीं आती। मैं अपनी इस माँ से प्रेरणा लेता हूँ, इसलिए मैं किसी से माफ़ी नहीं माँगता—माँगूँगा भी नहीं।

एकी करण सम्भव होगा—जिस दिन मुसलमान और हिन्दू स्वातंत्र्य, संस्कार और साहित्य के विषयों में पारस्परिक मान रखकर भागीदारी स्वीकारें उस दिन यह प्रश्न स्वयमेव हल हो जायगा।

पर जरूरत इस बात की है कि हिंदी-उर्दू का प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर साहित्य-क्षेत्र में ले जाया जय। काँग्रेस की नीति के अनुसार हिंदी-हिंदुस्तानी व्यवहार की राष्ट्रभाषा रहे और राजनीति में हिंदी और उर्दू दोनों शैलियों को बिना टीका-टिप्पणी, बिना संकोच लिखने की छूट दी जाय। ऐसा करने से दो में से एक शैली का उपयोग करना चाहिए, या दोनों का मिश्रण करना चाहिए, यह दुविधा स्वयमेव मिट जायगी। भारतकी आज की परिस्थिति में हिंदी और उर्दू दोनों के विकास का अवसर है। एक न एक दिन इन दोनों विकसित शैलियों का एकीकरण स्वयमेव होगा। आज होना अशक्य है। इन का समन्वय आज हो जाय और हिंदू-मुसलमान एक भाषा स्वीकारें, यह मेरी दृष्टि में शक्य नहीं।

सम्मेलन का मार्ग तो सरल है। नागरी हिंदी का विकास, विस्तार और प्रचार यही उसका स्वधर्म है। इस स्वधर्म-सिद्धि में ही उस के जीवन का साफल्य है।

× × ×

रेडियो—रेडियो की नीति से हिन्दीभाषी जगत् में तीव्र विरोध उठा है। रेडियो की भाषा हिन्दुस्तानी नहीं, हिन्दी नहीं, उर्दू नहीं, वह तो अरबी शाही उर्दू है। इसका तीन चौथाई भाग तो मुझे समझ नहीं पड़ता। गुजराती, मराठी, बंगाली, पंजाबी, तामिल सब में खबरें आवें, पर हिन्दीमें कभी न आवें, यह हठ रेडियो-अधिकाररियों का है। यह हठ निर्दोष नहीं है। हिन्दी भाषा है ही नहीं, अगर है तो इसे बहुत कम लोग समझते हैं, इससे ऐसी ध्वनि निकलती है। इतने-इतने प्रयत्न हुए परन्तु ये अधिकारी अभी तक डिगे नहीं। इसलिए यह नीति ससंकल्प निश्चित की गई है, ऐसा मानना ही पड़ता है

भारती भाषा—राष्ट्रभाषा हिन्दी एकमात्र संयुक्त-प्रान्त की स्वभाषा नहीं है। राजस्थान की भी है। राजस्थान के अनखुले भंडारों की समृद्धि अभी इस में लानी है। जैसे पहले गौर्जरी और शौरसेनी अपभ्रंश एक दूसरे को अधिक सुन्दर बनाते थे वैसे ही राजस्थानी और हिन्दी का समन्वय प्रथम सिद्ध करना चाहिए। हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौन्दर्य इस में लाना चाहिए।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो यह एक बात है। पर व्यवहार और राजनीति के लिए भी मुझे 'भारती' भाषा चाहिए—जिसे सभी भारतीय लिखें; जिस मे सब बोलें, जिस में समस्त भारत साहित्य का सृजन करें। जैसे इङ्गलैण्ड की भाषा अंग्रेजी, फ्रांस की फ्रेंच,

वैसे ही भारत की भाषा भारती कब बने इस की मुझे झंखना होती है। हिन्दी 'भारती' रूप कब ले मैं इस की बाट जोह रहा हूँ।

भारत जीवित, स्वतंत्र और सशक्त बने तो उसे 'भारती' द्वारा ही आत्मसिद्धि प्राप्त होगी। इस भाषा का सृजन भारतीयों का ध्येय होना चाहिए।

विद्यापीठ—इस ध्येयसिद्धि का प्रथम प्रयत्न तो प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक विद्यापीठ में हिन्दी का सर्वदेशीय अध्ययन ही होना चाहिए। उच्चतम शिक्षा के लिए सामग्री तैयार करनी चाहिए, और एक संस्था ऐसी बनानी चाहिए जो अपने प्रत्येक भाषाका साहित्य हिन्दी में हमेशा प्रकाशित करे। ऐसे ही उद्देश्य से मैंने 'हंस' निकाला था और 'भारतीय साहित्य परिषद' की स्थापना करने में भाग लिया था। आज इसी उद्देश्य से मैं छोटी-सी 'सर्व भाषा-मंदिर' की योजना बना रहा हूँ।

लेखक का स्वातन्त्र्य—शिष्टसाहित्य का प्राण तो केवल सरसता ही हो सकता है। इसकी पंक्ति-पंक्ति से जीवित व्यक्तित्व, वास्तविक प्रसंग और मानवता की मौलिक शक्तियाँ तथा अशक्तियाँ उठ खड़ी होनी चाहिएँ। ऐसे साहित्य की सृष्टि के लिए हमें साहित्यकार का यह अधिकार स्वीकार करना ही चाहिए कि वह स्वतंत्रता पूर्वक साहित्य में सरसता की सृष्टि कर सके। हिन्दुस्तान में यह मान्यता है कि साहित्यकार समाज का गुलाम है। यूरोप में भी ऐसा मत प्रचलित हुआ कि साहित्यकार को सामुदायिक परंपरा के साथ साहित्य का सृजन करना चाहिए। स्टालिन ने फरमान निकाला था कि पंच वर्षीय योजना (फाइव इयर प्लेन) के आधार पर ही शुद्ध साहित्य की रचना होनी चाहिए। साहित्यकार मानों मिल-मजदूर हों, ऐसी उनकी भी सोवियट निकाली थी। अपने यहाँ भी प्रगतिशील साहित्य, ग्राम साहित्य, अधमोद्धारक साहित्य लिखना चाहिये, ऐसी घोषणा से साहित्यकारों की स्वतंत्रता छीन ली जाती है। 'मेड टू आर्डर' रचनायें प्रचार हैं—साहित्य नहीं।

पर मैं साहित्य लिखता हूँ तो किसी दूसरे के लिए नहीं—मैं तो अपना हृदय चीर कर उस में भरे रत्नों को अपनी आत्मसिद्धि के लिए बाहर लाता हूँ। जो उस का पारखी हो वह उसे पसंद करे। जो न हो वह उसे फेंक दे। पर मैं अपनी कल्पनाओं, संस्कारों और भावनाओं से घड़ी हुई सरसता को ही जन्म दूँगा। मैं भाड़े पर लिये छोकरों की माँ बनना पसंद नहीं करता।

साहित्य-परिषद् के सभापति डा० रामकुमार वर्मा का भाषण—

देश की परिस्थिति और कलाकार—पिछले वर्ष बंगाल ने अपने न जाने कितने लाख लालों को भूख की ज्वाला में जला दिया। जहाँ आत्मा के ऊपर भूखा शरीर बैठ गया है, जहाँ क्रय-विक्रय के काँटों पर रूप और शृङ्गार तुल गया है, वहाँ कठिन परिस्थितियों में मानवता कराह रही है। दुर्भाग्य की बात है कि जनता में इसकी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यदि जनता दासत्व की शृङ्खला में इतनी जकड़ी हुई है कि उसे अपने मानव-जीवन का अभिमान नहीं है, तो कम से कम कवियों और लेखकों को तो इसकी प्रतिक्रिया होती, वे तो जनता के कष्टों से सिहर उठते किन्तु हमने देखा कि हमारे लेखक और कवि अपने देश की इन परिस्थितियों से उदासीन बने रहे। उनके काल्पनिक संसार में इस कठोर सत्य का प्रवेश नहीं हो सका। आज हिन्दी में कितने उपन्यास हैं जो देश की इस भयानक परिस्थिति से प्रेरित होकर लिखे गये? कितने नाटक हैं जिनमें देश की इस अर्धमृत और अर्धनग्न जनता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई? कितने खण्ड काव्य, महाकाव्य या मुक्तककाव्य हैं, जिनमें जनता का यह करुण आर्तनाद गूँज सका?

प्रगतिशीलता और लालित्य—इन जीवनगत विषमताओं के चित्रण का—वास्तविक दारुण परिस्थितियों के चित्रण का—पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैं आजकल के अधिकांश प्रगतिशील लेखकों या कवियों से सहमत नहीं हो सका। उन्होंने हमें जीवन के वास्तविक और सच्चे चित्र देने की चेष्टा की है किन्तु यह सत्य उन्होंने हमें तब दिया है जब उन्होंने साहित्य के समस्त सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। चिरन्तन साहित्य की कुछ मान्यताएँ हैं।

साहित्य केवल आज की सम्पत्ति नहीं है, वह परम्परागत सम्पत्ति है, लोक-कल्याण, सुरुचि और लालित्य उसकी नैसर्गिक विशेषताएँ हैं। बिना सुरुचि और लालित्य के लिखा गया साहित्य किसी अखबार का संवाद-संग्रह मात्र माना जा सकता है। अतः जब हम आगामी परम्परा के जीवन और कल्याण की भावना से ही साहित्य का निर्माण करते हैं तो हमें सुरुचि और मानव-मन को आकर्षित करने वाले सौन्दर्य को तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा।

मेरा विचार तो यह है कि जनता के जागरण की वाणी लेकर हमारे कलाकार पूर्ण प्रगतिशील बनें किन्तु इस प्रगतिशीलता में साहित्यिक सुरुचि का ध्यान रहे। उनकी रचनाओं में भले ही रस-संचार और अलंकार-प्रियता न रहे किन्तु फिर भी साहित्य के स्वस्थ सौन्दर्य का ध्यान तो रहे। उनका साहित्य जनता से दूर न जाने पावे। साहित्य के लिए जनता से दूर जाने का अर्थ मृत्यु है।

रूस में जो क्रान्तियाँ हुईं, उनके पीछे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा। उपन्यासकारों ने ऐसे कथानक की सृष्टि की जो देश के अन्तःकरण को झकझोर सकें। आज हिन्दी में भी वैसे उपन्यास क्यों नहीं लिखे जा सकते? प्रणय के प्रथम पाठ से ही उपन्यास का प्रणयन क्यों होता है? हमारे देश में तो रंगमंच निर्मित ही नहीं हो पाया किन्तु जो नाटक विद्यार्थियों या सभा-समितियों के द्वारा खेले जाते हैं, उनमें हमारी समस्याओं पर प्रकाश क्यों नहीं डाला जाता? ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनका अभाव आज हमारे साहित्य में खटक रहा है।

उपयोगी साहित्य—हम अभी तक एम० ए० और एम० एस-सी० में पढ़ाये जाने योग्य पाठ्य-ग्रन्थों को तैयार नहीं कर सके हैं। कठिनाई वैज्ञानिक विषयों में विशिष्ट शब्दों (Technical Terms के) प्रयोग करने की है। निर्णय की बात यह है कि अंग्रेजी के ही विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हिन्दी साहित्य में हो या संस्कृत धातुओं के आधार पर उन शब्दों का हिन्दी में पर्याय बनाया जाय। यद्यपि पहले दृष्टिकोण के पक्ष में कुछ विद्वान् अवश्य हैं किन्तु मेरे विचार से भाषा और साहित्य की एकरूपता के लिए उन विशिष्ट शब्दों के हिन्दी-पर्याय आवश्यक हैं। यह बात दूसरी है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा के लिए अँग्रेजी विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी सुविधानुसार करतें किन्तु हमारे साहित्य की समृद्धि के लिए और हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए हमारे पास उच्चतम वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी-कोष भी मौजूद रहना चाहिए।

प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रश्न पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने विचार-विनिमय किया है। इस समय तक उसने प्रत्येक विषय में हिन्दी या उर्दू में निबन्ध का प्रश्नपत्र अनिवार्य कर दिया है। माध्यम की दिशा में इसे पहला कदम समझना चाहिए। आशा है, इसी प्रकार अन्य विश्वविद्यालय भी इस दिशा में प्रगतिशील होंगे। हम उपयोगी साहित्य के लिए केवल पाठ्य-पुस्तकें ही नहीं चाहते किन्तु ऐसा गम्भीर साहित्य भी चाहते हैं जिससे देश में विज्ञान के विषय पर हिन्दी-भाषा-भाषियों द्वारा खोज का कार्य भी सरलता से चलाया जा सके और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति में हिन्दी के अनेक विद्वानों का सक्रिय सहयोग रह सके।

भाषा की समस्या—आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया और सिन्धी तथा द्रविड भाषाओं में तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम प्रमुख हैं। हमें राष्ट्रभाषा के निर्माण में इन सभी भाषाओं का ध्यान रखना होगा। भारतीय भाषाएँ तो संस्कृत की परम्परा में हैं हीं, द्रविड भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव है। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत के ऐसे शब्द-समूहों से अपना सम्बन्ध बनाए रखना होगा जो इन विविध भाषाओं में समझे जाते हैं और व्यवहार में लाए जाते हैं। अतः राष्ट्रभाषा के मूलाधार में संस्कृत से निकली हुई भाषा-विषयक परम्परा ही होनी चाहिए।

मुसलमानों के सम्पर्क से ही इस देश में अरबी और फारसी के शब्दों को लेकर हिन्दी के क्रोड में उर्दू का जन्म हुआ और फलस्वरूप हमारी भाषा में भी अरबी और फारसी के सैकड़ों शब्दों का प्रवेश हुआ। ये शब्द आज

भी हमारी भाषा में मिलकर हमारे हो गए हैं। इन्हें भाषा से अलग करना भाषा की हानि ही करना है। किन्तु जब हिन्दुस्तानी के रूप में लगभग उर्दू ही राष्ट्रभाषा के लिए प्रस्तुत की जाती है तो विषय चिन्त्य हो जाता है। उर्दू, भाषा के रूप में कितनी व्यापक हो पाई है, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

मेरा प्रस्ताव तो यह है कि भारत में बोली जाने वाली प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने व्यवहार में आने वाले अरबी, फारसी, और अंगरेजी शब्दों के अलग-अलग कोष तैयार करे। उन सब कोषों का मिलान करने से ज्ञात हो जायगा कि कितने विदेशी शब्द समान रूप से देश की सभी भाषाओं में समझे जाते हैं। वे सब विदेशी शब्द तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में रहेंगे ही। साथ ही साथ ऐसे शब्द जो किसी भाषा में विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं, विचार-विनिमय के बाद स्वीकृत किये जावेंगे। इस शैली से राष्ट्रभाषा का रूप सभी के लिए सुलभ और न्याय-संगत होगा। यों मैं भाषा के स्वाभाविक विकास में विश्वास रखता हूँ किन्तु जब राजनीतिक और अन्य कारणों से कोई भाषा हम पर लादी जा सकती है, तो हम राष्ट्रभाषा के निर्माण में भी तर्क और युक्ति से काम क्यों नहीं ले सकते? जहाँ तक लिपि से सम्बन्ध है, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी की एक ही लिपि होनी चाहिए—और वह लिपि देवनागरी है जो संसार की सब से शुद्ध और सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। यों अन्य लिपियों का सीखना बुरा नहीं है किन्तु यह वैकल्पिक हो, अनिवार्य न हो।

आल इण्डिया रेडियो हिन्दुस्तानी के नाम से जिस उर्दू का प्रचार करना चाहता है, वह भाषा न तो हमारी संस्कृति की है, न हमारे संस्कारों की। आल इण्डिया रेडियो अपनी नीति में दृढ़ और अटल है।

सप्तवर्षीय आयोजन—साहित्य की समुन्नति के लिए हमें एक सप्तवर्षीय योजना बनानी चाहिए। यह योजना या तो साहित्य-सम्मेलन की ओर से हो, या नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से। जो संस्थाएँ इस कार्य में योग दे सकती हैं, या देना चाहती हैं, वे अपने को योजना चलाने वाली संस्था से सम्बद्ध करा लें। इस योजना में हमें साहित्य को समृद्ध और अग्रशील बनाने के लिए समस्त साधन जुटाने चाहिए। इस कार्य की योजना में कम से कम पाँच लाख की निधि एकत्र की जाए और प्रत्येक वर्ष में उठाये जाने वाले विषयों का वर्गीकरण कर दिया जाय। फिर उस विषय के विशेषज्ञों की समितियों का संगठन हो और विशेषज्ञों को उत्साह-वर्धक पारिश्रमिक देकर एक निश्चित अवधि के भीतर आयोजित कार्य की सम्पूर्ण सामग्री संकलित करली जाये। तत्पश्चात् उसका एक विशिष्ट समिति द्वारा सम्पादन और प्रकाशन हो और इस तरह उस वर्ष का कार्यक्रम समाप्त कर दिया जाये।

कुछ कमियाँ—१—हमारे साहित्य में प्राचीन कवियों और लेखकों की रचनाओं के सुसम्पादित संस्करणों की बहुत कमी है।

२—दूसरी आवश्यकता यह है कि हमें देश के समस्त प्रान्तीय साहित्य से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

३—तीसरी आवश्यकता वैज्ञानिक साहित्य के प्रणयन की है।

४—चौथी आवश्यकता अपने समालोचना-शास्त्र को व्यवस्थित करने की है। प्राचीन और आधुनिक समालोचना-शास्त्र के समन्वय से हमें अपने साहित्य के लिए एक नवीन समालोचना-शास्त्र का निर्माण करना चाहिये जिससे हम अपनी राजनीति, समाज और साहित्य की परिस्थितियों में लिखी हुई रचनाओं को पश्चिमी विचार-धारा के प्रभावों की दृष्टि से भी उचित ढंग से समझ सकें।

५—पाँचवी आवश्यकता हमारे ग्राम-गीतों के संकलन की है।

६—हमारी छठी आवश्यकता भाषा और लिपि-सुधार कार्य को गति देने की है। इसके साथ ही 'टाइप राइटर' के अक्षरक्रम और अक्षर-सौन्दर्य पर भी ध्यान

देना आवश्यक है। इसके बिना हमारी पाण्डुलिपियों की बड़ी दुर्दशा हो रही है।

७—सातवीं आवश्यकता अपने प्रकाशन-कार्य को संयोजित और नियन्त्रित करना है। आजकल हमारा साहित्य अपनी आवश्यकताओं को न देखते हुए मनमाने ढंग पर प्रकाशित हो रहा है।

उदयपुर-अधिवेशन में कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष श्री दिनकर का भाषण—

समस्या—वर्तमान हिन्दी-कविता की भूमिका में आज एक कोलाहल-सा छा रहा है। लोग कहते हैं कि प्रगतिवाद के माध्यम से राजनीति साहित्य पर चढ़ी आ रही है, और जिस कला-कक्ष में फूल और पत्तों की सजावट होनी चाहिए थी, उसमें मजदूरों के गन्दे चिथड़े, चिमनियों का धुआँ और खेतों की धूल भरी जा रही है। शुद्ध कला के उपासकों को यह जानकर चिन्ता हो रही है कि साहित्य राजनीति के हाथ का रण-वाद्य बनता जा रहा है और उसके प्राणों की कला नयी दीप्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है।

दूसरी ओर प्रगतिवाद के उन्नायकों का वह दल है जो शुद्ध कला की कृतियों को आनन्द और पलायन का प्रयास कहकर उसकी हँसी उड़ाता है तथा सच्चे मन से यह विश्वास करता है कि जब जीवन में संघर्ष की आँधी चल रही हो, दुनियाँ की कौमें हिस्टीरिया में मुब्तिला होकर आपस में पगले कुत्तों की तरह झगड़ रही हों तथा पराधीन राष्ट्र अपने गले की तौकें उतार फेंकने के लिए बड़े-बड़े आन्दोलन चला रही हों, ऐसे समय में कवि का अपनी वैयक्तिक अनुभूति के मायाबन्ध में बँधा रह जाना जीवन के प्रति साहित्य की दायित्व-हीनता का प्रमाण है। प्रगतिवादियों का यह दल चाहता है कि समाज की इस संकटपूर्ण घड़ी में साहित्य अपने कल्पना के भाव-लोक से उतर कर पृथ्वी पर आवे और मनुष्य को उन समस्याओं पर विजय प्राप्त करने में सहयोग दे जो आज समग्र विश्व को भी आपाद मस्तक हिला रही है।

छायावाद का दोष नहीं—यह सच है कि छायावाद की कुछ प्रारम्भिक रचनाएँ अशक्त और निस्सार थीं तथा जीवन के वास्तविक रूपों में उसका सम्बन्ध नहीं के बराबर था। किन्तु यह दोष छायावाद से निकली हुई शैली का नहीं, प्रत्युत उन कलाकारों का था जो स्वयं ही जीवन के वास्तविक रूपों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थे।

छायावाद की सम्भावनाएँ—छायावाद में अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ छिपी हुई थीं। तथा ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था त्यों-त्यों उसके कितने ही जौहर प्रकट होते जाते थे। १९२० से लेकर १९३०-३५ तक छायावाद ने कई प्रकार की प्रतिमाओं की संगति में रहकर अपनी अनेक प्रकार की क्षमताओं का प्रमाण दिया था। पन्तजी ने उस से ओस और ऊषा को चित्रित करने का काम लिया था तथा निरालाजी ने उसके माध्यम से पौरुष और जागरण के महागान गाये थे। प्रसादजी की गम्भीर एवं रस-स्निग्ध दार्शनिकता का भार उसने सफलतापूर्वक वहन किया था तथा 'अन्तर्जगत्' और 'अनुभूति' के कवियों की वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में उसने पूरी सहायता पहुँचाई थी। अन्तर्जगत, अनुभूति और नीहार के सोपान बहुत पीछे छूट चुके हैं। आज हिन्दी-कविता जहाँ आकर खड़ी है वह कामायनी, तुलसीदास और ग्राम्या का देश है। स्वयं महादेवीजी की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अब अधिक सुबोध एवं सुस्पष्ट हो गयी हैं तथा निराशा के जो अश्रु छायावाद को अशक्त बनाए हुए थे उनकी जगह अब सतरंगिणी के रंग उगते जा रहे हैं।

कला और जीवन की कटुताएँ—हमें हर्षित होना चाहिए कि छायावाद भी विलक्षणताओं से युक्त हिन्दी-कविता आज जीवन के विकराल प्रश्नों से लिखना सीख रही है। कवि केवल कोमल भावनाओं का उपासक नहीं होता। प्रत्युत उसे कठोरताओं से भी जूझने का पूरा अधिकार है।

सार्वजनिक विपत्ति के दिनों में ऐसा कौन अभागा मनुष्य होगा जो अपनी वैयक्तिक भावनाओं को उचित

से अधिक महत्त्व दे सके ? इतना ही नहीं, बल्कि साहित्य की बल-वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि कला के भीतर से जीवन के उन तमाम क्षेत्रों को देखे जिनकी आँधियों और उलझनों का प्रभाव मनुष्य की संस्कृति पर व्यापक रूप से पड़ता है।

कवि कर्त्तव्य—कविका प्रधान कर्म अनुभूतियोंका ग्रहण एवं उसकी सम्यक अभिव्यक्ति है तथा जिस प्रकार उसकी आध्यात्मिक अथवा प्रेम परक अनुभूतियाँ सुन्दर और सत्य होती हैं, उसी प्रकार राजनीतिक अवस्थाओं की भी उसकी स्वीकृत अनुभूति, राजनीति से भिन्न एवं शुद्ध साहित्यकी वस्तु होती है। जो लोग यह समझते हैं कि केवल प्रेम, विरह, नदी और फूलों की ही अनुभूतियाँ सच्ची और बाकी सब के सब प्रचार होती है, वे कोमलता की रूढ़ि से मस्त होने के कारण सत्य के पूरे रूप को देख सकने में असमर्थ हैं।

कला के क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अन्वेषक का होना चाहिए। कविके लिये जो प्रथम तथा अन्तिम बन्धन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे। समन्वय कलाकी सुन्दरताका मूल है। जिस प्रकार आकास में विचरण करनेवाले कलाकारको पैरों के नीचे बजने वाली मिट्टी का ध्यान बना रहना आवश्यक है, उसी प्रकार मिट्टी को ही सर्वस्व समझ लेने वाले कलाकारको यह याद रखना आवश्यक है कि उसका विहार-स्थल आकाश भी है।

साहित्य राजनीति के अधीन नहीं—साहित्य राजनीति से महान न भी हो, पर वह उससे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है। अगर वह कभी राजनीतिके क्षेत्रमें अपनी किरणों को फेंकता है तो इसका कारण यह नहीं है कि साहित्य राजनीतिके अधीन है, प्रत्युत, यह कि राजनीति उस जीवनका एक प्रमुख अंग है जो अपने पूरे वैविधके साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है। जिस प्रकार साहित्य जीवनके अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है, उसी प्रकार राजनीतिसे भी वह रस ही ग्रहण करता है। साहित्य, जहाँतक अपनी मर्यादा के भीतर रह कर जीवन के विशाल क्षेत्रमें अपना स्वर ऊँचा करता है वहाँ तक वह पूज्य और चिरायु है। किन्तु जभी वह राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लगेगा तभी उसकी अपनी दीप्ति छिन जायगी और वह कलाके उच्च पद से पतित हो जायगा। साहित्य स्वयं जागरूक और चैतन्य है।

आलोचना की कसौटी—किसी भी कृति को केवल मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कसौटी पर कस के उसे क्रान्तिकारी या श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी प्रथा सर्वथा अयुक्तियुक्त एवं अन्यायपूर्ण है क्योंकि साहित्यकला के मापदण्ड वे ही नहीं हैं जिनसे अर्थके उपार्जन एवं वितरणकी नीतियोंकी जाँचकी जाती है। कला का जन्म आत्मा की प्रेरणा तथा आवश्यकता के अनुसार होता है। आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कला न तो पैदा ही हो सकती है और न उसका जन्म रुक ही सकता है—ठीक उसी प्रकार जैसे निर्धन मनुष्यकी क्षुधा तबतक रुकी नहीं रहती जबतक उसे धन की प्राप्ति नहीं हो जाय।

मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त का एक-एक बिन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है। जबतक दिल्ली दूर है, मास्कोके निकट या दूर होने से हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पराधीन देशका मनुष्य, सबसे पहले, अपने देशका मनुष्य होता है। विश्व-मानव वह किस बल पर बने ? और विश्व-मानव की पंक्ति में गुलामों को बैठने ही कौन देता है ? हमारे समस्त अभियानों का एकमात्र स्पष्ट लक्ष्य मास्को नहीं, दिल्ली है। मास्को के उत्थान और पतन के साथ हँसने और रोने वाले अपने सहकर्मियों से मेरा निवेदन है कि हमने वोल्गा नहीं, गंगा का दूध पिया है। हम पर पहला ऋण भी वोल्गा का नहीं, गंगा का ही है। जबतक गंगा की जंजीरें नहीं टूटती हमारे अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे निष्फल और निस्सार हैं। मास्को के उत्थान या पतन से भारत के गौरव या ग्लानि की वृद्धि नहीं होती।

गुप्तजी की 'भारत-भारती'

(कुछ शंकाओं का समाधान)

श्री मोहनलाल

भाषा का वह परिमार्जन-काल था जब बाबू मैथिलीशरणजी ने लिखना आरम्भ किया। इस समय तक खड़ी बोली का गद्य तो व्यवस्थित हो चला था, पर पद्य के क्षेत्र में अभी सन्नाटा-सा ही था। उसकी रूप-रेखा बन चुकी थी, पर रंग नहीं भरा गया था। गुप्तजी ने पद्य की इस भाषा को तीव्र अभिव्यञ्जना-शक्ति दी। 'भारत-भारती' उनकी प्रारम्भिक कृतियों में से है। १६०८ ई० में उनका 'रंग में भंग' प्रकाशित हो चुका था। 'भारत-भारती' १६१२ में हिन्दी-जगत् के सामने आई। आर्यभूमि के प्राचीन गौरव से अनुप्राणित, आर्य-संस्कृति की पुण्य-निधि को सहेजे, गान्धीजी और गान्धीवाद से प्रभावित गुप्तजी की यह 'भारत-भारती' जन-गण-मन-अधिनायक हुई और हमारे राष्ट्रीय जीवन को इससे चेतना मिली। इधर कुछ वर्षों से पटना विश्व-विद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के लिए यह पाठ्य-पुस्तक नियत है। वहाँ के एक विद्यार्थी* ने 'भारत-भारती' के अतीत खण्ड (इतना ही अंश मैट्रिक के लिए नियत है) पर कुछ शंकाएँ उठाई हैं। इस लेख में उन्हीं शंकाओं पर विचार किया जायगा।

अतीत खण्ड के अन्तिम ११ पद्य 'ब्रिटिश राज्य' और 'हमारी दशा' से सम्बन्धित हैं। आपकी दृष्टि में इससे खण्ड-विभाजन का ध्येय चरितार्थ नहीं होता। प्रश्न है, अतीत में वर्तमान का सन्निवेश क्यों? इसका कारण यही है कि अतीतखण्ड के बाद, जिस वर्तमान खण्ड की आयोजना 'भारत-भारती' में की गई है, उसका पूर्वाभास देने के लिए ही ये ११ पद्य इस खण्ड में आते हैं। अतीत का स्वर्णिम वैभव गुप्तजी बिखेर चुके थे, वर्तमान का एक स्केच देना इसलिए आवश्यक था।

'भारत-भारती' का आरम्भ इन लोकप्रिय चार चरणों से होता है—

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती
भगवान्! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥
हो भद्र भावोद्भाविनी वह भारती हे भवगते।
सीतापते! सीतापते!! गीतामते! गीतामते॥

काव्यमनीषीजी को यहाँ कई शंकाएँ हैं। आपका कहना है कि—'जिसकी' अगर भारत-भारती (पुस्तक) के लिए प्रयुक्त हुआ समझा जाय तो आपकी आत्म-श्लाघा इसमें अपनी भारत-भारती की आरती आर्यजन द्वारा उतरवाने में हो पाती है कि नहीं? गुँजाने में 'वह' का छूट जाना भी जरा खटकता-सा प्रतीत होता है। आर्यजन के लिए 'हमारी' सर्वनाम भी सर्वथा अयुक्त-सा हो पाता है, फिर भी उसे भद्रभाव-प्रसारिणी न कहकर भद्रभावोद्भाविनी कहना और 'गूँजे' की अभिलाषा, प्रथम ही 'उतारें' वर्तमान काल में व्यक्त कर देना कितना अयुक्तिपूर्ण हो जाता है........।" 'जिसकी' को आप भारती (सरस्वती) के लिए प्रयुक्त नहीं समझ पाते। सारे पद्य का अर्थ भी आपने यहां समझा है कि कवि प्रार्थना करता हुआ कह रहा है कि 'हे भगवते! यह भारती (सरस्वती) मेरी भारत-भारती हेतु भद्रभावोद्भाविना हो और हे भवगते! हमारी भारती (भारत-भारती पुस्तक) भारतवर्ष में गूँजती रहे।" भवगते शब्द पर भी आपको आपत्ति है। आपके मत से भगवते के बदले भवगते ही मुँह से निकल जाता है, और भवगते शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।

इन शंकाओं के प्रकाश में इस पद्य का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है—

* काव्यमनीषी 'मोहन' विशारद।

१—भारती शब्द किसके लिए प्रयुक्त हुआ है ?

२—'जिसकी' के साथ 'हमारी' का सम्बन्ध कहाँ तक निभ सका है ?

३—'उतारें' के लिए 'गूँजें' का प्रयोग क्या ठीक हो पाया है ?

४—हमारी के पहले वह सर्वनाम का न होना क्या वास्तव में खटकता है ?

५—भवगते शब्द का व्यवहार क्या उचित है ?

भारती से अभिप्राय वाणी से—भाषा से है। यह पुस्तक के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह छन्द मंगलाचरण का है। गुप्तजी की वैष्णवता और राष्ट्रीयता की प्रतिध्वनि इस छन्द में मिलती है। ईश्वर में कवि को अनन्य विश्वास है। वह प्रार्थना करता है कि आर्यों की यह वाणी देशव्यापी हो। भारती को पुस्तक-विशेष के कर्म में लेना शब्द-शब्दार्थ के प्रति अन्याय ही होगा।

हमारी भारती से कवि का तात्पर्य अपनी 'भारत-भारती' से नहीं है। हमारी का यहाँ हमें व्यापक अर्थ लेना होगा। यह शब्द यहाँ सारे आर्यों का प्रतिनिधित्व करता है। कवि की वैयक्तिकता का यह वाचक शब्द नहीं है। फिर 'हमारी' में सम्बन्ध की निकटता भी प्रकट होती है। भाषा के प्रवाह में 'वह' का लोप भी नहीं खटकता है।

उतारें वर्तमान काल में है और गूँजे भविष्यत काल में। शंका यह की गई है कि वर्तमान और भविष्यत काल की क्रियाएँ एक साथ प्रयुक्त हुई हैं और गूँजे की अभिलाषा 'उतारें' वर्तमान काल में व्यक्त कर दी गई है। यह उक्ति अयुक्तिपूर्ण नहीं जैसाकि काव्यमनीषीजी ने सोचा है। कवि तो ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है कि वह वाणी जिसकी आर्यजन हृदय में आरती उतारते हैं, देश में गूँज जाय। वह आशावादी है—भगवान से मंगलकामना कर रहा है। इसमें न तो उसकी स्वार्थपरता है और न आत्मश्लाघा ही।

हम मानते हैं कि 'भवगते' से अधिक प्रचलित 'भगवते' शब्द है पर 'भवगते' में जो व्यञ्जना है—वह 'भगवते' में नहीं। 'भगवते' की अशुद्धि की ओर भी कवि का ध्यान रहा होगा, इसलिए उसने इस शब्द का प्रयोग न कर इसके स्थान पर इससे अधिक शक्तिशाली शब्द 'भवगते' का प्रयोग किया है, जिसमें शक्ति के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी है। 'भवगते' से तात्पर्य 'भव से भागने वाला' नहीं, जैसा कि आपने समझा है। 'भवगते' का अर्थ उससे है जिसकी भव में गति है, जो भव में व्याप्त है। फिर 'भवगते' के भाव से उसकी उद्भावना-शक्ति का भी परिचय मिलता है। जो स्वयं सर्वव्यापी है वही तो भाषा को व्यापक बना सकता है और जिसमें स्वयं उद्भाविनी शक्ति है वही तो इस भारती के द्वारा भद्र भावों का उद्भव करा सकता है। इसलिए इस भारती से भद्रभाव भवः और अभद्रभाव अभवः।

अतीत खंड के १८ वें छंद का शीर्षक है 'हमारा उद्भव'। इस भेद पर भी एक शंका उठाई गई है। वह छंद इस प्रकार है—

शुभ शाँतिमय शोभा जहाँ भव-बन्धनों को खोलती,
हिल मिल मृगों से खेल करती सिंहनी थी डोलती
स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ,
उन ऋषिगणों से ही हमारा था हुआ उद्भव यहाँ॥

शंका यह है कि 'जहाँ' के बाद 'यहाँ' का प्रयोग ठीक नहीं लगता। इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि उक्त छंद का अन्तिम चरण इस प्रकार होना चाहिए—

हम आर्यपूतों का समझलो बस हुआ उद्भव वहाँ।

वास्तव में इस सुझाव की कोई आवश्यकता नहीं थी। 'जहाँ' के बाद सामान्यतः 'वहाँ' का ही प्रयोग वांछित है, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन इस छन्द में 'यहाँ' का प्रयोग भी निभ गया है। इस छन्द में हमारा उद्भव किस से हुआ है, इस पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। किस स्थान पर किस भूमि में हमारा जन्म हुआ है, इस पर अधिक जोर दिया गया है। 'यहाँ' के प्रयोग से स्थान की निकटता का बोध होता है। अन्वय करने से अर्थ भी सुगमता से लगाया जा सकता है—"........जहाँ स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे, उन ऋषिगणों से ही यहाँ हमारा उद्भव हुआ था।"

पृ० ३० में 'हमारा साहित्य' शीर्षक छन्द के प्रथम दो चरण इस प्रकार हैं—

साहित्य का विस्तार अब भी है हमारा कम नहीं,
प्राचीन किन्तु नवीनता में अन्य उसके सम नहीं।

यह दूसरा चरण अवश्य ही दोषपूर्ण है। 'प्राचीन' विशेषण है और 'नवीनता' संज्ञा और इन दोनों का मेल भी ठीक नहीं हुआ है।

१८१ छन्द के अन्तिम दो चरण हैं—

मरते नहीं वह मौत से जो फिर उन्हें मरना पड़े,
करते नहीं वह काम उनको नाम जो धरना पड़े।

काव्यमनीषीजी को यहाँ यह आपत्ति है कि 'उक्त चरण में 'उनको नाम जो धरना पड़े' कोई कहावत किम्वा लोकोक्ति नहीं है जो शीघ्र में समझ में आ सके। हाँ, 'उसका नाम जो धरना पड़े' अगर रहता तो शायद समझ में आ भी सकता कि फाँसी की तरफ इसका अपयश या बदनामी के अर्थ में प्रयोग होता होगा।"

'उनका नाम जो धरना पड़े' यह स्वयं ठीक नहीं है—हम उनका नाम नहीं धरने जा रहे हैं। अन्तिम चरण अपने आप में पूर्ण रूप से शुद्ध है। इसका अर्थ है—वे लोग ऐसा काम नहीं करते थे, जो उनको नाम धरना पड़े—जिससे उनकी बदनामी हो। 'उनको नाम जो धरना पड़े' कोई कहावत नहीं—पर 'नाम धरना' कहावत है।

पृ० ७४ पर 'विकास में ह्रास' के अन्तिम दो चरण ये हैं—

आलाप करना भी परस्पर क्लेश हमको होगया,
निज देश में ही हा विधे ! परदेश हमको होगया।

आपको यहाँ 'क्लेश' शब्द खटकता है। क्लेश संज्ञा है जो इस वाक्य में ठीक नहीं बैठता और इसलिए इसका विशेष रूप आपकी दृष्टि में वांछनीय है। ऊपर के चरण को आप इस प्रकार बदलना संगत समझते हैं—

आलाप करना भी परस्पर क्लेशकर हा ! होगया।

यहाँ प्रश्न वांछनीय अथवा अवांछनीय का नहीं। जो रूप गुप्तजी ने हमारे सामने रखा है, उस पर ही हमें विचार करना है। ऊपर का चरण सर्वथा शुद्ध है। इसके अर्थ में किसी प्रकार की बाधा नहीं दिखलाई पड़ती। नित्यप्रति के बोलचाल में हम इस तरह संज्ञा शब्दों का व्यवहार करते भी हैं, जैसे—वहाँ जाना भी हमको पहाड़ हो गया है।

इसी पृष्ठ के 'जयचन्द और पृथ्वीराज' शीर्षक २२३ छन्द के अन्तिम दो चरण हैं—

जर्जर हुए भी आज तक हम इसलिए हैं जीरहे।
अब भी सजग हो जायँ वे विद्वेष-विष जो पीरहे॥

काव्यमनीषीजी ने इन चरणों का इस प्रकार अध्ययन किया है—उक्त पद के तीसरे चरण में 'हम इसलिए हैं जी रहे' से साफ-साफ यह परिलक्षित हो रहा है कि विद्वेष-विष पान करने वाले चश्मे की निगाहों से देख अब भी तो सँभल जायँ अथवा हम ही जरा और रह कर यह क्यों न देखलें कि अभी भी विद्वेष विष पान करने वाले सँभल रहे हैं कि नहीं अथवा अभी भी शायद विद्वेष विषपान करने वाले सँभल जायँ....... । और अन्त में आप इस दूसरे चरण को इस प्रकार बदल देना चाहते हैं—

देखें, सजग होजायँ फिर विद्वेष विष जो पीरहे।

अथवा—

देखें, सजग होते न क्या विद्वेष विष जो पी रहे।

यथार्थतः इन दोनों चरणों में अर्थ की व्यंजना अपने आप हो जाती है—खींचतान कर अर्थ लगाने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ तो क्रन्दन है—निराशा है—उद्‌बोधन की कामना है—जर्जर हुए भी (होने पर भी) हम आज इसलिए जी रहे हैं कि विद्वेष विष-पान करने वाले अब भी सजग हो जायँ। अगर वे सजग नहीं होते हैं तो आप कोई आर्डिनेंश जारी करने नहीं जा रहे।

गुप्तजी ने पृ० ११ में, फुटनोट में 'सौख्य' और 'सत्यता' शब्दों का प्रयोग किया है, उसके स्थान पर 'सुख' और 'सत्य' ही ठीक जँचता है। इसी प्रकार पृ० ६४ में कुछ छन्दों का शीर्षक 'चारित्र्य' शब्द है, जिसके स्थान

[शेष पृ० २८६ पर]

दिव्या

श्री प्रकाश सक्सेना

'दिव्या' यशपाल का तीसरा उपन्यास है। परन्तु उनके अन्य दो उपन्यासों 'दादा कामरेड' और देशद्रोही' से यह भिन्न कोटि का है। प्रथम दो उपन्यास वर्तमान भारत की राजनैतिक पृष्ठ भूमि पर लिखे गए हैं। 'दादा कामरेड' में भारतीय आतंकवादियों की झाँकी है और 'देशद्रोही' हमको १६४२ तक के भारत के राजनैतिक जीवन से परिचित कराता है। परन्तु 'दिव्या' में यशपाल हम को दो हजार वर्ष से भी अधिक पीछे की ओर ले जाते हैं। 'दिव्या' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद पतनोन्मुख भारत का इसमें चित्रण है। इसी काल के निकट के कुछ चित्र हमें कवि 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में दिये थे। 'दिव्या' का काल इससे कुछ और पीछे का है।

यशपाल का पहला उपन्यास 'दादा कामरेड' कला की दृष्टि से एक शिथिल उपन्यास है, 'देशद्रोही' में पहुँच कर उनकी कला पूर्ण समर्थता प्राप्त करती है। 'दिव्या' उस समर्थ शैली को और एक पग आगे बढ़ाती है। एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखना जरा कठिन चीज है। उसके लिए विशाल अध्ययन की आवश्यकता होती है अन्यथा उपन्यास में बड़ी भद्दी-भद्दी भूलें रह जाती हैं। पग-पग पर लेखक को इस बात का ख्याल रखना होता है कि वह जो बात कह रहा है वह उस युग के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं। लेखक की स्वच्छन्दता बहुत सीमित हो जाती है। उसे एक निश्चित सीमा के अन्दर बँधकर काम करना पड़ता है। इसीलिए मैं कह रहा था कि सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखना आसान नहीं है। 'दिव्या' में ऐतिहासिक भूलें नहीं हैं। इसके लिए यशपाल को अवश्य कठिन परिश्रम करना पड़ा होगा। 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में भी हमें यह दोष नहीं मिलता। इसका कारण भी यही है कि प्रसाद ने गहरे अध्ययन के बाद उस स्वर्णिम अतीत पर लेखनी चलाई थी। 'दिव्या' में हमें पुष्यमित्र के समय के भारत का सजीव चित्र मिलता है। भेषभूषा, रहन-सहन विचार-प्रणाली कहीं भी अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते। मारिश के चरित्र पर अवश्य कुछ लोगों को शंका हो सकती है। परन्तु उस काल में भी नास्तिक लोग भारत में विद्यमान थे, अब यह एक प्रमाणिक ऐतिहासिक सत्य है। यह बिल्कुल दूसरी बात है कि उसे लेखक की सहानुभूति मिली है। आरम्भ में ही मधुपर्व उत्सव का बड़ा सुन्दर और हृदयग्राही चित्र है। बौद्ध-विहारों, मल्लिका के संगीत समाज, धर्मस्थ के प्रासाद मथुरापुरी के भद्र समाज के अत्यन्त सुन्दर चित्र हमें 'दिव्या' में मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'दिव्या' के चित्र निर्दोष हैं, और उस काल की साक्षात् झाँकी देते हैं। वातावरण सृजन करने की यशपाल में अपूर्व क्षमता है। पाठक अनुभव करने लगता है कि वह इस दीर्घ समय का व्यवधान पार कर के उस काल में जा पहुँचा है।

'दिव्या' में सामयिकता ढूँढने के लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ता। उपन्यास पढ़ते-पढ़ते तुरन्त झलकने लगता है कि किन-किन स्थानों पर आज की समस्याओं की छाप है। मद्र पर यवन केन्द्रस का आक्रमण होने वाला है। परन्तु मद्र उस समय भी फूट और आपसी दलबंदी में लीन है। द्विज लोग आशा लगाये बैठे हैं कि पुष्यमित्र उनकी सहायता को आवेगा और मगध की भाँति मद्र में भी वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करेगा। ब्राह्मणों, बौद्धों तथा दासों में तीव्र कटुता है। सेना विशृंखल है। व्यापारी वर्ग दोनों हाथों धन समेटने में लगा है। जनता हताश है। वे नहीं सोचते कि बाहरी आक्रमण होने पर देश की क्या दुर्दशा होगी! वे नहीं सोचते—"पुष्यमित्र हो या केन्द्रस, मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिए अपना रक्त बहाने नहीं आएगा।" वे नहीं समझते कि "पराजित होने वाले कभी पूज्य नहीं होते।" उनके नेत्रों के आगे वह दृश्य नहीं फिरता जब 'अभिजात और कुलीन होने का अभिमान

करने वाले शृंखलाबद्ध दासों की भाँति फिरेंगे। भय से चीत्कार करती सागल की कुल नारियाँ और द्विज कुमारियाँ विजय की लूट में समेटी जायेंगी……" इसमें और सन् १९४२ में आसन्न जापानी आक्रमण के समय भारत की दशा में कितना साम्य है। आज देश में फैली हुई फूट और पस्तहिम्मती की इस उपन्यास में भी छाया है। यवन-कुमारी सीरो में हम आज की 'सोसाइटी गर्ल' की स्पर्धा, सम्मान लिप्सा और उच्छृङ्खलता पाते हैं। उस समय की अछूत समस्या आज से भी अधिक जटिल थी। आज भी आप कितने ही ब्राह्मणों को विष्णु शर्मा की भाँति कहते पायेंगे—"क्या प्रयोजन है आज यह कौशेय धारण करने का जब दास और शूद्र भी ऐसे ही, इससे भी उत्तम वस्त्र-भूषण पहने फिरते हैं।"

इस उपन्यास में दिव्या के कोलाहल पूर्ण जीवन का एक अंश है। दिव्या मद्र के धर्मस्थ की प्रपौत्री है। रूप और गुण सभी में उसकी समानता करने वाला मद्र में कोई नहीं है। गण उसे अपनी 'सरस्वती पुत्री' निर्वाचित करता है। धर्मस्थ के उदार वातावरण में पली होने के कारण उसके विचार अन्य द्विजजनों की भाँति संकुचित नहीं है। वह दास पुत्र पृथुसेन को अपना प्रेम-पात्र चुनती है और विवाह होने से पूर्व ही आत्म समर्पण कर बैठती है। कायर पृथुसेन बाद में दिव्या को ग्रहण नहीं करता और दिव्या गर्भ में अपने कलंक को दबाए पितृ-गृह त्याग देती है। वह केवल अपने बालक की रक्षा चाहती है। उसके लिए दासी कर्म तक स्वीकार करती है। परन्तु अन्त में वह उसे भी नहीं बचा पाती। मथुरा की जनपद कल्याणी रत्नप्रभा अन्त में उसका उद्धार करती है। इतनी ठोकरें दिव्या के जीवन में कटुता भर देती हैं। वह मथुरा की सर्व श्रेष्ठ नर्तकी तो बन जाती है परन्तु इस सब में उसका एक तटस्थ भाव रहता है; जैसे उसे जीवन में कुछ रुचि ही न रही हो। मारिश और रुद्रधीर के प्रणय-निवेदन को वह अस्वीकार कर देती है। यद्यपि वह मारिश के प्रति अनुरक्त होती है परन्तु पृथुसेन के कटु अनुभव ने उसके जीवन के अमृत को सुखा दिया है। वह सोचती है, 'धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अक्खड़ मारिश और माताल वृद्ध, नारी के लिए सब समान हैं। जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ? उसे सब भोगेंगे ही। "मारिश के तर्कों का उत्तर वह नहीं दे पाती परन्तु उसके कानों में एक स्वर सदैव गूँज रहा है—"वेश्या स्वतन्त्र नारी है।" दिव्या अब स्वतन्त्र रहना चाहती है। अन्त में वह मद्र पहुँचती है। मल्लिका उसे अपनी उत्तराधिकारिणी बनाती है। परन्तु अब मद्र में रुद्रधीर द्वारा वर्णाश्रम धर्म स्थापित हो चुका है। "द्विज कन्या वेश्या के आसन पर बैठ, जन के लिए भोग्य बन, वर्णाश्रम को अपमानित कैसे कर सकती है?" निराश दिव्या चल देती है। अन्त में उसके पास भट्टारक रुद्रधीर, कायर पृथुसेन जो अब भिक्षु बन चुका है और नास्तिक मारिश तीनों पहुँचते हैं। वह कुलवधू का आसन स्वीकार नहीं करती क्योंकि उसमें "नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है।" वह भिक्षु पृथुसेन को झिड़क देती है क्योंकि "भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।" वह मारिश को आत्मसमर्पण करती है क्योंकि वह "संसार के धूल धूसरित मार्ग का पथिक है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।" नास्तिक मारिश की यह महान विजय है। क्योंकि यह समर्पण पृथुसेन को आत्मसमर्पण करने वाली अनुभव हीन अल्हड़ छोकरी का समर्पण नहीं है वरन् जीवन की जटिलताओं से परिचित एक अनुभवी मानवी का समर्पण है।

दास-पुत्र पृथुसेन का चरित्र एक कायर, यश लोलुप व्यक्ति का चरित्र है। ऐसे व्यक्ति आज भी अनेक मिलेंगे। आरम्भ में हम उसे मद्र के सर्व श्रेष्ठ खड्गधारी के रूप में देखते हैं; पुनः दिव्या के हृदय-विजेता के रूप में और फिर मद्र के सफल सेनापति के रूप में। इसके बाद उसके चरित्र का पतन होने लगता है और वह पाठक की समस्त सहानुभूति खो बैठता है। गर्भवती दिव्या को वह द्वार से लौटा देता है। अपने कुचक्री पिता के आगे वह कंधे डाल देता है। अपनी यश लोलुपता के वशीभूत होकर वह सीरो से विवाह करता है। एक अबला के जीवन की उसे चिन्ता नहीं। रुद्रधीर के षड्यन्त्र से जब मद्र में शासन-चक्र बदलता है तब हम उसे एक कायर की भाँति जान छिपाते

हुए एक बौद्ध विहार में शरण ग्रहण करते पाते हैं। उस समय प्रश्न उठने लगता है कि क्या इसी पृथुसेन ने केन्द्रस-को अपार सेना को हराया था।

प्रेस्थ का चरित्र एक महत्वाकांक्षी सेठ का चरित्र है। अपनी ऐहिक उन्नति के लिए वह अनुचित-उचित सभी साधनों का उपयोग करता है। धर्मस्थ का चरित्र एक वीतराग उदार महात्मा का चरित्र है। अपने अध्ययन के द्वारा वह संसार से काफी ऊपर उठ गए प्रतीत होते हैं। रुद्रधीर एक अभिमानी ब्राह्मण है। वह मद्र में 'मुण्डी धर्म' का नाश करके वर्णाश्रम धर्म स्थापित करना चाहता है। अन्त में यह कर्मवीर सफल होकर भी दिव्या के आगे परास्त होता है। यशपाल के कठोर व्यंग का सबसे अधिक शिकार इसी व्यक्ति को बनना पड़ा है। चार्वाकी मारिश भी 'दिव्या' का एक जीता जागता पात्र है। उसके तर्क बुद्धि को कुरेदते हैं; कुछ सोचने को विवश करते हैं। यशपाल को इस चरित्र का कुछ और विकास (develop) करना था परन्तु सम्भव है कि उस दशा में उन्हें कुछ लोगों के आक्षेपों का शिकार बनना पड़ता।

यशपाल की कला की प्रमुखतम विशेषता उनका तीखा और चुभता हुआ व्यंग है। उनकी कहानियों, उपन्यासों और लेखों सभी में इस शक्तिशाली आयुध के आघात मिलेंगे। 'दिव्या' में भी व्यंग की प्रधानता है। वर्णाश्रम धर्म पर, दास-प्रथा पर, बौद्धधर्म पर, भिक्षुओं पर, मिथ्या द्विजाभिमान पर बड़ी कड़ी चोटें की गई हैं। प्रेस्थ और रुद्रधीर का चारों ओर का सारा वातावरण ही व्यंग का है। रुद्रधीर को तो लेखक ने बड़ी निर्दयतापूर्वक व्यंग का शिकार बनाया है। मथुरापुरी में अंशुमाली के प्रति उसका व्यवहार और फिर अन्त में दिव्या के अभिषेक में उसकी स्थिति और फिर उसका दिव्या के समीप जाना। महाबोधि चैत्य के स्थविर की धर्मनिष्ठा पर, जो दासी दारा को संघ में शरण देना अस्वीकार कर देता है, करारे आघात किए गए हैं। पुरोहित चक्रधर के यहाँ दासी दारा की स्थिति भी इसी व्यंग का उदाहरण है। जब लेखक दासी से दूध पाए जाने के लिए उसके पुत्र को दिखाने की क्रिया से गोदोहन की क्रिया की समानता दिखाता है। उस समय तो पाठक को दिल दबा लेना पड़ता है। लेकिन एक बात है कि 'दिव्या' में यशपाल का व्यंग उनकी अन्य कृतियों की अपेक्षा कुछ मलिन-सा लगता है।

'दिव्या' का एक दूसरा पहलू भी है। इसमें दो विभिन्न आदर्शों की आलोचना है। वर्णाश्रम और बौद्ध-धर्म के विरुद्ध लेखक ने मारिश के नास्तिकवाद को खड़ा किया है। मारिश ही इस नास्तिकवाद के व्याख्याता के रूप में आता है। नैतिकता, धर्म और समाज में नारी के स्थान पर उसके तर्क प्रचलित विचारों से भिन्न हैं। परन्तु उसका कोई अनुयायी नहीं है। वह अपने मन का अकेला प्रचारक है। लोग उसकी बातों की सत्यता से प्रभावित अवश्य होते हैं, परन्तु उन्हें अङ्गीकार नहीं कर पाते। शायद वह अपने समय से बहुत आगे की बातें करता है। मारिश उस कोकिल के समान लगता है जो बसन्त आने के काफी पूर्व शरद में ही कूक उठी हो। इन दो आदर्शों की टक्कर को ध्यान में रखकर पढ़ने से उपन्यास में दूसरा ही आनन्द आता है।

[पृष्ठ २८६ का शेषांश]

पर 'सत्य' का प्रयोग ही ठीक है। पृ० ६२ का 'सात्विकी' शब्द भी ठीक नहीं बैठता—(ले सात्विकी भिक्षा प्रथम ही गृहणियाँ आगे बढ़ीं)। पृ० ७६ में 'राणा' का 'राना' और अनेकों स्थलों पर 'चिह्न' का 'चिन्ह' प्रयत्न लाघव का ही परिणाम है। पृ० ५७ में 'ग्रहों' अशुद्ध है, इसके स्थान पर 'गृहों' होना चाहिए—

होमाग्नि जलकर द्विज-ग्रहों में पुण्य-परिमल भर उठी।

पृ० ५२ में 'को' के स्थान पर 'से' ही होना चाहिए—

ऐसे नहीं थे जो समर में शक्र को भी डर सकें।

पृ० २२ में 'सांसारिकी स्वाधीनता' से तात्पर्य 'भौतिक स्वाधीनता' से है। पर सांसारिकी शब्द कवि का अपना गढ़ा हुआ ही है—

वे जातियाँ जो आज उन्नति-मार्ग में हैं बढ़ रहीं।
सांसारिकी स्वाधीनता की सीढ़ियों पर चढ़ रहीं॥

यहाँ पूर्ण-विराम का प्रयोग भी ठीक नहीं है।

कहानी

त्रयोदशी—ले० श्री शान्तिस्वरूप गौड़, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक मंदिर खुर्जा (यू. पी.)। पृष्ठ १३७, मूल्य १) रु०

त्रयोदशी में लेखक की तेरह कहानियों तथा रेखाचित्रों का प्रहण है जिनमें समाज का वास्तविक चित्र खींचने का प्रयत्न किया है लेकिन किसी समस्या विशेष पर प्रकाश नहीं डाला गया।

साहित्य के इस युग में न तो घटना प्रधान कहानियों का कोई अस्तित्व ही है और न वे आदर की दृष्टि से ही देखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर चरित्र-प्रधान व भाव-प्रधान कहानियाँ ही आधुनिक युग की स्थायी सम्पत्ति हैं। इस दृष्टि से लेख० को पूरी सफलता मिली है इसमें हमें सन्देह है।

बा० शिवसहाय और त्रयोदशी का अनुचित सम्बन्ध, भोलानाथ का दुर्भाग्य, स्टोर बाबू, ज्वाला की मृत्यु राघव का चारित्रिक पतन आये दिन होने वाली घटनाओं के ही अङ्ग हैं, पर वर्णन शैली में कोई विशेष चमत्कार नहीं पाठकों को प्रभावित करने की सामर्थ्य भी नहीं। भाईजी पान वाले जैसे निष्कृष्ट पात्रों को पाठकों से दूर रखना ही उचित है। मिलनद्वार, गाँवों की बरात और तिरस्कृत दान जैसी उद्देश्यहीन कहानियों का साहित्य में कोई स्थान नहीं। डाक्टर का बिल और पं० सम्पतलाल साधारण कहानियों की श्रेणी में आ सकती हैं।

श्रीमती बेला चटर्जी में लेखक ने नये आदर्शवाद की झोंक में नारी के वास्तविक रूप को कलुषित कूँची से रँगने का प्रयत्न किया है। श्रीमती चटर्जी की भाँति यदि सभी भारतीय ललनायें वैवाहिक बन्धन में बँधे बिना फणि, मणि और चन्द्र जैसी आदर्श सन्तान उत्पन्न करने लगें तो हिन्दी संस्कृति, गार्हस्थ्य-जीवन का पवित्र प्रेम, नारी का उज्ज्वल पातिव्रत धर्म और समाज की दृढ़ दीवारों को ढहने में अधिक समय नहीं लगेगा।

नर कुल बन—ले० श्री शान्तिस्वरूप गौड़। पृष्ठ १००, मूल्य १॥)

'नरकुल बन' लेखक की कहानियों का दूसरा संग्रह है, इसमें विचारों की गम्भीरता के साथ-साथ लेखनी ने भी गम्भीर शैली का आश्रय लिया है। कला भी कुछ परिष्कृत हो चली है और जीवन की घटनाओं ने भी मनोवैज्ञानिक रूप लेना आरम्भ कर दिया है।

गाँवों में अक्सर जैसे तत्वहीन कथानक में भी ग्रामीण पारिवारिक कलह का सजीव चित्रण कर प्राण डाल दिये हैं। साथी में प्रतिस्पर्धा की भावना उचित नहीं यदि परिस्थितियाँ तथा आर्थिक स्थिति अनुकूल न हो। उसकी मर्जी में शैशव की स्मृति के आधार पर कोई भी किशोरी कुछ दिन के सम्पर्क से आत्म समर्पण की भावना से प्रेरित, निराश होने पर जिसकी पृष्ठ भूमि ठोस भी न होने पाई हो कैसे आत्महत्या कर सकती है, जब तक कि उचित वातावरण उत्पन्न न हो जाय। भावुकता की भी कोई सीमा होती है।

कुछ कहानियों में लेखक ने वास्तव में आशातीत सफलता प्राप्त की है। माकी भूल, चौथी, जान का लेवा, सत्ताइस वर्ष बाद आदि कहानी सुन्दर और कलापूर्ण हैं।

वर्णन-शैली में विशेष चमत्कार आ गया है। चौथी के चरित्र में गान्धीजी की अहिंसा और सत्य-वीरता का आभास मिलता है। उसका मजदूरों का संगठन और 'मिल मालिकों से संघर्ष में' सन् ४२ के आन्दोलन की झलक मिलती है, यद्यपि सफलता की कल्पना अपनी है। 'सत्ताइस वर्ष बाद' में युद्ध जनित महँगाई, मध्य वर्ग तथा पूँजीवाद के अभिशाप का सजीव चित्रण है। एक मन, एक विचार में लेखक के क्रान्तिकारी विचारों का प्रस्फुटन है। भङ्ग के नशे में पूँजीपति और प्रोलेटेरियट के संघर्ष की एक झलक मिलती है।

छपाई सुन्दर और पुस्तक पढ़ने योग्य है। आशा है प्रयत्न करने पर लेखक को भविष्य में अधिक सफलता मिलेगी।

—तारासिंह थाकरे

बाल मनोविज्ञान

बच्चों की आदतों का विकास—लेखक-राममूर्ति महरोत्रा एम० ए०, बी० एड०, प्रकाशक-विद्यामंदिर लिमिटेड, नई दिल्ली मूल्य २) रु०।

प्रस्तुत पुस्तक एक अनुभवी अध्यापक द्वारा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों, निरूपणों और अनुभवों के आधार पर लिखी गई है। पुस्तक में कुल बारह अध्याय हैं, जिनमें 'संवेदनात्मक विकास' 'झूठ बोलना' और 'चोरी करना' विशेष रूप से रोचक और पठनीय हैं। पुस्तक अध्यापकों और अभिभावकों के बड़े काम की है। जब कि अन्य देशों में बच्चों के निरीक्षण के लिए प्रयोगशालाएँ हैं, और बालक के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण ही बदल गया है, हमारे देश में अब भी वे ही दकियानूसी विचार चले आ रहे हैं और न हमने वैज्ञानिक ढंग से बच्चों के विषय में अपनी जानकारी ही बढ़ाने का कोई भागीरथ प्रयत्न किया है। हमारे देश में, विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त अध्यापक भी यथेष्ट संख्या में हैं, परन्तु उनसे हमको अभी तक इस ओर कुछ नहीं मिला। आधुनिक युग का सन्देश है कि प्रत्येक बालक एक विशेष व्यक्तित्व लेकर संसार में अवतरण करता है और उसका अध्ययन तथा पूर्ण विकास ही उसके माता-पिता और अध्यापक दोनों का लक्ष्य है। लेखक ने शैशवावस्था से १६-२० वर्ष की आयु तक बच्चों की आदतों, प्रवृत्तियों और समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक ढंग से गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। प्रत्येक अध्यापक और अभिभावक को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए और इससे लाभ उठाना चाहिए। हिन्दी में मनोविज्ञान की दृष्टि से लिखी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों का अभाव-सा है, ऐसी दशा में इस पुस्तक का हम हृदय से स्वागत करते हैं।

पुस्तक की छपाई और गैट-अप सुन्दर है, परन्तु ११० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य दो रुपये कुछ खटकता है।

—मदनलाल जैन एम. ए.

राजनीति

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व का संसार—द्वितीय भाग। लेखक—श्री रामरतनजी गुप्त एम० एल० ए० (केन्द्रीय) प्रकाशक-सिटी बुक हाऊस कानपुर। मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में श्री रामरतनजी ने अपनी संसार यात्रा का सरल भाषा में विवरण लिखा है। अमेरिका, जापान, चीन, मलाया व स्याम के सुन्दर स्थानों राजधानियों व रीति रस्म पर इस यात्रा विवरण में अच्छा प्रकाश डाला गया है किन्तु युद्ध से पूर्व की यात्रा होने के कारण पाठक के लिये वह विवरण अधिक उपयोगी नहीं रह गया है। हाँ, अमेरिका पर लिखे पाँच-सात अध्ययन तो पूर्ववत् उपयोगी हैं। जापान व चीन के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है। पुस्तक में स्थान-स्थान पर चित्र दे कर यात्रा को यथार्थ में प्रत्यक्षता का रूप दिया गया है। छपाई सफाई अच्छी है और ढाईसौ पृष्ठ होते हुए भी दाम केवल १) है। इस लिहाज से यह यात्रा पाठक को बड़ी सस्ती मालूम देगी और भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति के ज्ञान में लाभदायक सिद्ध होगी।

—दीनदयाल शास्त्री

किसान राज—(पञ्चवर्षीय योजना) लेखक—श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, पृष्ठ संख्या २३०, मूल्य २॥)

हमारे प्रान्तपति पण्डित श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल कांग्रेस के कर्मठ नेता हैं। किसानों व ग्रामों की समस्या का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव है। सन् १६२३ में वे स्वराज्य-

दल की ओर से प्रान्तीय कौन्सिल के सदस्य चुने गये थे और अभी हाल तक वे केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य थे। बीच में कांग्रेसी शासन के दिनों में पालीवालजी हमारे सूबे के ग्रामसुधार अफसर भी रहे हैं। इनके पिछले पच्चीस साल के सार्वजनिक जीवन का अधिक भाग अपने प्रान्त के देहात व उसमें रहने वाले किसानों व श्रमिकों की समस्या के अध्ययन में व्यतीत हुआ है। बरेली जेल में लिखी गयी 'किसान-राज' नाम की यह पुस्तक पालीवालजी के उस अनुभव व अध्ययन का परिणाम है।

इस पुस्तक को चार अध्यायों में बाँटा गया है। इन अध्यायों के शीर्षक हैं किसान-गुण-गाथा, कष्ट-कथा, संकटमोचन-योजना और मुँह पर मुँह। पहले अध्याय में पालवालजी ने किसान-जीवन को श्रेष्ठतम बतलाया है और योरप, एशिया व अन्य प्रदेशों में समय-समय पर हो रहे किसान-आन्दोलनों के जन्म व विकास का चित्र खींचा है। इस प्रसंग में उन्होंने योरप के किसान-संगठन का सुन्दर विश्लेषण किया है और अन्त में महात्मा गान्धी के शब्दों में स्पष्ट किया है कि हमारे देश का उद्धार भी किसानों के द्वारा होगा। दूसरे अध्याय में अपने देश के किसानों की गरीबी व कष्ट-कथा का वर्णन है। भारतवर्ष के किसानों की गरीबी के मुख्य दो कारण माने हैं १—सिंचाई की कमी व उसका कुप्रबन्ध, जंगलों का अभाव व अव्यवस्था, रेलों की विदेशी व्यापार के प्रति रियायती नीति जिसके कारण किसान की फसल पूरा फायदा नहीं पा सकती, पशुचिकित्सा व चरागाहों की कमी, फसल की बिक्री की अव्यवस्था, जनसाधारण की चिकित्सा का अभाव एवं किसानों का अनपढ़ होना। इन कारणों पर पचास पृष्ठों में प्रकाश डालते हुए पालीवालजी ने हमारे किसान का जो द्रावक चित्र खींचा है वह पढ़ने की चीज है। उसके पाठमात्र से पता चलता है कि किस प्रकार विदेशी शासन व उसके अंगरेज व भारतीय अफसर किसानों के रक्षक होने के बजाय आजकल भक्षक बने हुए हैं।

संकटमोचन-योजना—किसान व उसकी आवश्यकता को सिद्ध करने के बाद लेखक ने तृतीय अध्याय में इस संकट के निवारण का उपाय बतलाया है। यथार्थ में यह अध्याय ही पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। प्रारम्भ में भारतीय किसान के प्राचीन व मध्य काल के सुखी जीवन का उल्लेख है। इसके बाद किसानों व भारत की आम गरीबी के निवारण के लिये प्रकाशित भिन्न-भिन्न योजनाओं पर विचार किया गया है। लेखक इस प्रसंग में सरकार द्वारा बनाई जा रही युद्धोत्तर योजनाओं को भारतीय हित के प्रतिकूल व अँगरेजी व्यापार के अनुकूल बतलाते हैं। बम्बई योजना को वे विचारणीय समझते हैं किन्तु उसे पाश्चात्य ढंग के पूँजीवाद पर आश्रित कह कर अव्यवहार्य बतलाते हैं। इसके बाद संक्षेप में पालीवालजी अपनी किसानराज की पंच वर्षीय योजना का विवरण देते हैं।

अपनी इस योजना के वे दो आधार पेश करते हैं। पहला यह कि देश की वे क्या आवश्यकतायें हैं जिन्हें पूरा करना चाहिये। दूसरा यह कि इसके लिये हमारे पास क्या साधन हैं।

पाँच वर्ष में चौगुनी आय बढ़ाने के लिये पालीवालजी जमीन को जो जोते उसे देने की बात कहते हैं। बम्बई योजना व श्रीमन्नारायणजी की योजना भूमि के राष्ट्रीयकरण की पक्षपाती है। किसानों के भूमि सम्बन्धी लगान व रूस में जमीन के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हुए किसान आन्दोलन के आधार पर किसानराज के अनुभवी लेखक का मत है कि भूमि का राष्ट्रीयकरण सम्भव नहीं है। हमारा देश ९० फीसदी ग्रामीणों का देश है इसलिये भी वे किसानों को (जोतने वालों को) भूमि का मालिक बनाना चाहते हैं। हम उनके इस विचार से सहमत हैं किन्तु इसी युक्ति के आधार पर पालीवालजी को उत्पत्ति के दूसरे साधनों के राष्ट्रीयकरण पर भी जोर न देना चाहिये। जोतने वाले किसान को भूमि सौंप कर सिंचाई, पशु-चिकित्सा, जंगलों की कमी आदि उन वस्तुओं की उन्नति पर पालीवालजी ने आगे विचार किया है। कपड़ों के सम्बन्ध में वे खादी व चरखे को उपयोगी मानते हैं। उनका विचार है कि बड़े-बड़े कलकारखाने जहाँ जनता में विषमता पैदा करते हैं वहाँ

अनैतिकता में वृद्धि की गुञ्जायश हो जाती है। खादी के साथ-साथ घरेलू उपयोग-धन्धों के भी वे पक्षपाती हैं। पालीवालजी का स्पष्ट मत है और वह इस विषय में गान्धीजी से सहमत हैं कि शहरी जीवन की अपेक्षा देहाती जीवन अधिक उपयोगी व सुखकर है। इसी दृष्टि से भूमि, कपड़ा व अन्य उद्योग-धन्धों को वह प्रामुख्य रखना चाहते हैं। शिक्षा, चिकित्सा व आन्तरिक व्यवस्था में वे वर्धा योजना व पंचायत प्रणाली को उपादेय मानते हैं। हाँ, यातायात के सम्बन्ध में उनका रुख नवीन है। वे देश में रेल, सड़क, डाक, तार की वृद्धि के समर्थक हैं। ठीक भी है मनुष्य के सुख के ये वर्तमान साधन अनिवार्य अङ्ग हैं किन्तु यदि हम एक दिशा में नवीनता के पक्षपाती हैं और बड़े-बड़े कल-कारखानों के समर्थक हैं तो कपड़े व अन्य वस्तुओं के लिये इनकी आवश्यकता क्यों न होनी चाहिये, इसका उत्तर भी पालीवालजी को देना चाहिये था। अन्त में इस योजना के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े दिये गये हैं जिनका सम्बन्ध केवल अनुमान से है। यथार्थ में इस योजना के कार्यान्वित होने पर क्या व्यय पड़ेगा यह कहना कठिन है।

"मुँह दर मुँह" शीर्षक चौथे अध्याय में पालीवालजी ने उस शंका का निवारण किया है, जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। उनका कहना है कि किसानराज की उनकी योजना भूमित्र है और देशकाल के अनुकूल है। पालीवालजी की राय में बड़े-बड़े कल-कारखानों द्वारा उत्पत्ति की योजना मनुष्य के लिये सुखद नहीं है। बड़े-बड़े कल-कारखानों से मनुष्य कम समय काम करेगा इसे वे अच्छा नहीं मानते। खाली मनुष्य शैतान का आश्रय लेता है, यह हम मानते हैं और इसी को पालीवालजी ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। ऐसा करते समय वे देश की ग्राम-समस्या के लिये समाजवाद या साम्यवाद को उपयुक्त साधन नहीं मानते। वे तो स्पष्टतः गान्धीवाद को ही इसका इलाज मानते हैं। उनकी राय में सत्य व अहिंसा को मानवीय नीति का आधार होना चाहिये। अन्त में पालीवालजी ने पिछले पचास वर्ष की कांग्रेस की सफलता का जिक्र किया है और कहा है कि "सब शक्ति ग्रामों को मिले" यह हमारा नारा होना चाहिये और इस में ही भारतीय किसान या राष्ट्र का हित सुरक्षित है, हमें ऐसा मानना चाहिये।

पुस्तक की छपाई-सफाई आकर्षक है। बदलती हुई दुनिया में, अपनी चारों ओर के परिवर्तन से परिचय की कामना पालने वाले, सभी पठित समाज से, एक बार 'किसानराज' के मनन का हमारा आग्रह है।

हमारा स्वाधीनता संग्राम—ले० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल। पृष्ठ सं० १२६, मूल्य १॥)

पालीवालजी की दूसरी पुस्तक सन् १९४२ के आन्दोलन व देश के भावी कार्यक्रम से सम्बन्ध रखती है। इस पुस्तक को भी लेखक ने चार भागों में विभक्त किया है। पहले शीर्षक "सिंहावलोकन" में लेखक ने सन् १९४२ के पहले के आन्दोलन की परीक्षा की है। उनके मत में सन् २२,२३ व विशेषतः सन् ३२-३३ के बाद कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में दो भिन्न-भिन्न विचार धारायें काम कर रही थीं। एक धारा समझौते व उदारदली मनोवृत्ति द्वारा स्वराज्य प्राप्ति को सहज समझती थी। दूसरे विचार के लोग निरन्तर संघर्ष के पक्षपाती थे। इन विचार धाराओं ने कांग्रेसी शासन के दिनों में देश को दलबन्दी में डाल दिया था। अनुशासन व श्रद्धा को तिलाञ्जलि देकर कांग्रेस कार्यकर्ता नेतृत्व लेने की फिक्र में हो गये थे। इसी कारण समाजवाद या साम्यवाद का देश में जन्म हुआ। लेखक का मत है कि इन वादों के प्रचारक यथार्थ में वैसे न थे, वे तो केवल कांग्रेस की शक्ति से लाभ उठाना चाहते थे, लेकिन सन् १९४१ के वैयक्तिक सत्याग्रह व सन् १९४२ के आन्दोलन ने ऐसे लोगों की कलई खोल दी है और कांग्रेस को शुद्ध मार्ग पर चलने की गति प्रदान की है। इस प्रसंग में लेखक बरेली जेल के जीवन का भी सुन्दर चित्र खींचते हैं किन्तु उससे जो परिणाम उन्होंने निकाले हैं, उनसे हम सहमत नहीं हैं। जेल अधिकारियों से छोटी-छोटी बातों पर सदा संघर्ष लेना या न लेना कोई ऐसी कसौटी नहीं है कि जिससे किसी कांग्रेसी के प्रतिभाशाली व योद्धा होने की परीक्षा हो सके। हाँ, यह हम मानते हैं कि जेल-जीवन में आत्म-सम्मान को न खोना चाहिये। पुस्तक के दूसरे अध्याय में विरोधियों को मुँहतोड़ जवाब दिया

गया है। इसमें देश में स्थापित कांग्रेसी व गैर कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों में विभिन्नता दिखलाई गई है और सिद्ध किया गया है कि कांग्रेसी मंत्री-मण्डल किस प्रकार सिद्धान्त, आदर्श व अपने खरेपन के लिये अपने देश व विदेश में प्रसिद्ध हुए हैं। इस अध्याय के पिछले भाग में कम्युनिस्टों के कांग्रेस व मुस्लिम लीग ऐक्य व पाकिस्तान की समीक्षा की गई है।

इस पुस्तक का तीसरा अध्याय है—आखिरी मंजिल के चौराहे पर—अब किधर। इस अध्याय में विद्वान् लेखक ने स्पष्ट किया है कि स्वतन्त्र होने की हालत में हमारा मार्ग क्या होगा। इस प्रसंग में वे प्रतिनिधि सत्ता त्रय, फासिस्टवाद, मार्क्सवाद व गान्धीवाद पर विचार करते हैं। प्रतिनिधि शासन को पालीवालजी आवश्यक मानते हैं किन्तु देश की स्वाधीनता में यदि कौंसिल में आना-जाना बाधक हो तो वे उसे तिलाञ्जलि देने के लिये तैयार हैं। फासिस्टवाद को वे संसार के लिये अहितकर मानते हैं। मार्क्सवाद को वे पाश्चात्य प्रवृत्ति किंवा सभ्यता का समर्थक मानते हैं और उनके अर्थशास्त्र को भारतीय जनता के लिये विघातक। मार्क्सवाद के तीन सिद्धान्तों वर्ग-संघर्ष, हिंसा द्वारा शक्ति पाने में विश्वास और कम्यूनिस्ट अधिनायकत्व की पालीवालजी ने इस अध्याय में विस्तृत व्याख्या दी है और उन्हें इस बीसवीं सदी के लिए अस्वीकार्य बतलाया है। धर्म-विरोधी व किसान-विरोधी होने के कारण भी पालीवालजी मार्क्सवाद को भारत के लिये अनुपयुक्त मानते हैं। रूस का गत पच्चीस वर्ष का संघर्ष मजदूरों का संघर्ष है, किसानों का नहीं। इसके विपरीत भारत मजदूरों का नहीं, किसानों का देश है। अतः वह मार्क्सवाद के लिए उपयुक्त नहीं यह पालीवालजी का मत है।

अन्तिम अध्याय 'नयी कांग्रेस' 'नया कार्यक्रम' में पालीवालजी भारत के हित के लिए गान्धीवाद को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनका कथन है कि सन् १६४२ के बाद पुरानी कांग्रेस मर गई है। अब नवीन कांग्रेस के लिए एक ही मार्ग है और वह है—एक संगठन कांग्रेस, एक नेता महात्मा गान्धी, एक झण्डा राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा तथा एक कार्यक्रम कांग्रेस का रचनात्मक व अन्य कार्यक्रम। इस अध्याय में पालीवालजी ने जिन सुन्दर शब्दों में महात्माजी के चतुर्दशी कार्यक्रम की व्याख्या की है, वह पढ़ने की ही वस्तु नहीं, मनन की चीज है।

पालीवालजी की इन दोनों पुस्तकों में अँगरेजी भाषा के शब्द रोमन लिपि में प्रकाशित हुए हैं। यदि उनका हिन्दी में अनुवाद दिया जाता तो पाठकों को और भी सुविधा रहती। हिन्दी के सामान्य पाठक अँगरेजी शब्दों को न पढ़ सकते हैं, न समझ सकते हैं। प्रूफ की भूलें भी हैं, जो शायद छपाई की जल्दी का परिणाम हैं। अन्त में हम आगरे की शिवलाल एण्ड कम्पनी के आभारी हैं जिन्होंने पालीवालजी की जेल की रिहाई के एक मास के भीतर ही इन सामयिक पुस्तकों का प्रकाशन कर हिन्दी-जगत् का उपकार किया है। —दीनदयालु शास्त्री।

स्फुट

अपराध और दण्ड—लेखक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त तथा धूर्मविहारीलाल सक्सेना। प्रकाशक—ज्ञान मंदिर लिमिटेड काशी। पृष्ठ संख्या १२२, मूल्य १)

हिन्दी में कानून संबंधी तो कुछ पुस्तकें लिखी हैं, वे शायद इसलिए कि साधारण जनता कानून के चंगुल से किस प्रकार बच सके। किन्तु न्याय विधान और दण्ड देने के सिद्धान्तों पर बहुत कम विचार हुआ है। इस सम्बन्ध की पहली पुस्तक जहाँ तक मेरे देखने में आई है, प्रकाशनारायण सक्सेना बी० एस-सी० के द्वारा ठीक रूप में प्रस्तुत की गई है इसका प्रकाशन दी यू० पी० डिस्चार्ज प्रिजनरस एण्ड सुसाइटी कौंसिल हाऊस लखनऊ से हुआ है। दूसरी पुस्तक आलोच्य पुस्तक है।

अपराधी व अभियोगी, अब अध्ययन का विषय बनता जा रहा है। कुछ दिन पूर्व न तो न्यायालय ही अपराधी के साथ सहानुभूति का व्यवहार करते थे और न जनता ही उसके लिए अपने मस्तिष्क को कष्ट देना पसन्द करती थी। ज्यादा से ज्यादा अपराधी के संबंध में यह कह कर कि जैसा किया वैसा उसने भोगा, धर्म भीरु लोग अपनी कर्तव्य-बुद्धि को सन्तुष्ट कर लेते थे। आजकल अपराधी के प्रति दृष्टिकोण कुछ बदल गया है। अपराधी

जो कुछ करता है वह स्वयं अपनी तबियत से नहीं करता है। वह अपने से बाहर सामाजिक और अपनी शारीरिक और मानसिक परिस्थितियों और न्यूनताओं से मजबूर होकर करता है। अधिकांश अवस्थाओं में तो वह पागल की भाँति चिकित्सा का विषय बन जाता है। दण्ड के संबंध में भी अब समाज का दृष्टि-कोण बदलता जा रहा है। दण्ड के पीछे न तो समाज का प्रतिनिधि बनकर बदला लेने की भावना है और न भय प्रदर्शन द्वारा अभियोगी को दुष्कर्म से विरत करने अथवा उसको भौतिक बंधनों में डाल कर कुछ काल के लिए अपराध करने से रोके रखने की भावना है। अब तो अभियोगी के सुधार की भावना (कम से कम सिद्धान्त रूप में) जड़ पकड़ती जा रही है। लेखक का भी दृष्टिकोण प्रायः ऐसा ही है, इसी दृष्टि-कोण से उसने अपराधियों और समाज द्वारा दिये जाने वाले दण्डों का विवेचन किया है।

लेखक ने विभिन्न देशों में दंड के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। उससे मालूम पड़ता है कि समाज मानवता की ओर अग्रसर अवश्य हो रहा है किन्तु बहुत धीरे-धीरे। व्यवहार में तो (विशेष कर हिन्दुस्तान में) तो वैयक्तिक प्रतिशोध की भावना का प्राबल्य है। लेखक ने सुधार गृह की जो आयोजना उपस्थित की है वह करीब-करीब आदर्श है किन्तु वह व्यय साध्य है। जब तक सरकार का दृष्टि-कोण मिशिनरियों की भाँति दया परायण न हो जाय तब तक यह आशा करना कि जेल वास्तविक सुधार घर में परिणित हो जायंगे, दुराशामात्र हैं। फिर भी पुस्तक के बतलाए दो चार सुधार अत्यन्त व्यवहारिक हैं जिनको कि क्रियात्मक रूप दिया जा सकता है। लेखक महोदय विचाराधीन कैदियों के लिए अदालत के निकट अधिक सुविधाजनक जेलखानों के पक्ष में हैं उन्होंने जो आँकड़े दिये हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि बहुत से जेली आदमी केवल सन्देह में पकड़ लिये जाते हैं। दूसरा सुधार जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता अधिक है यह है कि कैदियों से जो काम लिया जाय वह ऐसा ही हो जिसको कि वे जेल के बाहर भी कर सकें। मसलन तेली के बैल की तरह से कोल्हू में जुतकर तेल तैयार करने का काम कोई भी स्वाभिमानी पुरुष पसन्द न करेगा। इसी प्रकार चिक और डलियाँ बनाने का भी काम बहुत से लोग पसन्द न करेंगे।

लेखक महोदय अपराधी जातियों के प्रति उतने उदार नहीं मालूम होते जितना कि वे दूसरे प्रकार के अपराधियों के प्रति हैं। वे उनके बलात डाक्टरी चिकित्सा द्वारा संतान विरोध के पक्ष में हैं।

इस प्रस्ताव का उन्होंने काफी युक्ति-बल के साथ समर्थन किया है किन्तु उनका दूसरा प्रस्ताव इससे कहीं अच्छा है। वह यह है कि अपराधी जातियों के बच्चे घर के वातावरण से अलग कर के रक्खे जायँ। अछूतता को लेखक जातियों को अपराधी बनने का कारण मानते हैं। अपराधी जातियों के आन्तरिक संगठन की विशेष प्रशंसा की है पुस्तक अपने सीमित आकार-प्रकार में काफी उपयोगी है। इसका ज्ञान पुस्तक ज्ञान के ऊपर ही निर्धारित प्रतीत होता है। प्रकाशनारायण जी की पुस्तक में उनके प्रोबेशन आफीसर होने के कारण व्यवहारिक अनुभव का परिचय मिलता है। उसमें विभिन्न जेलों का विवरण भी पाया जाता है और बालकों के अपराध करने के कारणों का भी अधिक ब्यौरा मिलता है। परमेश्वरीलालजी की पुस्तक में सहानुभूति की मात्रा कुछ अधिक है, और उनकी शैली भी प्रभावोत्पादक है। —नवीन नारायण अग्रवाल

डा० श्यामसुन्दर अङ्क—

यह विशेषाङ्क जनवरी में निकलेगा। दिसम्बर का अङ्क उसकी तैयारी के कारण बन्द रहेगा। विशेषाङ्क उन्हीं ग्राहकों को मिल सकेगा, जो दिसम्बर तक ग्राहक बन जायँगे।

—मैनेजर
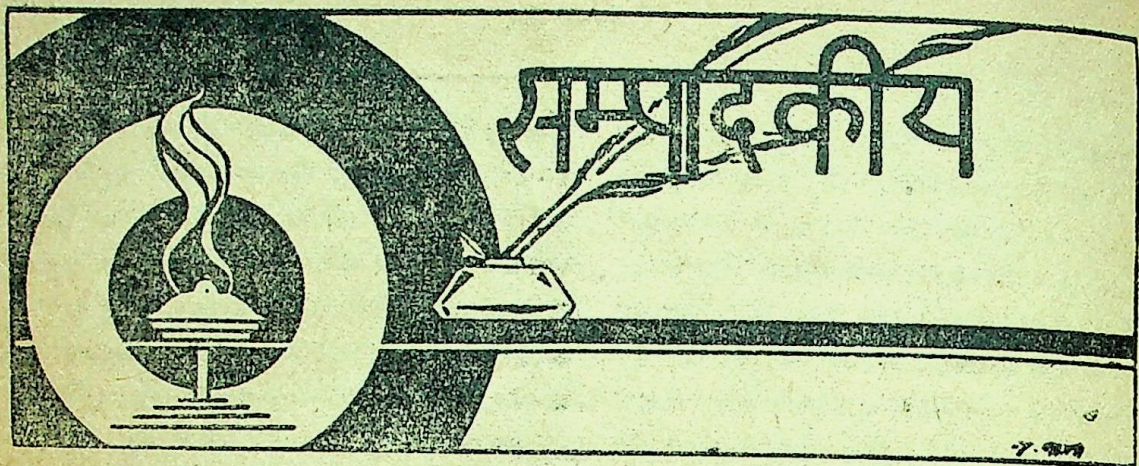
हिन्दी साहित्य सम्मेलन—उदयपुर में १७, १८ १६ अक्टूबर सन् १६४५ को प्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की अध्यक्षता में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ३३ वाँ अधिवेशन बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। जो लोग वहाँ गये थे उनका कहना कि है स्थायी समिति का उत्साह और प्रबन्ध सराहनीय था हमने इसी अङ्क में साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले तीन अभिभाषणों का (सम्मेलन के सभापति मुन्शीजी का, साहित्य परिषद के सभापति डा० रामकुमार वर्मा का तथा कवि सम्मेलन के सभापति श्री दिनकर जी का) अंश उद्धृत किया है, बाकी अंश भी बहुत मूल्यवान है किन्तु हम उसे अपनी संकुचित सीमाओं के भीतर स्थान न दे सके। श्री मुन्शीजी के भाषण में विभिन्न काल के विभिन्न प्रान्तीय कवियों के उद्धरण हैं, वे विशेष रूप से मूल्यवान है। उनके द्वारा उन्होंने हिन्दी का और प्रान्तीय भाषाओं का पारस्परिक सांस्कृतिक-सम्बन्ध तथा शब्द-भण्डार की संस्कृत-प्रधानता दिखाई है और उसी आधार पर उन्होंने हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत से ही प्रेरणा ग्रहण करने का परामर्श दिया है। हिन्दी-उर्दू की समस्या को वे राजनीतिक न बना कर साहित्य के क्षेत्र में लाना चाहते हैं। वे वर्तमान स्थिति में हिन्दी उर्दू का समझौता असम्भव मानते हैं और इसी प्रकार वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि हिन्दुस्तानी हमारे भावों के प्रकाशन का माध्यम बन सके। हिन्दी-उर्दू के समझौते के विषय में उनका मत है कि वह स्वाभाविक कारणों से ही हो सकता है किसी के प्रयत्न से नहीं, वे कहते हैं:—

"जिस दिन मुसलमान और हिन्दू स्वतन्त्र, संस्कार और साहित्य के विषयों में पारस्परिक मान रखकर भागीदारी स्वीकारें उस दिन यह प्रश्न स्वयमेव हल हो जायगा·········भारत की आज की परिस्थिति हिन्दी और उर्दू दोनों के विकास का अवसर है एक न एक दिन दोनों विकसित शैलियों का एकीकरण स्वयमेव होगा। आज होना अशक्य है। इनका समन्वय आज हो जाय और हिन्दू मुसलमान एक भाषा स्वीकारें यह मेरी दृष्टि में शक्य नहीं।

हम मुन्शीजी की इस बात का हृदय से स्वागत करते हैं कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी संस्कृत से ही प्रेरणा ग्रहण करे और इस बात को भी मानते हैं कि एकीकरण की समस्या का तात्कालिक निराकरण हो जाना अशक्य है फिर भी हम विकसित शैलियों के स्वाभाविक समन्वय की शुभ घड़ी को अनन्त-काल तक स्थगित कर देने या खाई को और चौड़ा करते जाने के पक्ष में नहीं हैं। अपनी भाषा का व्यक्तित्व बनाये रखकर हमको उसके विकास की दशा ऐसी बनाना चाहिये कि जिससे वह स्वर्ण दिवस निकट आ सके। हम महात्मा गाँधी के साथ यद्यपि उस सीमा तक जाने को तैयार नहीं है कि समझौते के उद्योग में हम अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर दें फिर भी महात्माजी के दूसरे पक्ष की भावना सराहनीय है। यह देश का दुर्भाग्य है कि दूसरे पक्ष का हृदय परिवर्तन नहीं होता है। कुछ-कुछ 'फूलहि फलहि न बेत' का सा मामला है। इस अंश में मुंशीजी के निराशावाद में शामिल होना पड़ता है। हम मुन्शीजी के कलाकार की स्वतन्त्रता पर बल देने के पूर्णतया पक्ष में हैं। साथ ही इस देश की समस्याओं के प्रति उनके जागरूक रहने तथा 'कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे' की भावना से उन पर अपने ढंग का समुचित प्रकाश डालने की प्रेरणा देने को बुरा नहीं समझते हैं।

मुंशीजी से हमारी आशा—मुंशीजी का व्यक्तित्व महान है और वे साधन-सम्पन्न भी हैं। वे बहुत कुछ कर सकते हैं। निम्नोलिखित कार्यों की ओर ध्यान देने के लिए हम उन से सविनय एवं आग्रह निवेदन करना चाहते हैं। सम्भव है ये बातें उनके ध्यान में भी हों, फिर भी हम उनका ध्यान आकर्षित करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

१—केवल गुजराती का ही नहीं वरन् अन्य प्रान्तीय भाषाओं का भी क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करने का उद्योग करें। इस दिशा में यह सुझाव दिया जा सकता है—

साहित्य-सम्मेलन के अन्तर्गत अन्तर्प्रान्तीय आदान-प्रदान का विभाग स्थापित करें। और सम्भव हो तो प्रयाग में एक अन्तर्प्रान्तीय साहित्य-परिषद् की योजना करें जो निम्नोलिखित विषयों पर विचार करे—(क) पारिभाषिक शब्दों का एकीकरण, (ख) विभिन्न विषयों की विभिन्न प्रान्तों से ऐसी पुस्तकों की सूची तैयार करावे जिनका हिन्दी तथा विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो सके और लेखकगण प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

२—एक ऐसा हिन्दी की विद्यापीठ स्थापित कराये जिसमें कि हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च विषयों का अध्ययन हो सके। साहित्य-सम्मेलन का हिन्दी-विश्व-विद्यालय केवल परीक्षा ही न कराये वरन् अध्यापन का भी उत्तरदायित्व ले।

३—रेडियों के आन्दोलन को बल प्रदान कर अधिकारियों से वार्तालाप का द्वार खोल कर हिन्दी के पक्ष को स्वीकार करायें। जो साहित्यकार बलिदान कर रहे हैं उनकी धैर्य की परीक्षा हो गई किन्तु सम्मेलन इस विषय में अपना उत्तरदायित्व पूर्णतया स्वीकार करे।

डा० रामकुमार का भाषण—यह बड़े सन्तोष की बात है कि डाक्टर साहब साहित्य परिषद् के सभापति होते हुए भी कविता और शब्द चमत्कार के मोह में नहीं पड़े। उनका भाषण साहित्यिकों को अव्यावहारिक होने के लाञ्छन से मुक्त करने में बहुत अंश में सहायक होगा। उन्होंने अपने को देश की समस्याओं के प्रति प्रगतिवादियों की ही भाँति जागरूक दिखाया है किन्तु उसी के साथ प्रगतिवाद में जो दोष है उसका भी उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया है। 'बिना सुरुचि और शालिरय के लिखा गया साहित्य किसी अखबार का संवाद-संग्रह मात्र माना जा सकता है। अतः जब हम आगामी परम्परा के जीवन और कल्याण की भावना से ही साहित्य-का निर्माण करते हैं तो हमें सुरुचि और मानव-मन को आकर्षित करने वाले सौन्दर्य को ध्यान में रखना ही होगा।

हम लोग भी प्रगतिवाद में सौन्दर्य और शालीनता की सदा माँग करते रहे हैं।

वर्माजी ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि प्रयाग विश्व-विद्यालय के प्रत्येक विषय में एक छोटा निबन्ध किसी देशी भाषा में लिखना पड़ता है। इस प्रवृत्ति का हम हृदय से स्वागत करते हैं। ऐसे ही स्नातक अपने ज्ञान का लाभ अपने उन भाइयों को जो विश्व-विद्यालयों की शिक्षा से वंचित रहते हैं दे सकेंगे। हम आगरा विश्व-विद्यालय तथा हिन्दू विश्व-विद्यालय से इस दिशा में प्रयत्नशील होने का अनुरोध करेंगे।

स्वागतम्—स्थानीय सैनिक और नोकझोंक के पुनर्दर्शन प्राप्त करने की हमें बड़ी प्रसन्नता है। सैनिक ने जो त्याग और तपस्या की है वह आदर की चीज है। नोकझोंक का पहला अङ्क पहले से कहीं आकर्षक प्रतीत हुआ। इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का हृदय से स्वागत है।

नये सहयोगी—हाल में ही तीन नई पत्रिकाओं का जन्म हुआ है (१) पारिजात (त्रैमासिक) (२) नया साहित्य और (३) आजकल। पारिजात और नया साहित्य दोनों ही प्रगतिवादी [illegible] लेकर चले है। किन्तु दोनों का ही क्षेत्र कायम है। पारिजात में अपने नाम को सार्थक करते हुए विषयों का विस्तार कुछ अच्छा है। कला, साहित्य इतिहास राजनीति सभी विषयों को लिया गया है। 'आजकल' अर्द्धसरकारी या पूर्ण सरकारी पत्र है। उसमें युद्ध की खबरों के साथ विविध विषयों की जानकारी और साहित्यिक विषयों का विवेचन रहता है। सुना है दिल्ली से एक 'सरिता' भी बही, लेकिन उसमें अवगाहन करने का अवसर अभी हमें नहीं मिला है।

बल-वीर्य

कपड़े धोने का आधुनिक साबुन

पालसन्स

—की—

१० विशेषताएँ

कपड़े की आयु बढ़ाता है।

कपड़े में एक मोहक सुगन्ध पैदा करता है

हाथ की त्वचा को हानि नहीं पहुँचाता।

सभी धार्मिक भावनाओं के लिये पवित्र है।

रंगों को बिगाड़ता नहीं।

मैल को तुरन्त काटता है।

नरम होते हुए भी बहुत कम घिसता है।

विशेष रूप से फेनिल है।

सूर्य-रश्मियों द्वारा कपड़े को चमकदार बनाता है।

शुद्ध रसायनिक द्रव्यों और बनास्पति तेल से बना है।

❀ पा ल स न्स ❀

की

आधुनिक लेबोर्टरी का एक नवीनतम आविष्कार

इसके अनेक गुण आपको मोहित कर लेंगे !

परीक्षा कर लीजिये

किन्तु—

आवश्यकता से अधिक न खरीदिये।

रामचरनलाल ने साहित्य प्रेस आगरा में छपवा कर साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित किया।